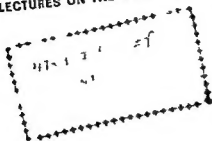


प्लेटो के रिपब्लिक का विवेचन

[Lectures On The Republic Of Plato]

This book is the Hindi Translation of LECTURES ON THE REPUBLIC OF PLATO by Richard Lewis Nettleship and Published by Macmillan & Co Little Essex Street London WC 2 The translation rights were obtained by the Commission for Scientific and Technical Terminology It has been brought out under the Scheme of Production of University level books sponsored by Government of India Ministry of Education & Social Welfare New Delhi

प्लेटो के 'रिपब्लिक' का विवेचन
(LECTURES ON THE REPUBLIC OF PLATO)



लेखक
रिचर्ड ल्युई नैटिलशिप

अनुवादक
गौरी शंकर लहरी



मध्यप्रदेश
हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

प्लेटो के रिपब्लिक
का विवेचन
LECTURES ON THE
REPUBLIC OF PLATO

प्रकाशक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
६७ मालवीय नगर भोपाल

© Macmillan & Co London (English Version)
© Madhya Pradesh Hindi Granth Academy (Hindi Version)

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन
संस्करण १९७३

पुस्तकालय सम्बर्ण मूल्य १२.००
साधारण संस्करण मूल्य १

मद्रक साधना प्रस
लोहिया बाजार खालिदर १

प्रस्तावना

दानिक चिन्तन एवं सामाज्य चिन्तन में मूलतः भेद न होते हुए भी वे दोनों एक दूसरे से सवया भिन्न होते हैं। यद्यपि दोनों के ही प्रक्रिया और निष्पत्ति ऊपर ऊपर से देखने में समान लगते हैं फिर भी इन दोनों में गहरा भेद है। एक तो दान और सामाज्य के चिन्तन के बीच दृष्टिकोण का ही बड़ा अंतर होता है दूसरे दानिक चिन्तन में सत्य के तक सगत रूप की खोज प्रमुख होती है। यदि देखने में दोनों के निष्कर्षों की भाषा में बड़ा अंतर भले न दिखायो दे किन्तु दान में ऐसा महान् सत्य अन्तर्निहित होता है जो प्रायः लोगों को सूझ नहीं पाता। यह भी आवश्यक नहीं है कि दानिक खोज के परिणाम सदा विश्वसनीय ही हों क्योंकि एक ही सत्य की खोज करते करते भिन्न चिन्तकों का भिन्न निष्कर्षों पर पहुँचना भी सम्भव है। सामाज्य सत्य प्रायः सगरी समान रूप से ग्रह्य होता है और उसकी खोज के निष्पत्ति प्रायः समान होते हैं। इस दृष्टि से दानिक चिन्तन का काम कहीं अधिक जटिल और सूक्ष्म है।

और प्लेटो इसी जटिल और उन्नत पथ के पथिक थे। उनके द्वारा उद्घाटित सत्य भी अस्पष्ट और अजनबा लगते हैं। और इसका कारण है—अथ विचारों की आधारभूत धारणाएँ लगभग निश्चित रूप की होती हैं और उनकी शब्दावली का अर्थ पूर्व सन्निहित रहना है। दान में यह सुनिश्चित एव निश्चित सीमा तक ही रहनी है। उनके प्रतिपाद्य विषय होते हैं—मानवीय ज्ञान और चरित्र। इसका शब्द भण्ण बहुत कुछ लाक्षणिक रहता है। इसलिए हम प्रायः दान ग्रन्थों के व्यक्तियों को सही अर्थ में ग्रहण नहीं कर पाते। प्लेटो के रिपब्लिक के विषय में यह और भी अधिक सही है। प्लेटो के रिपब्लिक का नाम कुछ भ्रामक है। यद्यपि ग्रन्थ का विषय विषय है—मानवजीवन, मानव-आत्मा और मानव प्रकृति, किन्तु ग्रन्थ का नाम देकर ऐसा लगता है जैसे वह राजनीति शास्त्र का ग्रन्थ हो। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है—‘पाप अघात नहि—दान’। ग्रीक भाषा में ‘पाप शब्द’ सद्गुण का अन्तर्गत पर्याय है। ‘पाप शब्द’ पारस्परिक व्यवहार में प्रकट होनेवाले समस्त मनुष्यों का बोधक है। इस तरह यह ग्रन्थ उत्तम जीवन के निर्वाह की रीति व्यक्त करता है। ऐसे जीवन का निर्माण और निर्वाह सुव्यवस्थित जन समूह के बीच ही सम्भव हो सकता है। इसलिए ग्रीक लोग मुगटित नागरिक समूह को श्रेष्ठ तत्त्व व्यवस्था का व्यक्त रूप मानते थे। इस प्रकार श्रेष्ठ मनुष्य की

जीवन-व्यवस्था मनुष्य समाज की जीवन व्यवस्था से सवधा अभिन्न मानी जानी थी। इसलिए रिपब्लिक में प्लेटो ने मानव आत्मा के जिस उत्कर्ष और अवकर्ष का विवेचन किया है वह समाज के उत्कर्ष और अपकर्ष का भी बोधक है। ग्रीक दार्शनिक 'यष्टि' और 'समष्टि' के प्रदत्तों को अलग-अलग नहीं देखते थे जसाकि आज हम देखते हैं। इसलिए हम समझें कि ग्रीक दार्शनिकों—और प्लेटो ने भी—अनेक स्थानों पर अपनी बात को बहुत उलथा दिया है। किन्तु यदि हम उसकी पष्ठ भूमि को हृदयङ्गम कर लें तो यह कठिनाई दूर हो जायगी।

प्लेटो के रिपब्लिक की दूसरी विशेषता है—उसकी सम्वादात्मकशली। मुकरात से लेकर अरस्तू तक की रचनाओं में इसी गली का अनुसरण किया गया है। इस गाल के ग्रीक साहित्य में यही गली लोकप्रिय थी। वस्तुनिष्ठ यथार्थवादी साहित्य लेखन के लिए, उस समय यही शली अधिक उपयुक्त मानी जाती थी। इसमें स्थान स्थान पर नाटक तत्त्व के भी दर्शन होते हैं। हाँ, विषय प्रतिपादन के साथ साथ यह नाटक तत्त्व धीरे धीरे कम होता जाता है। रिपब्लिक की तात्त्विक पद्धति भी उसकी अपनी है। इसमें लेखक पहले सिद्धांत को अपने मन में स्थित करता है फिर उसके प्रतिपादन के लिए तथ्यों का उपयोग करता है। इसमें यह प्रचलित विचारों को लेकर मन की जाँच परख भी करता है और छान छान कर सत्य को ग्रहण करता जाता है। इसमें सिद्धांत का निर्माण और उसका अनुप्रयोग साथ साथ चलता रहता है।

'रिपब्लिक' दिव्य का अत्यंत प्रतिष्ठित ग्रंथ है। समय के बदलते प्रतिमानों के बीच भी इसका मूल्य स्थिर रहा है। ऐसे सुन्दर ग्रंथों को हिन्दी के पाठकों को समर्पित करते सचमुच प्रसन्नता होती है। यह भी सतोष का विषय है कि इस ग्रंथ के अनुवाद की भाषा में मौलिक रचना जसा प्रवाह है और एतदर्थ इसके अनुवादक श्री गौरीशंकर लहरी सचमुच बधाई के पात्र हैं।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

(डा० प्रभुदयालु अग्निहोत्री)

सचालक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी

अनुक्रमणिका

| | पृष्ठ |
|---|-------|
| १ प्रावकथन | १ |
| २ 'याय सम्बन्धी प्रमुख मतों का परीक्षण | १० |
| ३ 'रिपणिक' के मूल प्रश्नों का विवरण | ३६ |
| ४ समाज तथा मानवी प्रकृति के प्रधान तत्त्वों का निर्देशन | ५३ |
| ५ शासकों के प्रारम्भिक जीवन की शिक्षा | ६१ |
| ६ आदेश राज्य में प्रशासन के सिद्धान्त | ६६ |
| ७ 'याय' के मूलस्रोत का निर्देश | ११० |
| ८ साम्यवाद और मुद्रोपयोग-सम्बन्धी उत्क्रम | १२४ |
| ९ दान तथा राज्य | १४१ |
| १० ज्ञान का सर्वोपरि लक्ष्य | १६४ |
| ११ प्रज्ञा की चार अवस्थाएँ | १८३ |
| १२ विज्ञान तथा दान की शिक्षा | १६६ |
| १३ समाज और आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्थाएँ | २२६ |
| १४ 'यायनिष्ठ' तथा अ-यायी जीवन की तुलना | २४३ |
| १५ काय विषयक उत्क्रम | २६० |
| १६ आत्मा का मानवी जीवन | २७२ |

प्राक्कथन

यद्यपि 'रिपब्लिक' में काव्य तथा धर्मोपदेश के कुछ लक्षण मिलते हैं, तथापि मूलतः वह दार्शन ग्रन्थ है। इसलिए उसका अध्ययन करते समय दूसरी सभी बातों के अलावा हमें उसकी तब प्रणाली, व्यवस्था तथा विचारों में परस्पर सम्बन्ध-सूत्र पर ही ध्यान देना चाहिये। दार्शनिक (दार्शनिक) ऐसा मनुष्य है जो अज्ञान मनुष्यों की अपेक्षा विचार-शक्ति में अधिक सम्पन्न होता है। उसने हमारे लोग की तुलना में उन विषयों पर अधिक चिन्तन किया है जिसमें सभी का समान हित जुड़ा है। समस्त दार्शनिक गुण-दोष विवेचक ही होना चाहिये। तथ्या की परख करने के फलस्वरूप, दार्शनिक जिन निष्कर्षों तक पहुँचता है, वे निश्चित ही उसके समय में प्रचलित विचारों से भिन्न और बहुधा विपरीत होते हैं। सच मुच बहुत बार उसके निष्कर्ष साधारणजन के विचारों से अलग नहीं लगते। फिर भी दार्शनिक और सामान्य जनों के बीच दृष्टिकोण का बहुत बड़ा अंतर बना ही रहता है। कारण स्पष्ट है। दार्शनिक सहज जाने माने तथ्यों को लेकर घबरा नहीं करता है और साधारणजन की भावनाओं के समान निष्कर्ष पर भी पहुँचता है। लेकिन निष्कर्ष तक आते-आते एक चिन्तन-प्रणाली का उपयोग करके, वह सत्य के तकसंगत रूप को प्रस्तुत करने में सफल हो जाता है। ऊपर ऊपर देखने से दार्शनिक का सत्य, चालू सत्य जैसा लगता है, उसका सत्य भी प्रायः उसी भाषा में पेश होता है जिसमें कोई भी दूसरा आदमी उसे व्यक्त कर सकता है। किन्तु दार्शनिक की दृष्टि में, वह सत्य बिलकुल निराला हुआ करता है क्योंकि उसमें ऐसी बड़ी बात का समावेश हो जाता है जो बहुतों लोगों को नहीं सूझ पाती। चाहे जो स्थिति हो हम दार्शनिक की चिन्तनात्मक पृष्ठभूमि का मानकर ही चलना पड़ेगा, भले ही उसके हाथ लगे परिणामों पर हम विश्वास करें या अविश्वास।

इसलिए उसका परिणामा को भला-बुरा कहने के पटन हम यह परखना चाहिये कि वह किस तरह उन तक पहुँचा है।

इस ढंग से रिपब्लिक का अध्ययन बठिन है। प्लेटो के विचार बहुधा इस तरह प्रकट होते हैं कि हम के अटपटे और नय जान पड़ते हैं। वैसे यह कठिनाई कुछ हद तक दान-शास्त्र के समूचे अध्ययन में रहती है। ज्यादातर लोग जसा सोचते हैं उनमें विलकुल अलग तरह के विचार प्रस्तुत करने की पद्धति में दशम शास्त्र दूसरे विविष्ट विज्ञानों से तनिक भी भिन्न नहीं है। एतना ही है कि अथ विज्ञान अपनी आधारभूत धारणाओं को लगभग निश्चित रूप में स्थिर पाते हैं उनकी ना-सबली के अथ सट्टन ही ग्रहण किया जा सकते हैं अथवा उनका अभ्यास सरलता से किया जा सकता है किन्तु दान शास्त्र में यह सुविधा नहीं है। इसका कारण यह है कि दान का प्रतिपाद्य विषय अथ शास्त्रों की तुलना में सामान्यधर्मी होता है। उस मुख्यतः मानवी ज्ञान तथा मानवी चरित्र के तथ्या से सरोकार होता है और इन विषयों का कोई निश्चित अथवाही शब्द भण्डार नहीं हो सकता। कई बार प्लेटो और दूसरे यूनानी दशनशा के बक्तव्या का महत्त्व समझने में हम चूक जाते हैं और सिर्फ इसलिए कि वह बहुत सीधे-साधे ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसका अन्वय रिपब्लिक के अध्ययन में कुछ पास अडचनें हैं जो उसकी शली और विधा के कारण पदा होती हैं। प्रत्येक महान ग्रन्थ के अपने विशेष लक्षण हुआ करते हैं जिनका अध्ययन एक मनुष्य चरित्र के समान करना जरूरी रहता है।

पहले यही देखें कि रिपब्लिक का विषय क्या है? नाम से लगता है कि यह राजनीतिक दशन का ग्रन्थ है, लेकिन बहुत जल्दी पता चलता है कि नैतिक दशन इसका विषय है। (‘याय क्या है?’ इसी प्रश्न से ग्रन्थ का आरम्भ होता है। ग्रीक भाषा में सत्गुण के लिए जितने शब्द हैं उनमें से ‘याय’ सबसे व्यापक तथा विशद अर्थवाची है। अस्तु मानता था कि मनुष्य के परस्पर व्यवहार में प्रकट समूचे सदगुणों का बोधक ‘न्याय’ शब्द है।) यह ग्रन्थ मानव जीवन और मानवात्मा अथवा मानव प्रकृति का विवेचन करता है। प्लेटो के अनुसार उत्तम जीवन का निर्वाह कैसे हो—यही इस ग्रन्थ का मूल प्रश्न है। तब इस रिपब्लिक नाम से पुकारने का अभिप्राय क्या है? प्लेटो की धारणा है कि कवन सुसंगठित समवाय (जनमण्डल) के भीतर ही मानव जीवन का कुशल निश्चित है। मनुष्य जीवन सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण तथ्या में प्लेटो के लिए यह एक प्रमुख तथ्य था। ग्रीक जाति नागरिक समवाय (जनमण्डल) को

जीवन-व्यवस्था का श्रेष्ठ स्वरूप मानती थी। अनएव श्रेष्ठ जीवन क्या है—यह प्रश्न उसकी दृष्टि में मनुष्य समाज की श्रेष्ठ व्यवस्था अथवा संगठन से अभिन्न है। इस तरह रिपब्लिक' का विषय बहुत व्यापक है। जब आधुनिक आलोचक इस ग्रंथ में इतनी विविध सामग्री पाता है तब उसे लगता है कि प्लेटो ने सवधा स्पष्ट प्रश्ना को उलझा लिया है, ऐसा है नहीं। रिपब्लिक' में प्लेटो मानवात्मा के उत्थान-गतन का—उसके उच्चतम विवास तथा उसकी अवनति की निम्नतम स्थिति का आदर्श चित्र अंकित करता है। इस मूल्यांकन में उसने मानव चरित्र या मानवात्मा की समग्र प्रकृति के प्रत्येक तथ्य का हिसाब लगाने की चेष्टा की है। आधुनिक सम्बन्ध मूल हम यह आशा करने का उक्ताते हैं कि ऐसे स्पष्ट रूप से नीति शास्त्र अथवा राजनीति का ग्रंथ माना जाय। उनका आग्रह है कि मनुष्य के सम्बन्धों की दृष्टि से नागरिक मानकर ही उस विचार का विषय होना चाहिये अथवा सीधे उसे एक नैतिक व्यवस्थापन समझा जाय। शूवि ग्रीक दार्शनिक इन दो प्रश्नों को पृथक् पृथक् नहीं देखते थे, इसीलिए अवसर कहा जाता है कि उन्होंने इसको उलझा दिया है। सच तो यह है कि वे मानव जीवन को आज के लोगों के अभ्यास से अलग अधिक सहज और अधिक समग्र दृष्टि से परखने में निपुण थे। माना कि हम प्रश्न हैं जिनको हम नैतिक अथवा राजनीतिक श्रेणियों में बाँटकर ही परख सकते हैं किन्तु ग्रीक विचारकों ने यह भेद नहीं माना। अगलियत यह है कि जसा जीवन वे सचमुच व्यतीत करते थे उसमें इतनी भेद-बुद्धि नहीं पनपी थी जितनी हमारे आचरण में आज आ गयी है। आज कानून प्रथा और धर्म को हम अपने व्यवहार में अलग-अलग प्रकार की विनिष्ट वस्तु मानने लगे हैं उस युग में ऐसा भेद था ही नहीं।

प्रधान विषय के साथ-साथ रिपब्लिक' में अनेक प्रसंगगत तथा गौण विषया का भी समावेश हुआ है। इसमें उस समय की विद्यमान सत्स्थाव्रा रीति-रिवाज और मम्मनिया की आलोचना बहुत बड़े परिणाम में मिलती है। इस केवल दर्शन-ग्रन्थ ही नहीं बल्कि सामाजिक तथा राजनीतिक परिष्कार की कृति मानना चाहिये। इसकी रचना उस मनुष्य की भावना से स्फूर्त हुई है जो केवल मानव जीवन के चिन्तन में ही निरस्त नहीं था बरन् उस सन्तोषित और क्षान्ति प्रेरित करने के लिए प्रयत्न के साथ आग्रही था। यही तथ्य प्लेटो के लगन को विविध ढंग से रोचक तो बनाता है परन्तु उसकी दार्शनिक-मूल्य निष्पत्ति और समय का विवृण्वन कर देता है। उसकी दृष्टि निरन्तर अन्तुम कृत्यों की ओर जा रही थी

खींचती हुई लिखन में जुटी रहती है। अरस्तू इस मामले में उससे कोसा दूर है।

इसके बाद पुस्तक की विधा पर विचार कर लेना चाहिये। प्लेटो अनेक की यह खूबी नहीं थी कि उसने अपने अनुमान को सम्वाद की गली में प्रस्तुत किया। सुवरात के कई शिष्या न सम्वाद लिखे हैं और अरस्तू व युग तक यही परिपाटी बनी रही। यथायत उस युग के सामान्य साहित्य-लेखन में इसी परिपाटी का आश्रय लिया जाता था। इसलिए ग्रीक दर्शनज्ञ इसे सहज भाव से अपना लेते थे। आधुनिक साहित्य की तुलना में ग्रीक साहित्य निश्चय ही कम व्यक्तिक था—उदाहरणार्थ, ग्रीक नाटक हमारे युग की अपेक्षा कम आत्मपरक हैं। लेकिन ग्रीक साहित्य कहीं अधिक यथायवादी था। आधुनिक इतिहास ग्रन्थों से मिला कर देखें तो थुसीडाईडीज के इतिहास में व्यक्ति विशेष के परिचय सम्बन्धी व्योरे में और घटनाओं पर सामान्य विचार विमर्श का अभाव है। इतिहासकार के मतमन को थुसीडाईडीज न वास्तविक पुरुषों के मुख में काल्पनिक भाषणा का रूप देकर प्रस्तुत किया। इस मामले में हम पाते हैं कि आज के साहित्य में भाव तथा सिद्धांत के विवेचन और व्यक्ति तथा चरित्र के चित्रण का जो भेद प्रचलित है उस युग में इस प्रधानता नहीं मिल पायी थी। यही कारण है कि प्लेटो ने कुछ समकालीन कुछ विगत पीढ़ी के अनेक वास्तविक व्यक्तियों को कुछ सावजनिक मनुष्यों और अपने मित्रों में से कुछ लोग चुनकर उन्हें अपनी दृष्टान्तगत सम्मतियों तथा विचारों का प्रवक्तक बनाया। उसने इनका उपयोग सामान्यजन मानकर नहीं किया। इन पात्रों का चयन इसीलिए किया गया क्योंकि सम्वाद में जो प्रतिपान्ति हुआ है उसका कुछ सत्य सचमुच इन लोगों के आचरण में निहित था। और बहुधा इन व्यक्तियों की नाटकीय संगीत तथा सजीवता के साथ चित्रित किया गया है। फिर भी ऐतिहासिक सत्य की रसीभर परवाह न करके इन्हें बरता गया है। (ऐतिहासिक सत्य बोध आधुनिक काल का लक्षण है। उसका अभाव प्राचीनता का चिह्न है और प्लेटो तथा अरिस्तोफेस दोनों में यह मिलता है।) या समझिये कि एक ओर सम्वादक पात्र निश्चित सिद्धांतों की सहज श्रेष्ठ अभिव्यक्ति के प्रतिमान होते हैं तो दूसरी ओर उनके यथाय चरित्र का बहुतेरा अंश उनसे शाकता रहता है। प्लेटो के अनुरूप सम्वाद-लेखन की विधा आज तो असम्भव ही है। हमें ऐसा लेखक चाहिये जो सिद्धांतों के विवेचन तथा चरित्रावन के भेद को स्वतंत्र मानकर चने यदि पात्र वास्तविक हैं तो उनका चित्रण प्रमुखतः ऐतिहासिक हित को ध्यान में रखकर किया जाये और अगर वे कल्पनात्मक हैं

तो मूलतः उनको नाटकीय हित से अन्तित करना चाहिये। नियम तो यह है कि जब भी आधुनिक दार्शनिक सम्वाद गैली का आग्रह सेते हैं, जसा वकले ने किया तब वे अपने पात्रों को चरित्रात्मक करने का यत्न नहीं करते। अंग्रेजी साहित्य में प्लेटो की सम्वाद विधा का अष्ट उपमान बनपन की रचना में मिलता है। प्लेटो के विभिन्न सम्वादों में नाटक-तत्त्व अलग-अलग भागों में मिलता है। उसका 'प्रोतागोरस' (Protagoras) सब तरह का पूर्ण दार्शनिक नाटक है और इथोडेमस दार्शनिक प्रहसन। बाद में लिये गये सम्वादों में नाटक-तत्त्व कम होता गया, तथापि उन सबको सच्चे अर्थ में सम्वाद मानना चाहिये—केवल 'न्याय' (Laws) को छोड़कर जिसमें सम्भाषण नाममात्र है और 'टिमैयस' (Timaeus) में तो व्याख्या के निर्वाह में वार्त्तालाप की विधा ही छोड़ दी गयी है। 'रिपब्लिक' में भी जैसा-जैसा विषय का प्रतिपादन आग्रह बढ़ता जाता है उसे वही उसका नाटक तत्त्व घटता जाता है, बीच-बीच में भले ही वह फिर भी उठे।

प्लेटो का सम्वाद प्रणाली सामान्यतः ग्रीक साहित्य की अन्य प्रवृत्तियों का अनुकूल होने हुए भी दर्शन के इतिहास में उसका अनुसरण का विशेष कारण है। सम्वाद विधा का एक सम्भार अभिप्राय है। स्वयं सुकरात दर्शन विषयक सम्वाद का आदि-स्रोत थे जिनमें ग्रीक दर्शन का, प्रकृति के अनुसन्धान से स्वतन्त्र रूप में वस्तुतः आरम्भ होता है। वे जीवन भर वार्त्तालाप करते रहे। उनके जीवन की प्रेरणा प्लेटो का सम्वादों की विधात्री है। दर्शनियों में सुकरात अद्वितीय हैं क्योंकि वे वैसा ही जिय, जगा उसका दर्शन था। जो उन्हें कहता था, उसे पुस्तक में नहीं अपने जीवन-व्यवहार में उतारने प्रवृत्त किया और अपने भावों की रूपरेखा को दूसरों के मते सम्पर्क से भी घोर निष्कार और सम्बंधित किया। यह सुकरात की ही अद्भुत प्रतिभा थी कि इतना सब इस ढंग से उतारने कर दिया था। वह ऐसा पुण्य था कि जहाँ भी वह गया, जिस किसी से भी मिला प्रत्येक स्थिति में उसकी प्रमुखा प्रदर्शित हो उठती थी। तब उसके सम्बंध में यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन एक जीवन्त वस्तु है जो सजीव मस्तिष्क के सम्पर्क में आकर प्रस्फुटित हुआ है। आदतन हम मानकर चलते हैं कि दर्शन कुछ ऐसा विषय है जो नितान्त व्यक्तिवहीन और दुर्बोध है। लेकिन बल इसी सचार्थ में है कि मावी स्वभाव की किसी निश्चित वस्तु का वर्णन ही समग्र दर्शन विधा का अभीष्ट है, उसमें जितने भेदाभेद मिलते हैं, वे मानव प्रकृति के मूल में निहित भिन्नता के चोतक हैं। यह है कि जब दर्शन विधा सारसग्रह रूप में प्रचलित हो जाती है तब अधिकांश लोग उसकी भाषा दुर्बोध लगती है। एक बार प्रथम प्रकाशित हो गया

तो लेखक अपने पाठकों के निवृत्त सम्पर्क में न रहने के कारण उनका सहायक नहीं बन सकता और अपने मतों व अनर्थ को रोकने में असमर्थ रहता है। सुकरात और दशन के आधुनिक लेखक के बीच प्लेटो एक बड़ी व समान है। उसने सजीव दशन विधा का लिखित शान्तराशि में अगुण्ण रहने का प्रयास किया है। वह मनुष्य स्वभाव व ऐस रूप खड़े करता है जो उसका पाठकों को यूनाधिक मात्रा में परिचित लगत हैं और इही पात्रों के जरिये सहज प्रश्नोत्तर द्वारा वह अपने भाव खोलता है। प्लेटो की सम्वाद-शैली का साहित्यिक प्रयोजन आधुनिक साहित्य में नाना प्रकार की श्रुतियों में बिखर गया है। विशेषतः दशन ग्रन्थों और उपन्यासों में जहाँ पात्रों व जीवन में घूट होकर भाव पतपते हैं।

इसके अतिरिक्त प्रश्न तथा उत्तर प्लेटो की दृष्टि में सत्य की खोज के लिए स्वाभाविक शैली है। ग्रीक दशन के सदैवतनिक शिक्षकों की कूटतक-पद्धति के विपरीत प्लेटो अपनी शैली को निरन्तर प्रयुक्त करते रहे क्योंकि उन कुतर्कों शिक्षकों के उग्र प्रवचन अथवा कोरे उपदेश में निष्प्रभावी दग्गडम्बर के सिवा था ही क्या? इस प्रकार प्रश्नोत्तर पर ही उसका आग्रह क्या था? कारण है कि सत्य की खोज एक क्रमानुगत प्रक्रिया ही होनी चाहिये ताकि हर कदम पर हम स्वयं यह प्रतीति कर सकें कि हम किस निश्चित मत बिन्दु पर पहुँचे। यह उपलब्धि प्लेटो की सम्वाद शैली से होती है जहाँ दो या अधिक व्यक्तियों की सहमति से निष्पत्ति का प्रत्येक ढंग स्थिर किया जाता है। सिद्धांततः यह तरीका हमारा इसी ढंग का रहेगा यद्यपि जरूरी तब है कि दो व्यक्तियों के विवाद का आश्रय लेकर ही दशन अग्रसर हो। जो व्यक्ति सचमुच चिन्तन करता है वह अपने आप से प्रश्न करके अपने भाव स्थिर करता चलता है और प्रश्नों द्वारा ही उन भावों की परख भी करता है। असल में चिंतक अपने साथ उसी तरह व्यवहार करता है जिस तरह सुकरात दूसरे लोगों से किया करता था। सम्वाद में दो या अधिक मस्तिष्क घूट होकर सत्य की खोज में जुट जाते हैं और एक आशय दूसरे के संयोग से सत्य को प्रकाशित करता है। आधुनिक दशन ग्रंथ में सम्वाद शैली के इस पहलू का स्थान आलोचना ने न ले लिया है जो परस्पर विरोधी अभिप्रायों को उलट पलट कर सत्य की प्रतिष्ठा का यत्न करती है।

सम्वाद पद्धति व साथ साथ हमें प्लेटो की इस विशेषता का भी ध्यान रखना चाहिये कि अपने विचारों को विचित्र ढंग से प्रस्तुत करना उसका स्वभाव ही है। रिपब्लिक के द्वितीय अध्याय का उदाहरण तीर्जिये। वह जब वर्तमान समाज में बरते जानवाले सिद्धांतों का विश्लेषण करने लगता है तो उनका

प्रदान वह इस तरह करता है कि वे ऐतिहासिक रेखा बिना जैसे दिखान लगने हैं। पहले वह एक ऐसे राज्य का वर्णन करता है जिसके गठन का एकमात्र लक्ष्य जीवन की आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करना है और बाद में वह उस एक भागपरायण राज्य में बदल देता है। प्लेटो जानता था कि राज्य की इन दोनों पद्धतियों के लक्षण तत्कालीन एथेन्स के जन जीवन में प्रकट हुए थे और उन्हें उसने आत्मसात किया था।

ग्रन्थ के अष्टम तथा नवम अध्यायों में यह सिलसिला अधिक स्पष्ट है। यहाँ प्रगति की तकयुक्त अवस्था में वह पाप अथवा दुःख के नाना रूपा को विचित्र करना चाहता है। इसीलिए वह एक के बाद एक पाँच पात्रों तथा राज्यों को चुनकर उनका इस प्रकार वर्णन करता है जैसे एक में से दूसरे का विकास इतिहास की सहज प्रक्रिया हो। अपने लेखन का अधिक सजीव बनाना इस प्रवृत्ति का फल होना चाहिये परन्तु इसमें भ्रामक विचार पनपते हैं तथा अनावश्यक दोष मढ़ने का अवसर बनता है। 'रिपब्लिक' में प्लेटो का एक विचार, तत्कालीन व्यवस्था में दूसरे का अनुगमन करता है लेकिन जिस नाटकीय अथवा विचित्र माध्यम से वह अपने विचारों का सतत प्रस्तुत करके चलता है, उससे ग्रन्थ का तकयुक्त गठन कुछ का कुछ ही जाता है।

'रिपब्लिक' की तार्किक-पद्धति परिचर्चा का अनुरूप ही है। जितने तथ्य मिल सकते हैं उन सबका एवज करके बाद में उस सिद्धांत स्थिर करने की चेष्टा वह नहीं करता। तथ्य तो ग्रन्थ में भरे पड़े हैं परन्तु पहले से अपने मन में स्थिर सिद्धांतों को प्रतिपादित करने के लिए ही वह उन तथ्यों का उपयोग करता है। वह सिद्धांत प्रस्तुत करके उनमें निष्पन्न तक पहुँचने का प्रयास भी नहीं करता। वह गुरु में अनुपपन्न के स्वरूप की एक निश्चित धारणा को व्यक्त करता है और फिर उसके कल्पित भावी जीवन का चित्र खींचने में लग जाता है। ऐसा करते समय वह लगातार उन सिद्धांतों का अनुसरण करता है, जिन्हें उसने समझाया ही नहीं, मगर जिनका आशय लेकर ही वह बहुत दूर तक चर्चा करता रहा। मानवी जीवन-सम्बन्धी परिचित मायताओं से वह अनुपपन्न के स्वरूप का चित्र बनाना शुरू करता है और धीरे धीरे जीवन के अन्त में सहे तत्त्वों को उसमें जोड़ता है। इसी के साथ वह प्रचलित विचारों को अपनाता और जाँचता परखता चलता है। इस प्रक्रिया में वह सत्य को छानकर रखता है असत्य का झटक देता है। तक की प्रेरणा अथवा निगमन में से किसी भी पद्धति से उसकी शक्ती को सम्बाधित नहीं किया जा सकता। उसकी प्रणाली 'जननी-मौल' अथवा

रचनात्मक' है। सिद्धांत का निर्माण और उसका अनु प्रयोग साथ-साथ चलना रहता है।

इस तबविधि का अनुशीलन आरम्भ करने के पूर्व उसके मुख्य विभागापर हमें उचित ध्यान देना चाहिये जो इस प्रकार हैं

१ प्रथम तथा द्वितीय अध्याय यह प्रावचन मात्र है। इसमें मानव-जीवन सम्बन्धी कई चुन हुए अभिप्रायों का परीक्षण किया गया है और हमारे समक्ष वह समस्या आती है जिसका हन, रिपब्लिक' प्रस्तुत करता है। उस समस्या का स्वरूप इस प्रकार बनता है। हम मानते हैं कि कुछ नतिव सिद्धांत हैं जिनका पालन करना जीवन में आवश्यक है परन्तु जो कुछ हम सचमुच देखने मिलता है वह हमारी मायता के विसकुल विपरीत होता है। हमारा अनुभव है कि जिसे साधारणतः जीवन की सफलता कहना चाहिये, वह नतिवता पर निर्भर होकर नहीं मिलती। इस विरोध का बोध जो माँग करता है, उसकी परिणति प्रावचन में होती है। बतलाइये कि वस्तुतः नतिवता क्या है? (उसके आन्तरिक और संयोगजनित परिणामों को छोड़ कर) यह खुलासा करने से ही इस प्रश्न का उचित समाधान होगा कि जिसके अंतःकरण में नतिवता है उसके भीतर वह किस प्रकार सक्रिय हुआ करती है। मनुष्य के अन्तर में नतिवता का क्या आगम्य है? यह प्रश्न रिपब्लिक के कदमगत विचार का सूत्र है।

२ द्वितीय अध्याय में चतुर्थ अध्याय के अंत तक इस खण्ड में प्लेटो ने अपनी कल्पना के अनुरूप मानव समाज की रूपरेखा दी है। इसी समाज की संस्थाओं में 'माय' का प्रथम उद्देश्य खोजा जा सकता है। उसके अनुसार मानव प्रकृति की आवश्यकताओं पर ही इन संस्थाओं को आधारित किया गया है। समाज एक समवाय (जनमण्डल) है जिसके जीवन में मानवी प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व उचित ढंग से अपना सहज क्रिया क्षेत्र पाता है और इसी प्रक्रिया में 'माय' रहता है। इस खण्ड में जिस बाह्य-संगठन का विवरण है उसका महत्त्व केवल इसी बात में है कि मनुष्य के आन्तरिक जीवन को वह अभिव्यक्ति देने का साधन है। आशय यह है कि राज्य में जीवन की व्यवस्था से आरम्भ कर और उसके प्रत्येक अंग में समवाय (जनमण्डल) के योग क्षम का आधारभूत सिद्धांत खोजकर प्लेटो मानव स्वभाव की रचना में सक्रिय इस सिद्धान्त के मूल तब पद्धति का यत्न करता है।

एसी व्याख्या न वह सिद्ध करता है कि समाज के मूल संगठन में जितना 'अनुभूति' है वह मानवात्मा की आंतरिक प्रकृति पर टिका हुआ है।

३. पंचम अध्याय से सप्तम तक आदेश समाज की समस्याओं व कुछ लक्षणों पर और चर्चा करके प्लेटो इस ग्रन्थ के प्रमुख भाग में इस आदेश की सावधान बनाने का उपाय का प्रश्न उठाता है। उत्तर में कहा गया है कि मनुष्य जीवन अपनी सामर्थ्य की सीमा तक पूर्ण बन सकता है बल्कि वह लगातार ज्ञान के अनुशासन में बने। समूचे विद्यमान अनुभूति या वृत्तियों का कारण यह है कि मनुष्य अपनी वासनाओं तथा पूर्वग्रहों के बन्धीभूत होकर अपने जीवन की सहज विधि से विमुख हो जाते हैं। प्लेटो इसे अपने ढंग से यो व्यक्त करता है कि यदि आदेश की प्राप्ति तथा आज के अनुभूति का अन्त सम्पन्न है तो राज्य पर दशक का शासन होना चाहिये। (द्वान से उसका अनिर्वाह है—उत्कृष्ट ज्ञान और नितान्त महत्त्वपूर्ण विषयों का परिपूर्ण बोध।) इन अध्यायों में वह दो बातों के प्रतिपादन में व्यस्त है। एक तो यह कि समस्त अनुभूति, मानव प्रकृति की उस अपूर्व मूल्यवती क्षमता की अस्पष्टता और क्षति से प्रलित होता है जिसके यत्न पर सत्य की उपलब्धि की जा सकती है। दूसरे, वह उन साधनों की खोज करता है जिनमें सत्यमित होने पर यह क्षमता मानव-जाति के परम कल्याण का निमित्त बन सकती है।

४. अष्टम तथा नवम अध्याय जिस तरह विगत अध्याय मानव जीवन के उत्कर्ष का चित्र हमारे समक्ष रखते हैं उसी प्रकार इन अध्यायों में मानवीय अनुभूति का आदेश प्रतिवृत्ति प्रस्तुत होती है। बताया गया है कि समाज और मानव प्रकृति का पतन कितनी निम्नतम गहराई तक पहुँचने में समर्थ है। इन प्रश्नों में प्लेटो उस सिद्धान्त की अपनी धारणा को आगे परतता और निवारण है जिसके अनुशीलन पर मानव-कल्याण निर्भर है। इसी के साथ वह सिद्ध करने में लगा है कि वर्णित सिद्धान्त की अवहेलना से ही सार अनुभूति में और फल जन्म लेते हैं।

५. दशम अध्याय 'रिपब्लिक' का यह भाग बिल्कुल अलग है। इसमें दो परस्पर सम्बन्धरहित सङ्घ हैं। प्रथम अध्याय में कला विषय, विनोद काव्य का फिर से विचार हुआ है यद्यपि यह तृतीय अध्याय में पहले ही किया जा चुका था। दोप आधे भाग में प्रधान विषय पर विचार किया गया है जिसमें मानवात्मा की क्षमताएँ और उसके गतव्य सद्यः की विवेचना के साथ मरणोत्तर काल तक शुद्ध आत्मा का अनुसन्धान सम्मिलित है। ○○

न्यायसम्बन्धी प्रमुख मतों का परीक्षण

‘रिपब्लिक’ के प्रथम अध्याय और केवल इसी अध्याय की रचना तथा व्यवस्था प्लेटो के पूर्वगत सम्वाद अर्थात् सुकराती सम्वाद के समानांतर है। जसा द्वितीय अध्याय के शुरू में ही कहा गया है, यह अध्याय ग्रन्थ के शेष भाग की प्रस्तावना के समान उपयोगी है। इसमें नतिवृत्ता के कतिपय माय विचारों को अनेक प्रकार के व्यक्तियों का मूलरूप देकर प्रस्तुत किया गया है। यदि आधुनिक ग्रन्थ में इनको रखा जाता तो यह भावात्मक रूप मिलता। हम पहले यह देखने का यत्न करना चाहिये कि प्लेटो इन व्यक्तियों के माध्यम से कितने प्रकार के चरित्रों को प्रस्तुत करने का अभिप्राय रखता था।

प्लेटो का सम्वाद म सुकरात सदव सच्ची दशन भावना का प्रतिनिधि रहता है परन्तु यह दशन भावना भी विभिन्न रीति से विभिन्न सम्वादों में अपने स्वरूप को प्रकट करती है। इस अध्याय में इसका स्वरूप आलोचनात्मक भावना बनकर उभरा है जिसका किसी भी तरह से निश्चित परिणाम नहीं निकलता। सुकरात दशन में निरन्तर रहने वाले तत्त्व का प्रतीक है। यह सशयवती अथवा पृच्छात्मक भावना किसी भी बात को जसी की तसी मानकर नहीं चलती बल्कि चाहती है कि प्रत्येक तथ्य अपनी सचाई को तक की स्वीकृति से सिद्ध करे। दशनन की बनक इसी भावना के विद्यमान रहने पर स्पष्ट होती है। इसके साथ यह विश्वास भी सहायक रहता है कि यद्यपि हर एक व्यक्ति को स्वयं यत्न करके सत्य खोजना चाहिये तथापि सत्य की खोज निश्चय ही करना पड़ेगी। तो प्रथम अध्याय में सुकरात मूर्तिमान दशन के रूप में उपस्थित होना है और वह विशेष पात्रों से कुछ निश्चित प्रश्न करता है तथा कुछ माय सिद्धान्तों का परीक्षण करता है।

सेफालस उस पीढ़ी के सज्जन की सचित्र अनुभववाणि का प्रतीक है जो सुवरात के नागिनर ग्रन्थ के प्रारम्भ होने की घड़ी में समाप्त हो रही थी। दान इसी अनुभव का निगूढ़ बनकर आता है, उसके गुण-दोष बताने नहीं। सिसरो का मत है कि सेफालस के प्रति दयालु होना सुवरात के लिए अनुचित होता। सुवरात का यह आचरण एक उदाहरण है जिस धरन्तू ने दान के अध्येता को अनुकरणीय बताया है। वह कहता है कि हम यथोक्त मनुष्यों के अप्रमाणित अनुभव को ध्यानपूर्वक समझना चाहिये क्योंकि अनुभव ने उन्हें उचित दृष्टि प्रदान की है। सरल भाषा में व्यक्त अनुभव के जिस स्वरूप का प्रवक्तव्य सेफालस है, उसे हम तब-पर्यन्त अनुभव करने न कह सकें किन्तु वह जीवन का निचोड़ तो जाना ही है। जिस यह साध मिलता है उसने यदि उस पर मनन चिन्तन नहीं किया, तो दानार्ज के सम्भावित प्रश्नों का समाधान करने की योग्यता उसमें नहीं होती। इसी कारण जब गुण-दोष की जाँच शुरू होन लगती है और अनुभव के विश्लेषण करने की स्थिति आती है, तब सेफालस अपना भाग पुनः की सौंपकर ओझल हो जाता है।

सेफालस के सहज उद्गारों में रिपब्लिक के बुद्ध दार्शनिक निष्कर्षों का पूर्वाभास मिलता है। उसके भाषण में दार्शनिक प्रवचन का आनन्द देह-सुख का स्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसा करके उसने चतुर्थ अध्याय में वर्णित निष्कृत्य प्रेम के समान ‘क्रोधी तथा क्रूर स्वामी’ से पिण्ड छुड़ाया। जीवन की दीर्घ अवधि में उनकी यही धारणा बनी कि दरिद्रता से मुक्त की प्रतीति में जाया तो पड़ती है परन्तु पाषण्डि सप्तर्षि का भी सुख पर कोई बग नहीं चलता और चार्मिष्य ही सुख का यथायथ नियामक है। वह भावी जीवन की कवि-सुलभ क्षांतियों में पुराने ढंग की आस्था को किंचित विनम्रता के साथ बनाय रखता है। किन्तु साथ ही इसी आस्था के यथायथ सत्य की वह विकाराय स नि सग रखकर धारण किये रहता है। तात्पर्य यह है कि उसका धार्मिक विश्वास अपने सरल तथापि शुद्ध रूप में स्थिर होकर लोकप्रिय धर्म की भ्रष्टता से विपरीत होता है। प्रचलित पथभ्रष्ट धर्म का जैसा वर्णन द्वितीय अध्याय में हुआ है वह पुण्य तथा पाप के सिद्धांत का भद्दा संस्करण है। इस प्रकार ‘रिपब्लिक’ का आरम्भ भविष्य जीवों के विचार से होता है और वैसे ही उसका अन्त। सेफालस की दृष्टि में नविकता इस सूत्र में संकलित है ‘वचन तथा क्रम की मत्पता और ईश्वर तथा मनुष्य के प्रति अपने ऋण का उचित निर्वहण।’ यदि इस भाव के विस्तार तथा गहनपन का

ठीक तरह अपनाया जाय तो हमने भीतर वह सबभरा मिलता है जितना कोई भी कभी कहने का अभिलाषी हो सकता है।

पोलमारक्स के प्रवेश करते ही हम एक नयी पीढ़ी का परिचय मिलता है जिसे पुरानी पीढ़ी का अनुभव उत्तराधिकार में प्राप्त है और वह भी आशियन रूप में। प्लेटो बीती हुई पीढ़ी को अनुभूति के माध्यम से जानता था इसीलिये उसका विवरण यथाथ नहीं कहा जा सकता। पोलमारक्स के विषय में पातव्य है कि वह सेफालस का पुत्र तथा दाक-पण्डित लिसियस का भाई था और 'तीम ताना' गाहा न उसका वध कराया था। फ़िपेड्रस (Phaedrus) नामक ग्रंथ में दान का व्यक्ति कहकर उसका उल्लेख किया गया है। इस पात्र को प्रस्तुत करने में प्लेटो का अभिप्राय किम धनक के व्यक्ति से है? विश्वासपूर्वक वह इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उपस्थित होता है कि 'याय अथवा नतिवना क्या है? लेकिन यह उत्तर उसका किसी अनुभव का परिणाम न होकर उधार लिया हुआ एक सिद्धान्त है जिसमें उसकी कोई गति नहीं। अभी तक हम ऐसे मनुष्य के सम्पर्क में रहे हैं जिसकी 'याय धारणा, उसने निजी आशय व अनुसार, सारत सत्पूरित की अभिव्यक्ति है चाहे उस समय दाशनिक् धारणा मानना तबसगन न हो। पोलमारक्स तक पहुँचते ही हम ऐसे पुरुष को पाते हैं जो परम्परा प्राप्त इसी धारणा को सहसा स्वीकार कर लेता है। कविया ने उधार लेकर इसी मायता को वह एक स्वयंसिद्ध निदर्श अथवा नियम का रूप देता है जिसे वह खुद नितान्त अल्पाश में समझता है और जो उसकी समझ के अपूरेपन के कारण ही सद्गुण की सवया सदीप परिभाषा मात्र है। यह स्वयंसिद्ध नियम भला हो या बुरा इससे हम कोई सरोकार नहीं, सब कुछ इसी बात पर निर्भर है कि हम किस ढंग से इसके अभिप्राय को ग्रहण करते हैं।

पोलमारक्स की तकविधि के दो भाग किये जा सकते हैं। पहले, उसे धीरे धीरे लगता है कि सिमोनाइडीज से प्राप्त स्वयंसिद्ध नियम के अभिप्राय का लेगमात्र भी वह नहीं जानता, उसके इस नियम की परिभाषा, उसकी अपेक्षा जो अथ व्यक्ति कुशलतापूर्वक कर दिखाये वह उसी की शरण दूँडता है और उसके भावाय के बिल्कुल विपरीत उसके शब्दों से मनमाना आशय निवाला जा सकता है। उसकी तकविधि का अन्त बौद्धिक विवशता की भावना अथवा अज्ञान की चेतना में होता है और सुकराती सम्वाद का प्रमुख लक्ष्य भी यही था। इस तकविधि के दूसरे खण्ड में अधिक यथाथ परिणाम रहता है। इससे पोलमारक्स को पात होता है कि जिसे सचमुच वह सिमोनाइडीज के नियम का

अभिप्राय मान बैठे थे, नतित्व सिद्धांत के प्राथमिक लक्षणों की पूर्ति भी उससे नहीं होती। वास्तव में वह अपने निजी विश्वास का यही आश्रय समझता था कि मित्रों के प्रति सद् व्यवहार तथा शत्रुओं के साथ बर्तनजनक बर्तन ही ठीक है। कोई यह नहीं मानेगा कि स्वयं नतित्व के भाव का स्पष्टन किया गया किसी को बलवत्-नष्ट देना नतित्वता कहला सकती है। पोलमारक्स की धारणा से मिलता जुलता उदाहरण इस कथन में भी मिलता है कि हम अपने मित्रों से प्रीति तथा शत्रुओं से घृणा करना उचित है, जिसकी आलोचना ‘सरमन आन दो माउण्ट’ में की गयी है। शीव जानि की नतित्व धारणा में यही भावना साधारण रूप से प्रचलित थी, सोलन की कविताओं में इसीलिए यह प्रापना मिलती है—

‘मुझे अपने मित्रों के प्रति सुखद तथा शत्रुओं से घृणा करने योग्य बना दो।’

इस तबविधि के प्रथम खण्ड में जिस प्रणाली का प्रयोग किया गया है वह सुकराती पद्धति के एक रूप का बहुत अच्छा उदाहरण है। जो वास्तविक निष्कर्ष निकलता है उसको हम प्लेटो द्वारा प्रदीप्त सिमानाद्वीज के सिद्धांत का सहज परिणाम न मान बैठें। उस सिद्धांत से अनेक विभिन्न अभिप्राय निकल सकते हैं। हम ध्यान इसी बात में लगाना है कि पोलमारक्स कैसे और क्या हास्यास्पद निष्कर्ष के मान लेने की दशा में पहुँचा जैसा सचमुच हुआ है। उसका अनुसार ‘याय’ की परिभाषा यही है कि ‘प्रत्येक मनुष्य जिस उचित व्यवहार का पात्र है उससे वैसा ही बरतते। व्यवहार-पात्रता के अर्थ पर ही सब कुछ निर्भर है। ध्येय यह है कि पोलमारक्स के मन में इस परिभाषित धारणा का जो घुबला और अस्थिर आशय है, उसी से इस स्पष्ट करा लिया जाये। सुकराती प्रणाली से ही यह सम्भव है जिसके अनुसार स्वीकृत तथा अथवा उदाहरणों को तथा समान पहलुओं पर आश्रित प्रस्तुत विचारों को सामने रखकर उस विचार को सशोधित, परिष्कृत अथवा विनष्ट किया जाये। हम पहले व्यवहार-पात्रता के उस अर्थ को देखना हैं जिसे विधि-सम्मत उचित कहकर समझा जाता है। स्पष्टतः पोलमारक्स का अर्थ यह नहीं था क्योंकि विधिसम्मत क्षतिपूर्ति अथवा पुनराप्ति का ऐसा उदाहरण देना सरल है जो ‘यायोचित’ नहीं कहा जा सकता। तब वह इस पात्रता के स्थान पर अधिक अस्पष्ट शब्द रखता है। अर्थ पात्रता का अर्थ हो जाता है—कोई वस्तु जो प्राप्य है और कोई व्यक्ति जिसे वह प्राप्त होना चाहिये। उसके इसी भाव को अधिक स्पष्ट परिभाषा में प्रस्तुत कराने के लिए सुकराती किसी व्यक्ति को प्राप्तव्य वस्तुओं के जाने-माने अनेक उदाहरण सामने लाता है जिनमें से हर एक इस परिभाषित भाव के घेरे के बाहर चली

जाती है और इस तरह उसके भावाय को उत्तरोत्तर सकुचित कर देती है। उदाहरणार्थ चिकित्सा-कला वही वस्तु देती है जो उसके किसी पात्र को देय है। इस तुलना के ढग पर वह कौन सी देय वस्तु है जो 'याय' किसी पात्र व्यक्ति को दता है ? परन्तु ऐसा सोचते ही 'याय' उसी श्रेणी में मान लिया जायगा जिसमें हम कला को रखते हैं। तब प्रश्न उठता है कि इन भोगों में पहचान का चिह्न क्या है ? यह तुलना बिल्कुल काल्पनिक नहीं है। 'याय' ऐसी क्रिया है जो मनुष्य को सत् अस्तु विवेक में प्रवीण बनाकर उचित काय करने की समर्थता देती है। यही तथ्य 'याय' तथा कला के बीच सम्बन्ध चिह्न है। 'याय' मनुष्य वह है जिसमें कुछ करने की समर्थता अथवा देन है लेनिन प्रश्न है—वह कुछ है क्या ? पोलमारक्स को वही अत्यन्त सुगम उदाहरण सूझता है जो यायापीदा की साधारण 'याय' सेवा में व्यक्त होता है। वह कहता है कि 'यायकर्ता' मनुष्य युद्ध-काल में अपने मित्रों की सहायता तथा अपने शत्रुओं को दुःख देने में अत्यन्त कुशल हुआ करता है। तब उस ध्यान आता है कि 'याय' की उपयोगिता का विस्तार शान्ति के हित में होना चाहिये और वह व्यापारी का बिलकुल सहज उदाहरण लेता है। यहाँ सुखरात को अवसर मिल जाता है जिससे वह पोलमारक्स को लाचार करके उसकी 'याय' धारणा को फिर सकुचित कर देता है। व्यापार तो आदान प्रदान या लेन-देन है जिसमें दो या अधिक लोगों का सगाव रहता है। पोलमारक्स के मन में किस तरह के आदान प्रदान की कल्पना है ? धन का लेन-देन ? तो धन सम्बन्धी लेन-देन को मानकर सुखरात सिद्ध करता है कि ऐसे बहुतेरे लेन देन होते हैं जिनमें 'याय' मनुष्य को अपने मित्रों की सहायता के योग्य नहीं बनाता। उदाहरणार्थ पोलमारक्स स्वीकार करता है कि घोड़ा खरीदने में 'याय' से मनुष्य की उपयोगी बनने में सहायता नहीं मिलती बल्कि इस काम में घोड़ा के विषय में ठीक ज्ञान ही सहायक होता है। इसके पहले भी उसने मान लिया था कि मित्र के रोगग्रस्त होने पर चिकित्सा-कला ही लाभप्रद होती है 'याय'-बुद्धि नहीं।

तकविधि के इसी सिलसिले से पोलमारक्स क्रमशः अपनी 'याय' धारणा के प्रत्येक व्यावहारिक महत्त्व को छोड़ देता है। यह दुर्गति इसीलिये होती है क्योंकि वह जिस सूत्र का उपयोग करता है उसे वह खुद नहीं समर्थता। फलतः अपने से वही अधिक थोड़ा न्यायविद के सम्मुख उसे समर्पण करना पड़ता है। अच्छा होता यदि वह कहता कि 'याय' अथवा नतिकता ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मनुष्य को निश्चित ज्ञान साधित अमुक-अमुक करने के योग्य बनाता है अपितु वह एक व्यापक सिद्धांत है जो मनुष्य का प्रत्येक काय समुचित रूप से करने

की योग्यता प्रदान करता है। सत्यम की कई कलाओं में इसकी गणना नहीं हो सकती, यह तो एक निश्चित कला है, जिसका प्रयोजन एक ही शुभ काम है। इस तकविधि का समूचा परिवेष्ट हम इतना अटपटा समझा है कि हम उससे तनिक भी प्रभावित नहीं होने, किंतु हम चाहें तो उसे आधुनिक रूप में सरलता से रख सकते हैं। ननिकता सम्बन्धी किसी भी चलनसार कथावस्तु को लीजिये जस—
“ईमानदारी ही सर्वोत्तम नीति है और सड़क चलन किसी आदमी से अचानक उसका अभिप्राय पूछिय तो उसका अर्थ सुनकर लगता कि वह पोलमारकम वं समान ही चकराया हुआ है।

तकविधि के दूसरे भाग का आरम्भ पोलमारकम के इस परचात्ताप से होता है कि वह अपने कथन के आशय को स्वयं नहीं जानता। फिर भी वह दावा करता रहता है कि बहरहाल मियों का भला और शत्रुओं का बुरा करना ही ‘याय है। क्या नैतिकता की सवधा प्रारम्भिक धारणा से यह भावाय कोई सगति रखता है? सुकरात जिस तक स इस वास्तविक विसंगति का सिद्ध करता है वह कुछ गलत न्यायी पड़ती है। उस समूचे नीति विषयक विवाद में हम शत्रुओं को ही जीतना पड़ेगा। सुकरात इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि अगर भला (सत्) और बुरा (असत्) गण से कोई नियत अर्थ निकलता है तो भी वह नैतिकता का पर्याप्त विवरण नहीं हो सकता। कारण इसमें यह अन्तर्विरोध निहित है कि असत् का प्रेरक कारण सत् हो सकता है। किसी मनुष्य को चोट पहुँचाने अथवा उसकी हानि करने का अभिप्राय क्या है? ऐसा करने ही उसे मानवी श्रेष्ठता की दृष्टि में पतित करना ही तो हुआ, मनुष्य को चोट पहुँचाने का परिणाम उसे नराधम बनाना होगा। ता, न्याय का और चाह जो आशय हो वह मानवी उत्कर्ष का एक रूप है। अतएव यह कहना कि ‘याय मनुष्य को अधम-पतित बनाता है, इस कथन वं समान है कि ताप हम शीतल करता है। इसलिए अगर सिमोनाइडीज का आशय यही था जसा पोलमारकम समझता था कि उसका आशय था तो वह कभी सही नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्भवतः उसका आशय ऐसा था ही नहीं।

तत्कालीन ग्रीस में कवि-वचन को आचरण और नीति सम्बन्धी प्रश्नों का प्रमाण मानने की प्रथा थी। सिमोनाइडीज के प्रभाव का आशय लेना इसका एक उदाहरण है। हम यह बात अजीब लगती है किन्तु उस युग का प्रायः समस्त चिन्तनोन्मुख साहित्य कविता की रचनाओं में मिलता है। ग्रीक दार्शनिकों के अग्रदूत कवि ही थे, मनुष्य के सम्बन्ध में स्वयं मनुष्य के चिन्तन को कवियों ने ही पहल

पहल अभिव्यक्ति दी थी। ग्रीक जाति के प्रारम्भिक भाव कविता में ही व्यक्त हुए थे, हित्रुओं के भविष्य-कथन की पद्धति में नहीं। फलतः जब लोग अपने भावा को सूत्रबद्ध करना चाहते थे तब वे कवियों की शरण में जाते थे। इस दृष्टि से होमर तथा कुछ अन्य कवियों की रचनाएँ ग्रीक घमशास्त्र जैसी मानी जाती थी। सच है कि उन्हें विशिष्ट तथा भुक्तिसंगत प्रमाण के रूप में मान्य नहीं किया गया था, कविता और साहित्य के सामान्य ग्रन्थों की कोटि में ही उनकी गिनती होती रही। किन्तु अग्रेजी भाषा में जिस तरह बाइबिल का स्थान बन गया उस श्रेणी में ग्रीस के पुरातन कवियों को मान लिया गया है। प्लेटो के युग में नीति विवाद में कवि वाणी का प्रयोग सहज परम्परा की भी लार्घ गया था, उनके कथन की टीका करने का अभ्यास संस्कृति के विशेष प्रकार जैसा बन गया। इस प्रसंग में सुकरात का मत यह है कि सिमोनाइडीज पहलियों का कवि था। प्रोता गोरस में वह कवि कथन को पहिली अथवा रूपक के अर्थ में उपयोग करन क चलन का परिहास करता है। इस प्रकार के अभ्यास का कारण था। लोग ऐसा समझने लगे थे कि यदि कवि रचना से जीवन-सम्बन्धी नवीन भाव निकालना है तो उसे ऊपरी तौर पर पढ़ना भर लाभप्रद नहीं है। सचता। यह जरूरी समझा जाने लगा कि नवीन भावा को उनकी कविता में जसे बने वसे खोज निकालो। यहाँ पटुक्कर सिमोनाइडीज के प्रति सुकरात की धारणा को प्लेटो व्यगमिश्रित शिष्टता के रूप में प्रकट करता है। लेकिन उसने कविता का निरूपण प्रसंग भेद के अनुसार अलग अलग ढंग से किया है।

नैतिकता और कला में जिस तुलना का उपयोग पालमारकस के साथ तक करते समय हुआ है, सुकरात प्लेटो तथा अरस्तू के विवेचन में वह बार बार दिखायी देती है। यह समझ लेना चाहिये कि इस तुलना में बिलकुल निश्चित समानता किस बात की है और इसे इतना अधिक घटित करने में सुकरात का प्रयोजन क्या था ? कलाओं के दृष्टान्त से बदस्तूर ललितकलाओं को समझ लेना ठीक न होगा। यहाँ कला का सकेत यात्रिक अथवा व्यवसायी कलाओं से है जिसमें चित्रित्ता, नौ विद्या जूते बनाना पाकशास्त्र आदि शामिल हैं। जहाँ वही शिल्प अथवा चित्रकला का दृष्टान्त आया है इनको भी दूसरी कलाओं के बराबर माना गया है। असल में नैतिकता और कला से उत्पन्न वस्तुओं के बीच तुलना नहीं है। सत्वर्मी तथा कलाकार की दक्षता अथवा निपुणता में जो निश्चित साम्य है वही अभिप्रेत है। 'याय नियत कम की सत्ता है और इस अर्थ में किसी अन्य कला के अनुरूप है। रसोदये और जूता बनाने वाले ऐसे व्यक्ति हैं जो दूसरे

लोगों की तुलना में इन कामों की योग्यता इसलिए अधिक रहते हैं क्योंकि वे अपने काम के ज्ञान क्षेत्र पर ही शायद अथवा निपुण हो सकते हैं। यही बात कला और नैतिकता में तुलना का विषय है। सम्यक् जीवन निर्वाह के लिए हम जीवन की यथायता का बोध होना चाहिये। सुवर्ण के नाम से जुड़ी हुई एक कहावत है ‘सदाचार ही ज्ञान है’ जिसका सही अर्थ है कि जीवन का समुचित बोध हो जाना उस अपने अधीन कर लेना है। किसी भी वस्तु के सफल कलाकार बनने की शक्त यही है कि उसके सिद्धांत का ठीक ज्ञान होना चाहिये। इसी आशय में नैतिकता को कला का स्वरूप दिया गया है क्योंकि सज्जन को जीवन कला में प्रवीण माना है। वही अपने जीवन की परिस्थितियों का और उनके निर्वाह की उत्तम प्रणाली को भली भाँति जानता है। उदाहरण के लिये यह न सोच बैठे कि जीवन कला या नैतिकता का अभ्यास जता बनाने की कला के समान किया जा सकता है। जिन ग्रीक विचारकों ने नैतिकता और कला में समानता का आभास पाया था और वह वास्तविक ही है वह कभी इस तुलना का अतिरक्त करने के अभिलाषी नहीं थे। प्लेटो सधन भाव से जीवन-कला तथा दूसरी कलाओं के अंतर को स्पष्ट करने में कसर नहीं रखता। इस भेद का मूल तत्त्व यही है कि अन्य कलाओं में जिस तरह निपुणता मिल सकती है उस तरह जीवन निर्वाह की कला में सम्भव नहीं है। तुलना के इस उपयोग का एक मात्र प्रयोजन यही है कि यदि नैतिकता मनुष्य का आचार-व्यवहार में अधिक कुशल नहीं बनाती तो वह निरर्थक है और कुशलता से जीने के लिए जीवन का चिंतन मनन उसी क्षण से करना जरूरी है जिस तरह कोई स्वस्थ मनुष्य अपने ‘पक्काप’ में निरत होता है। सहज ही ऐसा मान लिया जाता है कि ग्रीक विचारकों ने जब नैतिकता का तुलना कलाओं से की तो उनका ध्यान सलिल कलाओं की ओर था और नैतिक जीवन तथा कलाकृतियों में समरूपता उनका अभिप्राय रहा है। बहुतेरे लोग सदाचारी जीवन का कलाकृति के समकक्ष ही समझते हैं और यह उचित दृष्टिकोण है। परंतु इससे प्लेटो अथवा अरस्तू की चिंतन शक्ती का मूल नहीं बँठता यद्यपि उनकी शलाकिली में भी कभी-कभी नैतिकता को सुन्दर वस्तु जसा वर्णित किया गया है। उन्हें नैतिकता तथा कला में जो तुलना दीगयी होती थी उसे आधुनिक भाषा में व्यक्त करने के लिए चाहते तो इस तरह कह सकते कि नैतिकता का अर्थ एक कल्पना अथवा सिद्धांत है जिस जीवन में साधारण किया गया है। आशय यह है कि जीवन की गतिविधियाँ वैज्ञानिक शक्तों में बदल जायें जमा प्रयोगात्मक विज्ञान में होता है जिसमें ग्रहण

शक्ति से सफलता और अज्ञान से विफलता मिलती है। असल में यही ग्रीक शैली की जीवन दृष्टि है क्योंकि ग्रीक जाति केवल कलाप्रिय ही नहीं अपितु बुद्धिजीवी थी और उसका ऐसा दृष्टिकोण स्वाभाविक था।

आगे चलकर विवाद में प्रोसीमेक्स का प्रवेश होता है। प्लेटो सामान्य ग्रीक भाषा शास्त्र के वैतनिक अध्यापक के जिन स्वरूप को पेश करता है प्रोसीमेक्स उसका प्रतीक नहीं है। इन तात्विकों का कोई एक विशेषण तो था नहीं और किसी एक व्यक्ति को उनका प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। प्लेटो और इन तात्विकों की प्रतिस्पर्धा एक नहीं विविध रूप में प्रकट होती है। सीधी तरह से इन तात्विकों का वर्णन करें तो कहना होगा कि दही लोगो ने ईसा पूर्व चौथी और पाचवी सदी में ग्रीस को सभ्यता का बाध कराया। यो कहिये कि नयी विचारधारा का प्रचार इन लोगो का अपना व्यवसाय बन गया था। जिस आवश्यकता की पूर्ति इन लोगो ने उस समय की उस समझन के लिए हम यह देखें कि उनीसवी सदी में सभ्यता प्रचार के क्या साधन हैं? कोई एक नामधारी जनवग अथवा माध्यम आज नहीं मिलता। लेकिन पहले हम समाचार पत्र तथा पत्रिकाओं के लेखक मिलते हैं जो विविध रुचि का एक विशाल समुदाय है। फिर उपन्यासकार आते हैं। कविक तथा धार्मिक उपदेश के साथ साथ वे लोग भी हैं जो विज्ञान या दर्शन के निश्चित विचारों को लोकप्रिय बनाने की चेष्टा करते हैं चाहे उनमें से सभी को सत्य अथवा दर्शन कहना सही न हो। प्रोफेसर हक्सले का उदाहरण लीजिये जो विज्ञानविद् के जलावा विज्ञान के प्रचारक भी हैं। मध्यम आरनोल्ड कवि तो थे ही उन्होंने धर्म तथा जीवन सम्बन्धी कुछ निश्चित विचारों के प्रसार में महत्त्वपूर्ण प्रयास किये। ग्रीक तात्विकों (Sophists) को एक प्रकार के जन समूह की दृष्टि से समझना सही नहीं है जैसा इंग्लैंड में सभ्यता प्रचारक का एक विशिष्ट रूप होता है। उन तकविदों में उत्तम-वृत्ति और नीच-वृत्ति के लोग थे और वे भी थे जो नितान्त विभिन्न प्रयोजन से आचरण करते थे। कतिपय ऐसे व्यक्ति जरूर थे जिनमें सचमुच शिक्षा का प्रसार करने की रुचि थी। दूसरे वे थे जो बनी हुई आस्थाओं को मिटाना चाहते थे और ऐसा समुदाय भी था जिनका एकमात्र न्येय घनाजन था।

ग्रीस की परिस्थितियाँ इंग्लैंड से भिन्न थीं। जिन खास बातों की शिक्षा इन तात्विकों (Sophists) ने ग्रीस को दी वह इन लोगो के अनुरूप किसी माध्यम से इंग्लैंड में दी जाने वाली शिक्षा से अलग थी। प्रायः सभी कृत्रिम तथा

अत्युत्तिष्ठण भाषा या वाग्मिता की शिक्षा देने से अर्थात् भाषा के प्रयोग की क्षमता जीवन का एक उपकरण हो गयी थी। वाग्मिता के इस अध्यापन का आधुनिक समरूप इंग्लैण्ड की 'उच्चतर शिक्षा' में मिल सकती है। इंग्लिश पब्लिक स्कूलों और विश्वविद्यालयों में प्रमुखतः क्या सिखाया जाता है? बाहर से दगुन वाला बहुत कुछ सबाई के साथ वह सकता है कि उक्त सम्प्रदाय में भाषा के उपयोग का अम्मान ही मुख्य वस्तु है—साहित्य के बोध की शक्ति तथा लेखन की योग्यता वहीं मिलती है। अपन भाव व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेना शिक्षा के प्रयोजन का अपरिहाय तत्त्व है और ग्रीस में यह क्षमता जीवन के उचित निर्वाह हेतु सबसे आवश्यक थी। इसीलिये प्रायः इन सभी तार्किकों ने वाग्मिता का अध्यापन किया। परन्तु भाषा का ज्ञान केवल शब्दों के उपयोग को जान लेना तो नहीं है। भाषा ज्ञान का महत्त्व फल महत्त्वपूर्ण दिपया का चिन्तन और इन चिन्तन की वाणी देना है। ग्रीस में सावजनिक जीवन अथवा राजनीति जैसे विषयों की प्रधानतः रोचक माना गया था और यह तार्किक अध्यापक अपने शिष्यों को इन्हीं विषयों पर भाषण देना या अम्मास कराते थे। पत्रत मयोगवश और कभी-कभी जानबूझकर इनका अध्यापन नित्य शिक्षा अथवा सदाचार शिक्षा थी जिसका सीधा सम्बन्ध वस्तुओं के ज्ञान से रहता था। यह कहना सही नहीं है कि इंग्लैण्ड की उच्चतर शिक्षा केवल भाषागत प्रशिक्षण या कयोकि भाषागत प्रशिक्षण का अर्थ ही अनेक प्रकार के भाषा की ग्रहण करना और उनका समुचित प्रयोग करना है। इसके साथ यह मानना भी ठीक नहीं है कि ग्रीस में इन तार्किक अध्यापकों की शिक्षा कोरी वाग्मिता थी। सब तो यह है कि यह लोग ग्रीस में अधिकतर सदाचरण के अध्यापक थे।

इन वाक्-पण्डितों को एक तरह से पैसेवर लोग ही समझना चाहिये। जीविका का यही साधन उनका था। परिस्थिति के अनुकूल वे विशेष जन-समुदाय के समक्ष विचार प्रस्तुत करने को बाध्य हो जाते थे और उसे प्रभावित करने में सचेष्ट रहते थे। आज के समाचार-लेखक भी यही साधन विचारकर लिखा करते हैं कि वे किसके लिए लिखते हैं और बहुतांश में अपने पाठक की क्षमता अनुकूल गती तथा विषय-वस्तु उनके ज्ञान का लक्ष्य होना चाहिये। विज्ञानी और अन्य व्यक्ति में मौलिक अन्तर यही है। सत्य के प्रचार का कोई अन्य विज्ञानी के मन में नहीं रहता वह तो सत्य क्या है—इसी की चेष्टा में दृढ़ रहता है चाहे दूसरा कोई उसे मान या न मान। यही कारण है कि बहुतेरे

महान् विनानीपुरुषों के समकालीन व्यक्तियों ने उनका सम्बन्ध में निपट भ्रामक धारणाएँ फैलायी और उनसे विचार दूसरे लोगों के जरिये दुनिया जान गया—यही काम इन तक-पण्डितों ने किया। जो व्यक्ति यह काम करता है वह अपने आपको बड़ी जोशिम में डाल देता है जैसा हाल धर्म सिद्धांत के प्रचारक का भी होता है। जितना बड़ा सत्य वह सामने लाता है उस ग्रहणीय बनाने की उतनी ही प्रभावी गली उस अपनाता जरूरी हो जाता है और ऐसा करने पर उस सत्य के साथ समझौता होता ही है। जन-रक्षि से भेद सनेवाली गली का अवलम्बन असाधारण कठिनाई है और कुछ लोग इस ढंग के प्रयोग में बहुत बार अविवेकी बन जायें तो आश्चर्य नहीं। जितने वाक्य-पण्डित प्लेटो की चर्चा में भाग लेते हैं वे एक दूसरे में इतने भिन्न हैं जितने साहित्यकार अथवा सत्त-पुरुष विवेकशून्य अलज्जरनबीस से हो सकते हैं। प्रातागौरव तथा जाजियस सम्माननीय व्यक्ति हैं जनकल्याण के इच्छुक हैं परन्तु जननेता कहानों की धुन में मगल-साधारणजन के विचारों की ही वे फलान रहते हैं। कई तो ऐम धूसर निगते हैं कि लोग पर अपनी धाक जमान या पैसा सूटने से ज्यादा उनका कोई ध्येय नहीं होता। प्लेटो इन वाक्य-पण्डितों का साथ यथोचित व्यवहार करता है। उनमें से कुछ लोग उससे व्यंगमिश्रित आदर पाते हैं जैसे जाजियस तथा प्रातागौरव और कुछ उसकी बहुत घृणा के पात्र हैं जैसे यूपीडमस।

थ्रेसीमेक्स उन वाक्य-पण्डितों में से था जिन्होंने अपनी कामिता की गिनत का प्रधान विषय मान लिया था। पता चलता है कि थ्रोनाभा की वासनाओं को उत्तजित करने की प्रक्रिया सिखलाने में वह सुदक्ष था। वह खेलसीडान का निवासी था। यह जानने की कोई गामची नहीं है कि प्लेटो द्वारा उसका चरित्रावन कहाँ तक आलोचित था वैसे इसमें हम प्रयोजन भी नहीं है। उसका चरित्र में जो लक्षण उभरते हैं वे प्लेटो के तक-पण्डिता में से बहुतरा में मिलते हैं। हलके दर्जे के अधिकतम वाक्य-पण्डित प्लेटो की रचना में सत्य के प्रति उदासीन द्रव्यलोभी और मौखिक विजय में अनुरक्त होने के समान गुणों से भूषित हैं। विवेक के प्रति अनिच्छा और मिथ्या तक की प्रवृत्ति प्रायः सभी में दोखती है किन्तु थ्रेसीमेक्स के कुछ विशेष लक्षण हैं। शायद प्लेटो चाहता था कि साधारणजन में सचमुच जैसे दोष होते हैं थ्रेसीमेक्स में उनका बड़ा चढ़ा रूप दिखलाया जाय। इसीलिये उसमें नीरसता, अमदता (वैसे यह दुगुण प्लेटो के सम्वादों में बहुत विलक्षण है) व घट्टता तथा परिणाम की सापरवाही और

मानव द्वेषवाद मित्रता है। असल में उसका चित्रावन प्रमुखन वाग्मिता के शिक्षक रूप में नहीं किया गया। पहला ध्वज यही वह ऐसा मनुष्य लगता है जो राजनीतिक सत्ताचार की निन्दा करने में प्रवृत्त है। जैसे तो वह सत्ताचार की कल्पना में भी विश्वास नहीं करना चाहता। उसके साथ-साथ वह विमानविद का ढोंग रचता है और बताता है कि उसके बराबर गया रूप या विलकुल चौकस ध्वज और किसी के चंग का काम नहीं। वह अपनी बात को पेश करने में इतना चतुर है कि उसका शब्दाडम्बरपूर्ण कथन भी धूनताप्रिय लोकमानस पर अत्यधिक प्रभाव डालता है। वह जिस मत का समर्थक है, उस युग में बसा मयाल हवा में गुँज रहा था मगर इतने नये रंग में बहुधा उस बताया नहीं जाता था। घुमोड़ा-ढोड़ के मेलितन सम्वाद और अरिस्टोफेरीज कृत 'क्लाउड्स' (Clouds) के पात्रों की तकविधि में भी इस प्रकार के मत का बलक मिलती है। इसे हम गॉर्जियस (Gorgias) में भी पाते हैं जहाँ इस मत की गम्भीर और प्रभावपूर्ण शैली में व्यक्त किया गया और उसका समामान भी किया गया है। उस सम्वाद में कर्नीकीज जैसे ही प्रभावी शैली में इन मन का प्रतिपादन करना है जैसी रीति से हमें उसके यथाय को व्यक्त किया जाता रहा है।

ग्रंसीमेकम के साथ जिस तकविधि का प्रयोग हुआ है उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले भाग में उसके वास्तविक आगम का रूप प्रकट करने के उद्देश्य से उसका सामान्यतम सूत्र की ध्यानवीन की जाती है। सार यह निकला कि यथाय जीवन बता है—अपनी उप्रति येन-कन प्रकारेण करते रहना और दण्ड की सम्भावना से निश्चित रहना। जीवन का सच्चा लक्ष्य स्वायपरता में सफलता पाना है। जिसे पाय और अपाय बहुर पुकारते हैं वह तो अपनी अपनी नजर का पक है। अगर स्वायता पनदायिना है तो वह पायोचित है, यदि नहीं तो अपायपूर्ण है। दूसरे भाग में यह सिद्ध करने का प्रयत्न है कि यदि इसी दृष्टि को नियम समझ लें और इसके अनुकूल जीवन बिताने की सिद्धांत बहने लगे तो वह स्वय अपना खण्डन बन जाता है क्योंकि सिद्धांत का नियेय उसकी जड़ में है। निवेक, सदाचार अथवा सुख के स्वरूप का एक भी आवश्यक गुण उसमें नहीं बचता। दोनों भागों की शक्ती का मिश्रण पोलमारक्स की तकविधि में किया जा सकता है। छोटे से शब्द चुनकर उनमें निश्चित यूनतम अर्थ का आरोप किया जाता है और जिनासा होती है कि यदि इन शब्दों का उचित अर्थ मान लिया जाय तो मनसमस्त अभिप्राय क्या होगा? इसे मुख्यत कुछ धारणाओं के दुरुह अभिप्राय से गढ़ा हुआ तक ही कहना पड़ेगा। अतः प्रारम्भ में यह

असन्तोषकारक और अविश्वासजनक लगना चाहिये । लगता है कि यद्यपि थ्रेसीमेक्स बराबर ठोस कहलाने वाले तथ्या पर विचार करता है जबकि उसने विरुद्ध जो तक है उसका सम्बन्ध जीवन के तथ्या से नहीं है । मानलें कि जीवन के तथ्य थ्रेसीमेक्स की धारणा जसे हैं तो तक सिर्फ इतनी जांच करने आया है कि ये तथ्य कुछ दुर्दृष्ट धारणाओं का समाधान करते हैं या नहीं ? उदाहरणार्थ यदि शासन सावभौमिक रूप में स्वायत्तलिप्त है तो क्या उसे शासन की सत्ता दी जा सकती है ? ग्लोकन ने द्वितीय अध्याय के शुरू में यही भाव व्यक्त किया है । उसके कथनानुसार थ्रेसीमेक्स का मुह तब न भले बंद कर दिया हो परन्तु श्रोताओं को यह भरोसा नहा मिला कि जो कुछ वह कहता है उसमें तर्क भी सार नहीं है । वे इतना ही नहीं चाहते कि सुकरात तबविधि से 'याय' को अ'याय' की अपेक्षा बहुत सिद्ध कर दिवाये बल्कि उस यह भी प्रमाणित करना चाहिये कि 'याय' तथा अ'याय' मानव जीवन के क्रियाशील सिद्धांत हैं ।

१ थ्रेसीमेक्स आरम्भ ही इसी प्रतिज्ञा से करता है कि 'याय सबलों की स्वायत्त दृष्टि है ।' अच्छा है कि उसके शब्दों में सन्देहास्पद पहले ही स्पष्ट करलें । ग्रीक भाषा में सबलतर के अर्थ में जो शब्द प्रयुक्त होता है उसमें सबलतर तथा भद्रतर का आशय भरा है । तो प्रश्न उठता है कि उसने किस विशेष आशय में सबलतर अथवा भद्रतर को रखा है ? दहिक् बल के भाव को अलग रखकर थ्रेसीमेक्स कहता है कि इस शब्द से शासन अथवा सत्ताप्रभु अभिप्रेत है । इसे बिनकुल ठीक अर्थ मानना चाहिये क्योंकि शासन अथवा प्रकार के साधना से सम्पन्न होने के साथ यथायत बलप्रयोग पर आधारित रहता है । तब याय सबलता की स्वायत्त दृष्टि है — इस कथन से थ्रेसीमेक्स का अभिप्राय है कि शासन अपनी स्वायत्तता के ध्येय से ही कानून बनाता है । किन्तु यह भी सन्देहास्पद है । थ्रेसीमेक्स के अनुसार यह सही है कि प्रजातन्त्र या स्वल्पतन्त्र के कानून केवल प्रजातन्त्रीय या स्वल्पतन्त्रीय अभीष्ट को पूरा करते हैं । प्रजातन्त्र इस कल्पना पर आधारित जनमण्डल है कि राज्य का श्रेष्ठ और सच्चा हित प्रजातन्त्रीय है और यही स्वल्पतन्त्र पर लागू है । लेकिन इस कल्पना का इससे भिन्न अर्थ भी हो सकता है अर्थात् जो शासन करता है वे अपनी व्यक्तिगत स्वायत्त दृष्टि से कानून बना लत हैं और तब यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि थ्रेसीमेक्स का असल अभिप्राय यही है ।

जमा ऊपर मसझाया गया है इस स्थिति (अर्थात् शासन या सत्ताप्रभु की स्वायत्त दृष्टि 'याय' है) के परीक्षण की पहली चेष्टा थ्रेसीमेक्स को यह स्वीकृत

करने की दशा में पहुँचा देती है कि शासन का कोई न कोई सिद्धांत नियम या उसरी बला है। मुकरात इस तथ्य पर फिर विचार करने का अनुरोध करता है कि अपन हिता के सम्बन्ध में शासन भूल करता है। इसीलिए वह जिम काय का आदेश देता है, सम्भव है वह उसका वास्तविक हित या स्वायत्त न हो। तब प्रेसीडेंट्स दृष्टापूर्वक कहता है कि बहुरहाल शासन अथवा सत्ताप्रभु के उल्लेख से उसका अभिप्राय शासन पर अधिकार रखनेवाले किसी भी व्यक्ति से नहीं है। उसके बचन में ऐसे व्यक्तियों का संकेत है जो शासन करने की वास्तविक योग्यता तथा ज्ञान व कारण अधिकारयुक्त पद पर हैं। उसकी दृष्टि में शासन केवल उस कहना चाहिये जो भूल न करे। यहाँ पहुँचने ही हम एक अनग तर्ह की स्थिति में पड़ जाते हैं और इसमें मुकरात को नये और महत्वपूर्ण विचार बिंदुओं और बदन का सुभोता मिल जाता है। इस सिलसिले में शासन उस धणी में चला जाता है जिसमें व्यावहारिक सिद्धांत अथवा बला मानी गयी है। ऐसा होने से बला को सामान्यतः जो कुछ लागू हो सकता है, वह सब नामन के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

इस तकविधि का अगला चरण, सहज ही बला की अमूर्त धारणा को विस्तृत करता है। कला के मामले में हित या स्वायत्त-दृष्टि की कल्पना कैम लागू होती है? बला का हित किस आशय को व्यक्त करता है अथवा बलावार अपनी हैसियत में किस हित से प्रेरित माना जाये? (प्रश्न गली बला और कलाकार का अभेद कर देती है। कलावार को साधारण बला मान लिया जाता है। बस यह है कि कलावार से परफ बला का अस्तित्व ही नहीं सकता। बला का अर्थ ही है सजीव कलावार और जो कुछ सज्जन वह करता है। यही बात बिनान की है। कुछ व्यक्तियों को जीवन्त मानसिक स्थितियाँ और इन स्थितियों के परिणामों को ही विज्ञान कहा जा सकता है न!) बला के हित के दो अर्थ हो सकते हैं। पहले विषय-वस्तु का स्वायत्त या हित, बहुत निश्चित रूप से कला का हित कहना सकता है। कलाका का जन्म कुछ वस्तुओं की कामनाओं, कृतियों अथवा अपूर्णताओं से होता है। मनुष्य देह की अपूर्णता औपधि की कला का कारण है, शरीर को औपधि के बिना पूर्ण स्वस्थ रखा जा सकता तो इस कला का आविर्भाव ही न होता। कला का विषय-वस्तु सम्बन्धी स्वायत्त या हित का प्रयोजन इस अपूर्णता की पूर्ति करना है। शिथिल बीली में इसी को कला का हित कह लीजिये। परन्तु दूसरे अर्थ में प्रश्न यह है कि कला के हित का बिलकुल निपट अभिप्राय क्या है? कला एक प्रकार की सत्ता है जो कुछ

कामनाओं को तोप देने अथवा कुछ श्रुतियाँ की पूर्ति करने में प्रयुक्त हो सकती है। इसलिए उसका हित, ध्येय या प्रेरणा इसी कार्य को यथासम्भव कुशलतापूर्वक करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। उसका कौशल या उत्कृष्ट उसका हित या स्वाध है। किसी कलाकार की कल्पना कीजिये जो अपनी समग्र शक्ति से कलाकृति में जुटा रहता है। क्या कलाकार की इस प्रवृत्ति से अलग या अधिक उसे कुछ और की चाह होगी? नहीं, यदि उसके अलावा अन्य हित से उस लगाव होता है तो साफ है कि वह अपनी कला से परे चला गया तथा चाहे जो कुछ उसे वही कलाकार तो वह नहीं रह गया। कला वैसे आत्मतृप्त होती है कला स्वभाव से ऐसी श्रुतिरहित या निष्काम रहती है कि उसे दूसरी कलाया से पूर्ण करने का अवसर नहीं आता। कला का उत्कर्ष या कौशल उसका पुरस्कार है। यदि हम कला को छोड़कर कलाकार की चर्चा करें तो यह तब विधि अधिक स्पष्ट हो जायगी। मानना होगा कि डाक्टर या चित्रकार जब तक डाक्टर या चित्रकार है तब तक उसका इसके सिवा कोई स्वाध या हित नहीं हो सकता कि वह अपने रोगी की समुचित चिकित्सा करे, अथवा पूरी निष्णुता से चित्र बनाय। जिस घड़ी उसके चित्त में दूसरा हित उठता है उसी क्षण वह सही अर्थ में डाक्टर या चित्रकार नहीं रह जाता। इसका यह मतलब नहीं लगाना चाहिये कि कला में परे उसका लगाव अन्य हितों से हो जाने के कारण वह कलाकार से घट कर कुछ और हो गया।

अब उसको शासन-कला में लागू करें तो कला और कला वस्तु अथवा विषय के बीच जो सम्बन्ध रहता है वही शासक तथा शासित में होता है। अपने विषय के अधिपति होने के कारण वह उसके साथ स्वेच्छानुसार वर्तित करते हैं। जब हम उन शासकों की बात करते हैं जो अपने शासकत्व को धरिताथ करते हैं और जब हम उन्हें दूसरों से अपेक्षाकृत सबल तथा भद्र मानते हैं तब हमारा आशय यह है कि सच्चे अर्थ में शासक होने के लिए जो श्रेष्ठता उनमें होती है, कलाकार में वही श्रेष्ठता अपनी कला वस्तु का उपयोग करने में प्रकट हुआ करती है। शासक के लिए जनमण्डल उसकी विषय वस्तु है जिस पर उसकी प्रभुता चलती है। समाज रूपी कला वस्तु की जरूरतें शासन के अस्तित्व को मूल बनाती हैं। अतएव यदि सचमुच शासन-कला जसी कोई वस्तु है जिसका अर्थ है कि वह मूलरूप में विद्यमान है और जिसे हमने शासन नाम से सम्बाधित किया है उस यदि किसी अन्य भिन्न वस्तु में विधग्नित या रूपांतरित नहीं करना है तो शासन के हित का एकमात्र अभिप्राय शासिता का हित ही हो सकता

है। शासक के नाने उनका हित केवल सचमुच रीति में शासन करना है। फिर यदि हम वह कि ‘याय शासका का हित है तो हम यह कदापि नहीं कहना चाहते हैं कि शासन करने के अतिरिक्त और कुछ भी करना उनका हित हो सकता है। लेकिन प्रोसीमेक्स के कथन में उनके हित का सबका भिन्न अभिप्राय था।

यह विनयुक्त अमून तकविधि है जिसका फलस्वरूप प्रोसीमेक्स वैज्ञानिक और तत्कालीन हान का पारलान्य छोड़ देता है जैसा अभी तक वह करता रहा है। उनका उत्तर हम तकविधि में भटक जाता है और तथ्या पर विचार का अपील करता है। वह कहता है ‘शासन की वस्तुता को देखो’ और कतिपय प्रीक शासका के अत्याग सत्य को मानकर भी उनका बुद्धिमानपूर्ण विवरण देता है। वे सरकारों गठनियों के समान हैं जो भेदा का चराने का काम भेद के हित की घजाय सिफ अपने हित के लिए करती हैं। आगे बढ़कर वह कहन लगता है कि जीवन में सच्चा और सम्मान्य मनुष्य सचमुच टिकता नहीं उसे बहुत कम लाभ होना है और उस अधिकतर अरविबर माना जाता है। सबल का वास्तविक हित अयाय है वह भी छोटे पैमाने के मामूली अपराध जैसा अयाय नहीं। उनके अयाय विज्ञान और विस्तार होन है। ‘याय और अयाय में भेद ही नहीं रह जाना। केवल कथन करने के दृष्ट में इनमें भिन्नता दीखन लगती है। अगर अयायकर्त्ता बहुत बली है तो अशक्त भाग उसका काय का ‘याय कहकर पुकारते हैं। वहीं अयायी दुबल हुआ तो बलवान उसके काय का अयाय मानत है और उसे दण्ड भागता पड़ता है।

धीरे धीरे हम भिन्न प्रकार के और व्यापक प्रश्न के समीप पहुच रहे हैं ‘याय और अयाय की वास्तविक प्रवृत्ति में स्पष्ट अंतर क्या है? और अतत मानव जीवन का यथाय अर्थ अथवा कल्याण क्या है? प्रोसीमेक्स तो पाप या पुण्य और पुण्य या मर्याद के भेद को त्याग ही देता है। उसकी दृष्टि केवल आत्महित के सिद्धांत का मायता होती है। अगर आत्महित या स्वाय सफल हो जाता है तो उस ‘याय कहनाम का हक है यही सार की बात है।

अपने उत्तर के प्रथम खण्ड में प्रोसीमेक्स के गडरिया और भेद के उदाहरण को पकड़कर सुकरात हम स्वीकृत तथ्य पर पुनर्विचार करने का अनुरोध करता है कि जब कलाका का पारिधमिक लिया जाता है तब उसका मूल में यह धारणा होती है कि कलाकार अपने निजी लाभ के लिए कायरन नहीं होता। वह निरन्तर

भावात्मक ढंग से अपनी कला की कल्पना को विस्तारित करने में ही सलग्न रहता है। सुकरात ने कलाओं के अलग-अलग स्वभाव की चर्चा पहले ही कर दी है। अब यह बताने का काम है कि ठोस सामान लेकर बताता है कि इस प्रसंग में दो संस्थाएँ पृथक् कलाएँ आती हैं। एक तो उसकी निजी विशिष्ट कला और दूसरी श्रमजीवी की कला जो उसकी और दूसरे कलाकारों के बीच समान है। नियत वस्तु के सज्जन की प्रवीणता बड़ा है और उससे निर्मित वस्तु उसकी अपनी विशेषता है। नाव खेने की मजदूरी लानेवाले नाविक या मल्लाह और रोग की चिकित्सा कर घन कमानेवाले डाक्टर दोनों की ग्राह्य कला से उत्पन्न पृथक् पृथक् वस्तु का हम स्पष्ट भेद जान सकते हैं और दोनों की प्राप्त समान वस्तु अर्थात् घन को देख सकते हैं। इस विनियम की सच्चाई और दोनों की कलाजनित वस्तु का अन्तर इससे और सिद्ध हो जाता है यदि रागी की चिकित्सा में लगे रहने पर भी डाक्टर फीस लेना बन्द कर दे तब उसकी कलाजनित विशेष वस्तु अर्थात् आरोग्यलाभ को घन में नहीं बदला जा सकता यद्यपि घन दोनों कलाओं में समान वस्तु है। शासन-कला के प्रसंग में जोड़कर सुकरात यह तथ्य प्रस्तुत करता है कि शासनकर्त्ताओं को उनका काम का मूल्य दिया जाना है। यह मूल्य घन या पद के रूप में प्राप्त होता है। पुरस्कार का एक रूप और भी है। काश कोई निष्कर्ष सरकार बन जाता तो उसने अंगुष्ठ कृपा का फल स्वयं इन शासकों और जनमण्डल को भोगना पड़ता। राज्य करने के अवसर से दूँहे यह विपत्ति नहीं झेलनी पड़ी—यह अपने आप एक पुरस्कार है। इसमें शासन सम्बन्धी सम्मान नियम प्रमाणित है कि शासन करना अपने आप आयप्रद कार्य नहीं है। सुकरात इसमें इतना और जोड़ देता है कि वही शासक श्रेष्ठ होते हैं जो घन अथवा यश के लाभ से प्रेरित होकर राज्य नहीं करते। सिर्फ इसीलिए कि शासन करने में लग जाते हैं कि यदि उन्होंने सरकार अपने हाथ में न रखी तो दूसरे लोग शासन को बिगाड़ देंगे। अपने वक्तव्य को आगे खींचकर सुकरात यह भी कह सकता है कि जितनी अधिक कुशलता से मनुष्य राज्य करता है उम्मे शासकीय कार्य के निर्वाह मात्र में पुरस्कार का सुख उतना ही अधिक परिमाण में मिलता है।

प्लेटो मूल्यभोगी कला को दूसरी कलाओं से जिस प्रकार विभाजित करता है वसा अन्तर हम भी दिखला सकते हैं भले ही प्लेटो से हमारी भाषा अलग हो। डाक्टर का उदाहरण लेकर हम कहना चाहेंगे कि कमाई करनेवाले व्यक्ति के रूप में डाक्टर अथवा शास्त्री अथवा सांख्यिक विचार का विषय है। उन्हें डाक्टर

के बारे में केवल इसी सवाल में सरोकार है कि उसके काय का मूल्य क्या है ? उसकी कला व विस विशिष्ट गुणधर्म से आय होगी—यह बात उक्त प्रश्न में कोई हेर फेर नहीं कर सकती । इसी बात को पलटकर कहें तो कनाकार चाह एक हजार मालाना कमाय अथवा दस हजार, उसकी कला पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । मुक्तात त्रिम प्रमुख तत्त्वविदु पर डटा है, उस इस साधारणतः स्वीकृत सिद्धान्त से समझाया जा सकता है जो मावजनिक सेवा में नियुक्त अधिकारीगण के वेतन में लागू होता है । सिद्धांत यह है कि उनके वेतन की सीमा ऐसी होनी चाहिये ताकि वे मनोयोगपूर्वक कर्तव्यरत रह सकें और यथामग्नव उह पदेन नाम का अनुचित लोभ न सता सके । निवायत की गयी है कि समुक्त राज्य के ‘यायापीता का अल्प वेतन उनके ‘यायधर्म पर विपरीत प्रभाव डालता है । नि सदेह प्रेसीमेक्स के बताये तथ्य सही हैं परंतु इसी के बराबर का सही यह भी है कि नामकीय प्राधिकार व स्वभाव में मुक्तात जो दोष दखता है उसे साधारणजन का विवेक यथायत स्वीकार करता है ।

२ हम अब प्रेसीमेक्स से किय गय तर्क के दूसरे खण्ड पर विचार करेंगे । शासन की धारणा का विश्लेषण पूरा करके मुक्तात इससे भी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न को उठाता है । क्या सफलतापूर्वक आरमोपति जीवन का सही मिद्धान्त है ? क्या ‘यायप्रिय मनुष्य की अपेक्षा अयायी व्यक्ति का जीवन अधिक लाभदायक है ? तत्त्वविद् के प्रमग में यह प्रकट हो चुका है कि प्रेसीमेक्स के ‘याय सबना की स्वाद्यदृष्टि है’—कथन में उसका यथाय अभिप्राय यही है । अपन आशय की स्पष्टता के समथन में उस कहना पडा कि जिसे अयाय कहते हैं दावों के सही अर्थ की दृष्टि से वह सदाचार और विवेक है ।

इन गाना का ग्रीक भाषा में क्या अर्थ है ? सदाचार वह गुण है जिसके कारण ध्यक्ति नियत काय को उचित रूप में करता है, इसके अतिरिक्त अर्थ कोई सदाचार नहीं होता । इसने साथ ‘सत’ विशेषण लगा ही है । वस्तु स्वयं सत है जब वह उचित आचरण में मलग्न रहती है । अतः सज्जन का अर्थ जो भी अर्थ हो उसका आगम अपने काय में कुशल मनुष्य तो होना ही चाहिये—वह मनुष्य जो सम्यक जीवन बिताता है चाहे इसमें जोर कुछ भी अर्थ क्या न जोडा जाये । अग्रेजी के ‘गुडनेस और गुड शब्द सहज ही ग्रीक भाषा के गाना के समानार्थी हान पर भी उनमें वसी व्यापक भाव-यत्रक क्षमता नहीं है जो मनुष्य विषयक आचरण का चरितार्थ कर सक । मोरलिटी (Morality) और मरल (Moral) शब्दों का इस भाव में रीते हैं ।

ग्रीक भाषा के विवेकी अथवाची शब्द को 'सदाचार अथ व ग्रीक शब्द का एक विशेष रूप माना जाता है। अरस्तू इस ग्रीक शब्द व प्रारम्भिक उप-योग का वर्णन करते हुए कहता है कि वह कला (ग्रीक शब्द का पर्याय) का सदाचार है। विवेकी (Wise) और कुटिल (Cunning) शब्द इसी अर्थ में ओल्ड टेम्पामेंट में आये हैं। यदि हम मनुष्य जीवन को किसी कला की विषय वस्तु की दृष्टि से देखें तो ग्रीक गणना से वह व्यक्ति जीवन कला का विधाता कहलायेगा। ता थ्रेसीमेक्स व आशय में अयायी समझा जानेवाला मनुष्य जीवन की वास्तविक कला का विधाता होता है। ग्रीक भाषा व सदाचार और विवेक' अथवाची शब्दों को अयाय के भाव में आरोपित करके प्रसंगात् थ्रेसीमेक्स 'याय' में अपनी अनास्था को इस रूप में रख सता है कि वह थोताआ को अरथ त विगधाभासी लगता है। प्लेटो का मत य भी यही है। सुकरात पवती बतता है कि अगर थ्रेसीमेक्स समझीता कर सता और कहता कि अयाय धुणित होने हुए भी हितकारी है ता उसका तक का समाधान सरलता से हा जाता।

इसके बाद हम समझना है कि अयाय से उसका अभिप्राय क्या है? चिर-काल से अयाय का सारभूत आशय झूठ व्यवहार माना जाता है। जीवन की समस्त उपयोगी वस्तुओं का दूसरे की अपेक्षा अधिक से अधिक उपभोग की चष्टा ही अयाय है। अयायी मनुष्य वही है जो अर्थ व्यक्ति की तुलना में किसी वस्तु को अधिक मात्रा में जुटाने का मदक प्रयत्न किया करता है। ग्रीक चिंतन में 'याय' का प्रधान भाव एक नियत प्रकार का समानता का अभिलाषी रहा है। आशय यह है कि बिल्कुल समान परिणाम में भेने न हा किन्तु उचित अनुपात में प्रत्येक का उसकी जीवनस्थिति व अनुकूल अथवा अर्थ किसी पमाने के अनुसार प्राप्ति होना चाहिये।

अनन्तर थ्रेसीमेक्स अयाय की दुहाई देने लगता है और उस जीवन का यथाय चान कहकर पुकारता है। इस तरह ग्रीक शब्दों के अर्थ को ग्रहण कर अयाय को सदाचार अथवा सदगुण मानने का दावा स्थिर होता है अथवा गिर जाता है। उसका दूसरा दावा है कि जीवन की यथाय शक्ति अयाय ही है। अतः वह अयाय को जीवन का सच्चा सुख अथवा कल्याण बताने का दावा करता है। इन तीन दावों के अन्तर्गत उसकी स्थिति की जब याख्या करनी हागा

(अ) पहले दावे के द्वारे में मुकरात की तकविधि व सागन पर इस प्रकार विवेचन किया जा सकता है। सक्का अयायी मनुष्य की सक्रियता के पीछे जो सिद्धान्तबल है जाँच करने पर उसमें यह निषेध मिलता है कि कोई सिद्धान्त ऐसा है ही नहीं। यह कहना है "अथैव मनुष्य जितना ले सकता है तब।" अच्छे और बुरे उचित और अनुचित का भेद वह नहीं मानता। वह इतना भी सहन करना नहीं चाहता कि एमी काई सीमा हानी है जिनके आगे अयायी को कुछ और नहीं मिनना चाहिये। प्रेमीमकम के मतव्य का यह अर्थ लगाकर उस आग्रह करते हुए दिखाया गया है कि सिद्धान्त रहित मनुष्य जीवन का असाध्य बलाकार है। अब इस प्रकार व मनुष्य की तुलना हम दूसरे बलाआ म निपुण व्यक्ति अथवा कुशल बनाकार म कर लें। सभी दूसरी बनाआ म उचित या अनुचित अथवा अपनी गति की सीमा के बोध म रहित व्यक्ति अपनी बला स अनगिन माना जाता है। वह बना के विषय में बिलबुल कुछ नहीं जानता। मान लीजिय कि दो गायक बाद्य-यंत्र का स्वर मिलान के लिए बैठ हैं। अगर वे सच्चे संगीतज्ञ हैं तो उचित और अनुचित के सिद्धान्त में उनकी सहमति एकत्र होगी। इसी सिद्धान्त-बोध के कारण उनको नियत सीमा लौपन का ख्याल तक नहीं आया। या कहिय कि यदि बाद्य-यंत्र सही मिलाया जा चुका है तो जानकार संगीतज्ञ नियत सीमा के आगे और मिलाते रहने की बात तक नहीं सोचगा अथवा यदि दो कुशल डाक्टर मिलाकर मिलेंगे तो जिन डाक्टर ने रोगी की उचित चिकित्सा की है उस मोचा दिखाने की नीयत स बालू चिकित्सा के मही दग का बदलने की बात तक दूसरा डाक्टर सोचगा नहीं। नियत सीमा तक चलने की चप्टा और उसके बाहर न जाने की वागिश बला विषयक कुशलता अथवा औचित्य के भाव का बाधित मानदण्ड है। इसी की उपलब्धि के लिए समूची यत्नाक्ति है। फिर एमा लगता है कि सभी बलाआ म नपुण तथा बोध बलाविन की इस समझ म है कि किम समय वह नियत सीमा तक पहुँच गया? चेदो कहना है कि ऐसा मनुष्य अपनी बराबरी के दूसरे बलाविन स आगे निकल जाना नहीं चाहता। इन अपने दग स या कहेंगे कि वह जिस अपनी बला का सिद्धान्त मानता है उसकी सीमा का उत्पन्न वह नहीं करता। यदि सभी समय बलाबन्ध इसी काटि म गिने जायें तो असीम वस्तु सचय म अमात्त अयायी पुरुष अथम और अबोध बलाबन्ध की श्रेणी का मनुष्य दिखायी पगा।

सुकरात की तकविधि विद्वत्सज्जनक नहीं लगती। इसलिए नहीं कि उसे भावात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है बल्कि उसका एक अर्थ कारण भी है। समग्र प्रश्न जिस मूल से बढ़ा है, यह कारण उसको स्पष्ट करता है। जब कोई प्रश्न प्राकृतिक अथवा आदि तथ्या की उभारता है तो साधारण जन उनका सामना करने से बचते हैं। प्लेटो के अनेक परिच्छेद इस तकविधि पर प्रकाश डालते हैं। पालिटिकस (Politicus) नामक ग्रन्थ में मानदण्ड के दो भेद स्पष्ट हैं। पहला मानदण्ड वस्तुआ के परस्पर विरोधी महत्त्व को स्पष्ट करता है दूसरे के द्वारा केवल उनके महत्त्व ही नहीं प्रत्युत उनके बीच अनुपात या सापेक्ष सम्बन्ध की सूचना दी जाती है। इस सिलसिले को प्लेटो आगे बढ़ाकर कहता है कि समस्त कलाओं का अस्तित्व इस अनुपात-मूलक मानदण्ड पर निर्भर है। गार्जियस (Gorgias) के कुछ भाग में यही अर्थ विरोध मिलता है। 'प्लेनीवलीज' में इस धारणा को प्रौत्सीमकस के समान कुछ विशेष बलपूर्वक अपनाने हुए दिखाया गया है और वह उसके प्रतिबल ही जाती है। यदि निपट तकसगत ही रहने का जन लें तो जीवन सबका असम्भव हो जाय और तकसम्मत अनतिक जीवन यथायत तक दृष्टि से असम्भव और आत्मघातक होगा। अनुपात अथवा सापेक्ष सम्बन्ध महान सिद्धांत है जो जीवन तथा विश्व को एक साथ मिलाकर रखता है। फाइलेबस (Philebus) में सुकरात सीमांत की चर्चा करता है। अथर्व जिस मानदण्ड कहा गया है मूलतः सीमांत भी वही है। यह सीमांत अथवा मानदण्ड वस्तुआ को तुलनीय बनाता है जिसके बिना तुलना और मापन सम्भव नहीं है। इस ऐसा 'यापक' सिद्धांत माना गया है जिसके आधार पर केवल कला ही नहीं बल्कि प्राकृतिक नियम भी टिके हुए हैं। प्लेटो के अर्थ परिच्छेदों में सदाचार तथा मानव जीवन प्रकृति और उसकी प्रक्रिया एक कला और उसकी गतिविधि का कसौटी समानरूपेण यही सिद्धांत है।

इस सिद्धांत के विषय में एक नितांत मिथ्या धारणा बन गयी है जिससे हम बचना चाहिये। सीमांत शब्द के आधुनिक मसग और कभी-कभी मानदण्ड शब्द के भी आज के वाक्याथ इन्हीं शब्दों के प्लेटो के भावाथ से सबंधा विपरीत है। माना कि सीमांत शब्द हम प्रगति के अवरोध का संकेत करता हुआ लगता है। भास होता है कि यह शब्द किसी भी कार्य में पूर्णता पाने से हम टोकता है। प्लेटो जार अरस्तू के लिए तो ग्रीक भाषा

क सस्य म इन शब्दों की व्य-व्याप्ति विलुप्त भिन्न थी। सीमान की कल्पना में एक प्रकार की मिट्टि या उपलब्धि का भाव निहित है जिस पाप पूणता तक पहुँचना है। वह प्रगति की वाधा नहीं है प्रत्युत उसके बिना प्रगति अन्तहीन निरन्तर प्रक्रिया हो जायगी। वही दोनों प्रकार म इस शब्द का उपयोग मायक किया जा सकता है। परन्तु भाषा के प्रयोग म जो अंतर है उसी के कारण वस्तु की ओर हमारी विचार दृष्टि के भेदा का मौलिक अंतर प्रकट होता है। ग्रीक कल्पना के मानदण्ड के अभिप्राय का वाधक आधुनिक शब्द विधि या कानून है। आज हम प्रकृति तथा मनुष्य की जो कल्पना करते हैं उसमें विधि का भावाय अधिकाधिक व्याप्त होता जा रहा है। इस भावाय के दो प्रयोग हो सकते हैं। कानून या विधि को समयकारी और समयकारी गति की तरह माना जा सकता है अथवा उन क्रियाशीलता की ऐसी विधा या पद्धति समझा जा सकता है जो हम पर प्रभु नहीं हान देती। दूसरा अर्थ हो प्राकृतिक नियम का मर्यादा आगम है। इसी सच्चे अर्थ म प्लेटो मानदण्ड को भी प्रयुक्त करता है। प्लेटो और अरस्तू समान भाव म सत्य को अभिव्यक्त करने का यही सहज तरीका मानते हैं कि पुण्य या उचित और पाप या अनुचित म स्पष्ट भेद है अथवा सदाचार एक मिश्रित है। इसी के समकक्ष विचार यह है कि सीमांत अथवा मानदण्ड अधरगत सत्य है जिसके बिना मानव जीवन असम्भव हो जायगा। अरस्तू के मत का निचोड़ यह है कि सदाचार, दो उपनाशा अथवा अतिवासा का मध्य बिन्दु है। इस मानदण्ड की कल्पना का रूपांतर सम शिष्य जो सत् गिव अथवा सुन्दर के सदैव आधिभूत हान की अभिव्यजना है और जो कभी अत्यधिक या पूनवम नहीं होता। ग्रीक विचारक इस प्रकार के मानदण्ड की समदत्ता को विश्व म, सदाचरण म और समय मानव-जीवन म विवक के चेतनभाव का प्रतीक मानते थे। इस सदाचार विषयक कल्पना नहीं समझना चाहिये क्योंकि यह मानव-जीवन म सम्पन्न पूणतया विश्वव्यापी भाव है। अपन निरासे ढग से ग्रीक चिन्तक सदाचार की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि सदाचारी प्रमुप्य वही है जो सिद्धान्त को मायता देता है। उनकी दृष्टि म सदाचार, ज्ञान विज्ञान और विवक से जुड़ी हुई प्रत्येक वस्तु का परस्पर सम्बन्ध-सूत्र इसी सद्धान्तिक मायता म निहित है। अतएव प्रेसीमेन्स के साथ तब म जो विचार विषय उलझा हुआ है वह बद्धि की पट्टक के भीतर आनवाला सव्या प्राथमिक विषय

है। आशय यह है कि सदाचार सम्बन्धी चर्चा में यह विषय इतना अधिक पीछे चला जाता है कि उस हम ठीक नहीं समझते। मूल प्रश्न यह है कि मानव जीवन में कोई सिद्धांत है अथवा नहीं? परन्तु इसकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल वातावरण में हम उचित अथवा सत् के सम्बन्ध में साधारणतः चर्चा किया करते हैं। (ग्रेसीमेक्स चाहता तो वह सहज भाव से इस तकविधि का यह उत्तर तत्काल दे सकता था 'जो मनुष्य जितना लेने की शक्ति रखता है उतना लेना मंजूर रहे — इससे यह मतलब नहीं है कि वह जितना ले सकता है, उतना सचमुच और पूरी तरह लेते समय किसी भी प्रकार का सिद्धांत अथवा मर्यादा नहीं मानता। लेकिन इस ढंग का उत्तर देने का यही अर्थ होता कि वह अपने तक की पूरव स्थिति की वकालत करने के बजाय उमस विमुख हो गया।)

(आ) अयाय अथवा शक्तिभर सब कुछ लेने की प्रवृत्ति को सत्ता अथवा बल के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। तकविधि के इस पहलू का विचार विषय सिद्धांत पालन और सिद्धांतहीनता के बीच का प्रश्न है। ग्रेसीमेक्स की विवाद वस्तु का समाधान यह कहकर किया गया है कि यदि हम संपन्न बल प्रयोग का कोई उदाहरण लें तो हम एकता के किसी तत्त्व को, किसी मानदण्ड को पाते हैं जिसे ग्लूबभाव से स्वीकार करके जन-समुदाय मिल जुलकर कायरत होता है। इसी का आशय यह भी है कि अपनी शक्तिभर सम्पन्नता सब कुछ समेटने का अथवा सिद्धांत के पूर्ण अभाव का अर्थ होगा—मिताजुलकर काम करने की अयोग्यता और फलस्वरूप विच्छेद तथा विनाश। किसी भी समाज में राज्यरूपी विशाल समाज में सेना में अथवा दस्यु समूह सरीखे छोटे संगठन में अयाय की सफलता याय की किसी निहित भाव्यता से निरंतर स्फूर्त होती है। इसी का अनुसरण करके सुकरात प्रतिपादित करता है कि याय शांति कम केवल किसी बाहरी रूप का विवेचन नहीं करता, अथवा महत्व अपने बल या अपनी सत्ता का स्वामी है। फिर जहाँ कहीं भी उसका निवास होगा चाहे समाज में या व्यक्ति के अंतःकरण में वह अपने प्रभाव को हमेशा सूचित करेगा। व्यक्ति के अंतःकरण की ओर ध्यान दिलाकर सुकरात जताना चाहता है कि याय-बोध का संयोग ही व्यक्ति के बल की इसी तरह समाज के बल की उपाधि है। ऐसा मानते ही, हम याय की बाह्यचरण अवस्था के स्थान पर उसे मानव के अंतःकरण का एक जीवन्त सिद्धांत मान लेंगे जो जीवन निर्वाह

म स्वतः गतिमान होता है। यही प्रस्तुत विषय की प्रतिपादन गली का प्रथम सतत है जो रिपब्लिक के मभूच गोप भाग की प्रधान धारणा है। निरवुग अयाय के सिद्धान्त का अर्थ है—आत्म-सयोग अथ मनुष्या की मगति और इश्वर-योग की अमम्यायता। जहाँ-कहीं बल का दान होता है वह याय अथवा सयोग के किसी सम्मिश्रण का प्रभाव ही होगा।

- (६) अब विवाद-वस्तु का इतना अण शेष रहता है कि अयायी मनुष्य यायी की अपेक्षा ‘अधिक मुनी अथवा अधिक कुशल जीवन’ बिताता है। इससे उत्तर म प्यटो निपट सृज दण से उम कल्पना का स्वरूप शीलकर रखना है जो अरस्तू के नीति शास्त्र (Ethics) की मूलभूत कल्पना है। नीति शास्त्र के प्रथम अध्याय म अरस्तू पूछता है मुक्त क्या है? जीवन का यथाय प्रयोजन क्या है? उत्तर देने के लिए फिर वह प्रश्न करता है क्या मनुष्य के रूप म मनुष्य का कोई कर्तव्य होता है? वह कर्तव्य को सदाचार का मवधा निकट सम्बन्धी मानकर उसकी परिभाषा करता है। इसका सीधा अर्थ है—कर्म की महत्ता या प्रतिष्ठा कर्तव्य-निर्वाह का उत्पन्न। हम भली भाँति समझता होगा कि यही अभिप्राय श्रीक चिन्तन म सदाचार की व्याख्या म व्यक्त किया गया है। प्रस्तुत परिच्छेद म मुकरात की तकविधि इन प्रकार है प्रत्येक वस्तु का एक नियत कर्तव्य है अर्थात् जो वस्तु क्रियाशील है अथवा कोई अन्य वस्तु उत्पन्न करती है उसमें तदनुरूप गुण रहना है। प्रत्येक वस्तु जिस क्रिया अथवा कर्तव्य का एकमात्र निमित्त या श्रेष्ठ निमित्त है वही उस वस्तु का निश्चित कर्तव्य है। वस्तु का गुण ही उसे कर्तव्य निर्वाह में कुशल बनाता है। जब निमित्त कम कुशल होता है तब उसका इसी गुण को सदगुण या धर्म कहने हैं। जैसे, आल का गुण देखना है और कान का गुण है सुनना तो सम्यक् दृष्टि तथा सम्यक् श्रवण इनके धर्म कहलाय। मनुष्य की आत्मा निश्चित कर्म में सम्बद्ध है यद्यपि कहा जा सकता है कि उसके विविध कर्म होते हैं। परन्तु मामा य शब्दावली में इन विविध कर्मों को एक प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि मानवात्मा का कर्म जीवनयापन है। (प्रीक जाति आत्मा को जीवन-तत्त्व के आश्रय म प्रयुक्त करती थी) तो उसका धर्म वह गुण कहनायगा जो उस जीवनयापन म कुशल बनाना है। अतएव यदि अभी तक का हमारा कथन उचित माना जाय तो याय ही मनुष्य का धर्म है अयाय नहीं यायशील मनुष्य ही कुशलता से जीवन निर्वाह कर सकता है अयायप्रिय व्यक्ति नहीं और कुशल जीवन ही मुरी होता है।

फिर यही तत्त्वविधि नितान्त दुर्गोष हो जाती है। हम इस दुर्गोषता का भग करना चाहिये और कहना चाहिये कि सत्साधार में गुणधर्म का आशय दृष्टि तथा श्रवण व गुणधर्म से संबंधाभिन्न है और कुशल जीवनयापन से गुण का जमा अभिप्राय निवृत्तता हुआ दीर्घ पड़ता है उसमें बहुतेरे दूसरे व्यक्तियों का भी समावेश रहता है। इस भाँति की गुणविधि अथ-व्याप्ति ही हम तत्त्वविधि का आधार है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति स्पष्ट और नियत आशय मिल सके। मनुष्य और घाड़े व मनुष्य एक दूसरे से अलग-अलग हैं किन्तु उनमें बौद्ध-सा समान तत्त्व है जिसमें हम उन दोनों में गुण कहकर पुकारते हैं। क्या हम किसी भी वस्तु को सद्गुण कह सकते हैं चाहे कम की निपुणता का उगम समाधान न रहे और चाहे हम गुण का पात्र कोई क्या न हो? क्या अच्छी या बुरी वस्तु कहना से हमारा आशय इसके अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता है कि वह नियत कम करने में कुशल अथवा अकुशल है? इसी प्रकार गुण अपने व्यापक अथ म हिन क्षम अथवा कुशल को समेट हुए है जिससे वह बहुत जटिल वस्तु बन जाता है। फलतः यदि उस समूह व्यापक का वर्णन करने में सहजा समय नहीं है जिसमें सबलित अभिप्राय का नाम गुण कहलाता है। किन्तु क्या हम गुण में निश्चय ही यह गूढ़ाशय नहीं मिलता कि मानवार्त्मा अर्थात् मनुष्य की समस्त प्राणशक्ति की यही उत्तम व्यवस्था है अथवा वह अपने नियत वस्तुओं को इसी से निपुणतापूर्वक किया करती है? यदि सद्गुण या धर्म और गुण का यही प्रयोजन है जो हमारे भावार्थ से प्रतीत होता है तो यह निष्पन्न निवृत्तता है जब जनसमुदाय एक मत से यह मानने को तैयार हो जाता है कि निर्धारित आचार-व्यवहार से धर्म अथवा सदाचार का स्वरूप स्थिर होता है तब उसका हमारे सिवा दूसरा आशय नहीं हो सकता कि इसी व्यवहार में उस सुख की अनुभूति होती है। यदि कोई यह कहे कि जिस वह सदाचार मानता है गुण या धर्म नाम से अभिप्रेत वस्तु का उससे कोई सरोकार नहीं है तो सदाचार और सुख दोनों धर्म के वास्तविक अर्थ से वह परिचित ही नहीं है। सार रूप में पेटो इसी दृष्टिकोण को इस भाग में प्रतिपादित करना चाहता है।

तत्त्वविधि के विद्युत दो भाग द्वितीय अध्याय के प्रथम अर्ध-भाग की भूमिका तैयार करते हैं। धर्म अथवा सदाचार की स्वरूप धारणा क्षीण होती जाती है और उस प्राणशक्ति की एक मूलतः सहज क्रिया मानने के लिए हमें योता

जाता है। द्वितीय अध्याय में स्नोबन तथा एंडीमेण्टम इसी धारणा को ग्रहण और विकसित करने का आग्रह करते हैं।

प्रथम अध्याय की समाप्ति में पूर्व संयोगवत् आग आनेवाले दो मनीभाव हम विचारणीय जान पड़ते हैं।

१ प्रोसीमेक्स खट्टे मन से सुकरात की प्रसिद्ध व्यंग्याक्ति का उल्लेख करता है जो विपक्षी का खण्डन करने के लिए अनान का छल हुआ करता है। अस्तूरचित नीति शास्त्र (Ethics) में व्यंग्यपटु वह व्यक्ति है जो विवाद में अपनी यथाय प्रतिभा को बहून् कम प्रकट होन देता है। इसी साधारण अर्थ में व्यंग्याक्ति एक सामाजिक गुण है जो दर्प अथवा शुद्धता का नितान्त विपरीत रूप है। यही कपटाचार या मिथ्या विनय बन जाता है जब कोई व्यक्ति निरन्तर अपनी तुच्छता का स्वाग करता है और तब माधारणतः हम यही सोचने लगते हैं कि वास्तव में एक व्यक्ति का एकमात्र गुण उसका दय है। परन्तु सुकरात की व्यंग्याक्ति केवल सामाजिक व्यवहार में पक्षी की मृदुलता नहीं थी कपटाचार अथवा छद्म विनय तो उस कहा हो नहा जा सकता। ज्ञान की अक्षयता के निमित्त बोध से सुकरात के मानस में इस व्यंग्याक्ति का आविर्भाव हुआ था। उसके उदगारा की तुलना ईसाईमत के उपदेश में व्यक्त इस प्रश्न से कर सकते हैं क्या मुझे मुजन कहता है तू? सुकराती व्यंग्य की यही गहन सायकता है। जो पातक्य है उससे भिन्न करे तो सुकरात क्या, कोई दूसरा भी कुछ नहीं जानता। उसका कथन है कि जिनमें मैं बातचीत की, उनकी अपक्षा में अधिक विवेकवान इस लिए हैं कि मुझ अपने अज्ञान की प्रतीति है। निस्संदेह वह जिन लोगों से वात्सलाय करता था, आमतौर पर वे सब उससे बड़ी अधिक अज्ञानी थे। और यदि कोई अपरिचित मनुष्य उसके साथ सम्भाषण करता तो अनान की यह सतत भावना एक प्रकार का हास्यास्पद ‘व्यंग्य-ता’ खगती जिसे सुकरात के पक्ष को सफल बनाने के लिए ही जान-बूझकर अपनाया गया है। (‘भाग्य का व्यंग्य’ से तुलना की जा सकती है, भाग्य का व्यंग्य कहने समय उस मनुष्य का ध्यान आता है जो अपनी यथाय परिस्थितियाँ से सबका अचेत रहकर आचरण करता है।)

२ प्रोसीमेक्स ने ‘रिपब्लिक’ के चर्चागत विषय की गति दन में प्रगमनीय याग्यान किया है। सुकरात और वाक-पण्डित (Sophists) में एक भेद यह बताया गया है कि वाक-पण्डित बेतनभागी थे सुकरात ने कभी पैसा नहीं लिया। अनाफान (Xenophon) से विदित है कि प्लेटो के समान सुकरात बेतन लेने की रीति की सचमुच बुरा नहीं समझता था। लेकिन उसकी धारणा थी कि बतन

लेनेवाले में वह एक प्रकार की हानता का लक्षण है। सेनोफान बताता है कि सुक्रात ने कभी अपने उपदेश के बदले धन नहीं चाहा। या तो वह धन अथवा भोग साधन के प्रति उदासीन रहता था। उसके कथनानुसार हम सम्बंध में सुक्रात की धारणा यह भी कि घनाशा रहित होने से उसकी स्वाधीनता निरापद रहती है। उसे लगता था कि जो लोग समाज हित के लिये धन ग्रहण करते हैं वे अपने आपका धनदाता का दास बना देते हैं। सेनोफान यह भी कहता है कि एण्टीफान ने धन विरक्ति के लिए सुक्रात का काफी झिड़का और कहा कि वह इमानदार आदमी तो था मगर वह अपने हित को नहीं समझता था। सुक्रात उत्तर देता है कि यह सुविचार या विवेक को सौंदर्य मानता है और उसकी दृष्टि में सुविचार का बँचकर धन कमाना उन दुश्चरित्र करना है। दूसरी तरह कहें तो सत्य ऐसी वस्तु है जिसे बेचा या खरीदा नहीं जा सकता तथा उस धन में आकर्षण पदच्युत करना है।

आधुनिक धुड़ि को यह स्थान देहूदा लगता है कि किसी वस्तु के बढन धन ग्रहण, पतन का लक्षण है। असल सवाल यह है कि धन ग्रहण कहाँ तक और क्याकर धन लेनेवाले के प्रयोजन तथा मन स्थिति पर प्रभाव डालता है। कतिपय मनुष्य इससे लेशभर भी प्रभावित नहीं होते। लेकिन हम तरह धन लन वाल और देनेवाले के बीच का नाता सचमुच बहुत बडे स्तरे में पड जाता है। बहुसंख्यक लोग का स्वतंत्रमति तथा मनोभाव की निमलता इससे घटने लगती है। आजकल ज्यादातर प्रत्येक प्रकार का काय पेशा करने की धुन में दिग्वाया दे रहा है और इस क्रिया में उसके गुणों का ह्रास निहित है। शायद पुरोहित या धर्माचार्य पर मुख्य रूप से इसका असर दिखायी देता है यद्यपि डाक्टर वकील और दूसरे किसी भी पेशे के लोग भी बराबर इसी क्षमता में पडते गये हैं। बिल कुल यही बात सुक्रात और प्लेटो को बाक पण्डितों (Sophists) के बारे में लगी होगी, वस यह धारणा सच्ची है। इसमें शका नहीं कि पनेवर हो जाने के कारण ये बतनिक तार्किक (Sophists) धनगताओं के अधीन हो गये और सत्य की प्रतिष्ठा खतरे में पड गयी। उन्हें जनता की रचि का ध्यान रखकर प्रवचन करना लाभप्रद जान पडा जबकि सुविचार या विवेक का प्रसार उनका परम लक्ष्य था। फिर भी कुछ महान तार्किक हुए हैं जिन्हें धनलोलुप कहने का कोई आधार नहीं मिलता। उनमें से प्रोतागोरस एक था जो श्रोताओं से उतना ही लेना उचित मानता था जितना वे देना ठीक समझते थे।

‘रिपब्लिक’ के मूल प्रश्न का विवरण

प्रथम अध्याय के अन्त में स्पेटी, स्वयं उसकी जालोचना में हम परिचित कर देता है। उसमें मुकरात का यह मानने की स्थिति में पहुँचा गया है कि एक दृष्टि से इस तत्त्वविधि का परिणाम शून्य है। स्पष्ट है कि ‘याप’ क्या है—यह प्रश्न हल नहीं हुआ। और इसी कारण वह आचारनीति या मर्यादा है तथा उसमें मनुष्य मुक्त पाता है—इसे भी हम निश्चित नहीं कर सकते। अभी तक की चर्चा में वस्तु की सहायता परिस्थितियों पर ही हमने विचार किया है और स्वयं न्याय के बोध में अधिक रह है।

जो चर्चा अब तक हो चुकी है उसका निचोड़ इतना ही है कि इसमें कति पक्ष वस्तुएँ सामने आयी जिन्हें ‘याप’ की मर्यादा नहीं दी जा सकती। कई प्रकार की प्रमुख कल्पनाएँ जन्मे—कला विवेक या मुक्ति, हित दिया हुआ और उनका विस्तार किया गया। आगे चलकर सिद्ध हुआ कि प्रोसीमेक्स का मन अपने मूलरूप में कुछ निश्चित तथ्यों का समाधान नहीं कर पाता—अर्थात् हठ तथा निपट स्वार्थपरता मनुष्य को जीवन के उचित निवहन का कोई निश्चित उपलब्ध करान में सक्षम है। किन्तु ग्लोवन और एडोमण्टस की धारणा है कि भले प्रोसीमेक्स को चुप कर दिया गया हो उसके विपक्ष में प्रस्तुत तक विद्वानों जनक नहीं है। वे उसकी विवाद वस्तु को फिर उठाते हैं और अभी तक दिए गये उत्तर से सक्षम भिन्न समाधान की माँग करते हैं। ग्लोवन के अनुसार यह सिद्ध करना गैर है कि स्वयं ‘याप’ तथा अ-‘याप’ मनुष्य के अन्तःकरण की शक्ति के रूप में किस अभिप्राय की क्षमता रखते हैं। अथवा एडोमण्टस के शब्दों में अ-‘याप’ की अपेक्षा ‘याप’ अधिक हितावह है—इसे तत्काल ही सिद्ध करना जरूरी नहीं है बल्कि इनमें से प्रत्येक के धारक पर इनके प्रभाव का भी

प्रतिष्ठित करना होगा। प्रथम अध्याय व अन्तिम खण्ड इसी प्रश्न की ओर संकेत कर रहे हैं।

प्रथम अध्याय व तब-नाथ और गुरु का स्थिर तथा गुरु प्रयोग पर निर्भर व्यक्तित्व व आग बढ़कर द्वितीय अध्याय व मनाविज्ञानिक एवं स्थूल मानव स्वभाव व विनियम-योग में अब हम प्रवेश करेंगे (प्लेटो की व्यक्तित्व अथवा विनियम की प्रेरणा से अनेक मनाविज्ञान व आधार पर एक वास्तविक जनमण्डल का निर्माण करना है।) साथ ही वैयक्तिक अनुभवत्रय वस्तुस्थिति उधार और अधूरे अधस्तुत गुरु एवं निःसंशय वाक्य भट्टा व विराधाभास व निपटकर अब हम समाज की वाता और जनमन का परमन बन हैं जो उसका माय नताभा व अथवा सामाजिक तथा पाश्चात्तिक जीवन व दैनिक विचार विनिमय व व्यक्त होता है। १० अध्याय परिवर्तन का एक और संकेत है। अभी तक हमारे समक्ष अज्ञान का द्वन्द्व करनेवाले गुरुणात व मूर्ति रही है जो सहज दृष्टि से तब बुद्ध ध्यानपूर्वक सुनता है प्रश्न करना है और संकेत करना है। अब हम एक सुवर्ण व नेत्र करेंगे जो मयीन तथा उग्रत आध्यात्मिक व व्याख्याता का प्रतीक है।

साक्षी है कि मानव मस्तिष्क से टकरानेवाली प्राथमिक समस्याओं में यह सप्रश्न निरन्तर बना आ रहा है।

प्रिय वस्तुओं के श्रेणीकरण से ग्लोबल चर्चा शुरू करता है। उसने प्रिय वस्तुओं तथा वांछित पदार्थों के कारण प्रिय होनेवाली वस्तुओं के स्पष्ट भेद पर इस श्रेणीकरण का आधारित किया है। एडीमण्ड्स के साथ ग्लोबल इस प्रारणा में एक मत है कि 'याय' स्वतः सुखकर है। परन्तु याय की मूलवर्ति के प्रियत्व की प्रतीति करने के लिए वे चाहते हैं कि फल से संवधा पृथक् रखकर याय की व्याख्या की जानी चाहिये। कारण जब तक आचारनीति को उभरवा नहीं दिया गया अथवा मूल परिणामों और उनके हमेशा जुड़नेवाले लाभों से पृथक् करके न देखेंगे तब तक हमें यह निश्चित रूप से नहीं मालूम हो सकती कि हम किस वस्तु पर विचार कर रहे हैं। प्रेसीडेंट्स के तक वित्त के शरीर आचारनीति को व्यवहार के कुछ बाहरी परिणामों में संकुचित कर देती है। ऐसा करते ही आचारनीति के किसी नैतिक भेद की वास्तविकता ही लुप्त हो गयी। ध्येय तो यही रह गया कि सामर्थ्य की अंतिम सीमा तक भौतिक समृद्धि करने में ही लग रहना चाहिये। इसमें सफलता पाना 'याय' है और असफल होना 'अयाय'। तत्त्वतः आचारनीति जैसी कोई वस्तु नहीं है वह एक परम्परा मात्र है। अतएव ग्लोबल जरूरी समझता है कि 'याय' तथा 'अयाय' के भेद का संवधा शुद्ध रूप में अंकित करना चाहिये। एक ओर 'याय' और दूसरी ओर 'यायजनित' सम्पूर्ण भौतिक फल रखे जायें जो 'याय' से विलग किये जा सकते हैं। वह कहता है 'याय' को उठाकर दे दो। इसके प्रतिपक्ष में उन सभी प्रिय या सुखकर वस्तुओं को जमा करो जिन्हें अक्सर 'याय' के साथ जुड़ा हुआ समझा जाता है और जो संवधु उभरते सम्बद्ध नहीं होते बल्कि जो वास्तव में अयायी होते हुए भी 'यायी' समझे जानेवाले के कार्य का परिणाम हुआ करती हैं। तब सप्रमाण समझाईय कि यह शुद्ध सिद्धांत अपनी सत्यता का स्वयं प्रमाण होने के कारण इसके विपक्ष में प्रस्तुत किसी अन्य वस्तु से अधिक श्रेयस्कर जीवनोद्देश्य है।

उक्त दोनों युक्त चाहत है कि मुकरात इसी दृष्टिकोण का समर्थन कर। उत्तर की सुविधा के लिए वे स्वयं इस दृष्टि के विरुद्ध कुछ सामग्री सुवरात के सम्मुख रखते हैं यद्यपि वे प्रचलित मत उनके अपने उद्गार नहीं हैं फिर भी इन चर्चनसार प्रारणाओं का खण्डन उनके लिए बठिन है।

सबसे पहले ग्लोबल उस मतविद्वु को प्रकट करता है जो उस अत्यधिक व्यथित कर रहा है। माना कि आचारनीति संवधु अच्छी चीज है, लेकिन यदि

वह इमीलिए अच्छी है कि उसके बल पर कुछ भौतिक फल मिलते हैं तो वह सहज श्रेयस या श्रेष्ठ वस्तु नहीं रह जाती बल्कि बहुत बड़ी अच्छाई और बहुत बड़ी बुराई के बीच एक ममथौता भर होता है। 'याय' क बिना बाहरी लाभ का उपभाग बड़ी अच्छाई है और अन्याय क प्रतिदण्ड की भोगना बड़ी बुराई है। ग्लोकन के इस दृष्टिकोण में तीन स्पष्ट विचार्य विषय हैं। प्रथम वह 'याय' के आदि-स्रोत का वाद प्रस्तुत करता है। 'याय' के जन्म की परिपाटी का वर्णन करके वह उसकी मूलवृत्ति को समझाता है। दूसरा वह मानता है कि मनुष्य 'याय' का द्वितीय श्रेणी की श्रेष्ठ वस्तु समझकर उसका अनुमर्ण करते हैं और यह भी अपनी यथाथ इच्छा के विरुद्ध सहज भाव में नहीं। वह कहता है कि यदि वह चने ता हम सब अयायशील होना ठीक समझेंगे। तीसरा उसकी दलील है कि इस प्रसंग में मानवजाति की सामान्य भावना ही युक्तिसंगत है क्योंकि अगर हम ठोस बातों को ठीक तरह समझें तो हम पाते हैं कि जीवन क समूचे लाभ अयाय क पक्ष में हैं अथवा हा सक्ने हैं बगैर अयायी मनुष्य चतुर हा। निष्कर्ष यह है किमी भी दशा में यही सम्भव है कि आप दो में से एक प्रणाली को स्वीकार करें। एक ओर जीवन की ममस्त सुविधाएँ और समूचा सत्तावल है तथा दूसरी ओर 'याय' का गुड या नग्न सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में क्या आप कह सकते हैं कि इन दोनों तरीकों में से 'याय' अपेक्षाकृत श्रेयस्कर है ? और यदि आप ऐसा ही मानते हैं तो श्रेय शुभ या सत में आप किस अभिप्राय का ग्रहण करते हैं।

एडीमण्ड्स दो भिन्न प्रकार की धारणाओं को व्यक्त करता है। पहली धारणा ऊपरी तौर पर ग्लोकन द्वारा वर्णित मत का बिल्कुल विपरीत रूप दिखायी देती है परन्तु वास्तव में समान 'यवहारोचित' फल की ओर ही उसका ध्यान है। उससे मानो यह ध्वनि आती है— 'यायशील बनो। न्याय इस लोक और परलोक दोनों में श्रेष्ठ फलदाता है।' सार है कि 'यायशील' मनुष्य उन्नति करता है। सत्याचरण श्रेष्ठ नीति है—इससे अधिक यह धारणा कुछ नहीं कहती। यह नहीं कहा जाता है कि यदि दुराचार करते रहने के साथ उसके कारण मिलने वाले दण्ड से मुक्त बने रहने की व्यवस्था हो सके तो क्या पूछना। ग्लोकन के सोचने के ढंग से यह बात भिन्न दिखायी देती है। लेकिन इसमें और ग्लोकन क दृष्टिकोण में समान भाव यह है कि 'याय' अपार बाहरी लाभों की लालसा में धुल जाता है। निष्कर्ष निम्नान्वित कि 'याय' का यशोगान यथायत महत्त्वपूर्ण है स्वतः न्याय 'यय' है। इस धारणा का संस्कार निम्ना प्रणाली और कुटुम्ब जीवन

म बहुत सहज गति से रोपा जाता है। दूसरी धारणा है 'याय स्वतः ममार म सबधेष्ठ है परंतु अयाय अपेक्षाकृत अधिक रमणीय है और यदि यथोचित व्यवस्था कर ली जाय, तो उस सन्तापजनक फल का निश्चित उपाय बनाया जा सकता है। इस विषय के मूल तर्क पट्टचने पर सत्यता है कि देवगण स्वतः 'यायप्रिय नहीं है बल्कि अयाय या दुराचार की वमर्द में उनको खरीदा जा सकता है। 'याय के उच्छेद के लिए इससे अधिक प्रबल युक्ति और क्या हो सकती है कि इसमें देवचरित्र को झट्ट करने की क्षमता है।

जिस परिच्छेद में ये विभिन्न मतवाद पाए जाते हैं वह इसलिये प्रासंगिक महत्त्व रखता है कि धर्म, राजनीतिक अधिकार और विधि या कानून-विषयक उस समय की प्रचलित सम्मतियाँ उससे प्रकाश में आ जाती हैं। पहले तो ग्लोबल 'याय की आदिम अवस्था का ऐतिहासिक उदगम की समझावर उसके मूलस्रोत-सम्बन्धी विख्यात सिद्धान्त की सामने रखता है। यह सबसे पहला, लिखित रूप में प्राप्त वस्तु है जिससे हम एक सिद्धान्त मुलभ हुआ और जिसने तब से समार में अपने प्रभाव की फैलाया है। सिद्धान्त है कि नैतिक दायित्व का उदगम सचि है (चाहे वह पूष या अग रूप में हो।) इन सिद्धान्त का प्रयोग अत्यन्त विपरीत हितों के लिए किया जा सकता है और किया गया है। सचचा प्रतिकूल स्थितियों का उचित बनाने के लिए भी इसे काम में लाया गया है। जिस तरह ग्लोबल इस प्रस्तुत करता है और जिस तरह इसे हम निरूपित करमा चाहेंगे, इसका स्वरूप या है वस्तु जगत के स्वभाव में अयाय करना श्रेष्ठ है, परंतु अनुभव में मनुष्य ने समय लिया कि अयाय के व्यापार में दण्डमुक्ति नहीं होती। सबसे बड़ी बुराई यह है कि प्रतिशोध की सामर्थ्य के अभाव में ही अयाय का सहन करना पड़ता है। यही कारण है कि मनुष्य ने कानून और सस्याओं का निर्माण करके इसका समझौता कर लिया जा निवृत्ततम बुराई में उसकी रक्षा करती रहें चाहे उसका अधिक से अधिक लाभ का माधन इन्हें न बनाया जा सक।

यह कल्पना निनात अतिहासिक है कि कोई आदिम सचि समाज का आधार है। जिन वतिषय ग्लोबल ने इसका उपयोग किया है वे भी इसे डब की चाट पर मिथ्या कहन हैं परंतु इसका प्रभाव में किसी तरह की 'यूनता नहीं आयी। अतीत में कल्पना की पट्टच के सचचा अदभुत उगाहरणों में यह भी एक है जिसने भूतकाल की सामार और ठास रूप दिया है। स्वणयुग जसी माय ताआ का अनुरूप ही इस ममझना होमा। स्वणयुग अतीत में ऐसे आन्द की वस्पर्ता है जिस मनुष्य वस्तमान में भी पाल पोस कर लिये फिगता है। इसकी

वह इसीलिए अच्छी है कि उसके बल पर कुछ भौतिक फल मिलते हैं तो वह महज श्रेयस या थोष्ट वस्तु नहीं रह जाती बल्कि बहुत बड़ी अच्छाई और बहुत बड़ी बुराई के बीच एक ममझौता भर होना है। 'याय' व 'बिना' बाहरी लाभ का उपभोग बड़ी अच्छाई है और अयाय के प्रतिदण्ड को भोगना बड़ी बुराई है। ग्लोकन के इस दृष्टिकोण में तीन स्पष्ट विचार्य विषय हैं। प्रथम वह 'याय' के आदि-स्रोत का वाद प्रस्तुत करता है। न्याय के जन्म की परिपाटी का वर्णन करके वह उसकी मूलवृत्ति को समझाता है। दूसरा वह मानता है कि मनुष्य 'याय' की द्वितीय श्रेणी की थोष्ट वस्तु समझकर उसका अनुसरण करते हैं और यह भी अपनी यथाय इच्छा के विरुद्ध सहज भाव से नहीं। वह कहता है कि यदि बग चले तो हम सब अयायशील होना ठीक समझेंगे। तीसरा उसकी दलील है कि इस प्रमय में मानवजाति की सामान्य भावना ही युक्तिसंगत है क्योंकि अगर हम ठोस बातों को ठीक तरह समझें तो हम पाते हैं कि जीवन के समूचे लाभ अयाय के पक्ष में हैं अथवा हो सकते हैं बशर्ते अयायी मनुष्य चतुर हो। निष्कर्ष यह है कि किसी भी दशा में यही सम्भव है कि आप दो में से एक प्रणाली को स्वीकार करें। एक ओर जीवन की समस्त सुविधाएँ और समूचा मत्ताबल है तथा दूसरी ओर 'याय' का शुद्ध या नग्न सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में क्या आप कह सकते हैं कि इन दोनों तरीकों में से 'याय' अपेक्षाकृत श्रेयस्कर है? और यदि आप ऐसा ही मानते हैं तो श्रेय शुभ या सत् में आप किस अभिप्राय को ग्रहण करते हैं।

एडीमेण्टस दो भिन्न प्रकार की धारणाओं को व्यक्त करता है। पहली धारणा ऊपरी तौर पर ग्लोकन द्वारा वर्णित मत का बिलकुल विपरीत रूप दिखायी देती है परन्तु वास्तव में समान 'यवहारोचित' फल की ओर ही उसका रुकान है। उससे माना यह ध्वनि आती है— 'यायशील बनो। न्याय इस लोक और परलोक दोनों में श्रेष्ठ फलदाता है।' सार है कि 'यायशील' मनुष्य उन्नति करता है। सत्याचरण श्रेष्ठ नीति है—इससे अधिक यह धारणा कुछ नहीं कहती। यह नहीं कहा जाता है कि यदि दुराचार करते रहने का साथ उसका कारण मिलन बाल दण्ड से मुक्त बन रहने की व्यवस्था हो सके तो क्या पूछना। ग्लोकन के सोचने के ढंग से यह बात भिन्न दिखायी देती है। लेकिन इसमें और ग्लोकन के दृष्टिकोण में समान भाव यह है कि 'याय' अपार बाहरी लाभों की लालसा में धुल जाता है। निष्कर्ष निम्नलिखित कि 'याय' का यथागमन यथायत महत्त्वपूर्ण है स्वतः न्याय व्यर्थ है। इस धारणा का संस्कार शिक्षा प्रणाली और कुटुम्ब जीवन

म बहुत महज गति से रोपा जाता है। दूसरी धारणा है 'याय स्वतः समारम' सबश्रेष्ठ है परन्तु अयाय अपेक्षाकृत अधिक रमणीय है और यदि यथोचित व्यवस्था कर ली जाये, तो उसे सतोषजनक फल का निश्चित उपाय बनाया जा सकता है। इस विषय के मूल तत्व पहुँचने पर लगता है कि देवगण स्वतः 'यायप्रिय' नहीं हैं बल्कि अयाय या दुराचार की बर्माई से उनको खरीदा जा सकता है। 'याय' का उच्छेदक के लिए इससे अधिक प्रबल युक्ति और क्या हो सकती है कि इसमें देवचरित्र को भ्रष्ट करने की क्षमता है।

जिस परिच्छेद में ये विभिन्न मतवाद पाये जाते हैं वह इसलिए प्रासंगिक महत्व रखता है कि धर्म, राजनीतिक अधिकार और विधि या कानून विषयक उस समय की प्रचलित मन्मथियाँ उससे प्रेरणा में आ जाती हैं। पहले तो ग्लोबल 'याय' की जाति अवस्था के ऐतिहासिक उद्गम की समझाकर उसके मूलस्रोत-सम्बन्धी विस्थापित सिद्धान्त को सामने रखता है। यह सबसे पहला निश्चित रूप में प्राप्त वस्तु है जिससे हम एक सिद्धान्त सुनभ हुआ और जिसने तब से समारम अपने प्रभाव को फैलाया है। सिद्धान्त है कि नैतिक दायित्व का उद्गम सधिय है (चाहे वह पूण या अण रूप में हो।) इस सिद्धान्त का प्रयोग अत्यन्त विपरीत हितों के लिए किया जा सकता है और किया गया है। सबका प्रतिकूल स्थितिमा को उचित बनाने के लिए भी इस काम में लाया गया है। जिस तरह ग्लोबल इसे प्रस्तुत करता है और जिस तरह इस हम निकृष्टित करना चाहेंगे इसका स्वरूप यों है वस्तु जगत् के स्वभाव में अयाय करना श्रेष्ठ है, परन्तु अनुभव से मनुष्य ने समय लिया कि अयाय के व्यापार में दण्डमुक्ति नहीं होनी। सबसे बड़ी बुराई यह है कि प्रतिशोध की सामर्थ्य के अभाव में ही अयाय को सहन करना पड़ता है। यही कारण है कि मनुष्य ने कानून और समस्याओं का निर्माण करके इसमें समन्वयता बन लीया जो निवृष्टतम बुराई में उसकी रक्षा करती रहे चाहे उसके अधिक से अधिक लाभ का साधन दृष्ट न बनाया जा सके।

यह कल्पना निम्नात अनेतिहासिक है कि कोई आदिम सधिय समाज का आधार है। जिन कतिपय लेखकों ने इसका उपयोग किया है वे भी इसे डबे की चाट पर मिथ्या कहते हैं परन्तु इसके प्रभाव में किसी तरह की 'यूनना' नहीं आयी। अतीत में कल्पना की पहुँच के सबंधा अदभुत उदाहरणों में यह भी एक है जिसने भूतकाल को साधारण और ठोस रूप दिया है। स्वर्णयुग जमी माय ताआ का अनुसंधान ही इसे समझना होता। स्वर्णयुग, अतीत में एक आत्मा का वर्णन है जिस मनुष्य वस्त्राल में भी पाल पोत कर लिए पिरता है। इसकी

तुलना भावी परमसुख-शान्ति की बाल सम्बन्धी आस्था से भी की जा सकती है। यथायथ यह आस्था इस महत्त्वपूर्ण तथ्य पर टिकी है कि प्रत्येक सम्य जन मण्डल, वैसे कोई भी साधारण समवाय (जनमण्डल), अपने अस्तित्व के लिए अपने सदस्यों के अधिकारों का मानने की परस्पर स्वीकृति देता है और यही नि शब्द सचि है। अनतिहासिक यह तब हो जाती है जब हम इस तरह कहन लगते हैं जस ससार के इतिहास में कभी मनुष्य मात्र एकत्र हुए और उहाने चर्चा करके समाज निर्माण का एक समझौता कर लिया। ऐसा कभी हुआ ही नहीं। परन्तु इस कल्पना की युक्ति में कृत्रिम इतिवृत्तात्मक विवरण के पर जो बल है वह वर्तमान के यथाय सत्य को प्रकट करता है।

जसा पहले कह चुके हैं इस कल्पना का उपयोग नितान्त विभिन्न उद्देश्या से किया गया है। हॉब्स (Hobbes) ने निरंकुश नृपवाज के समर्थन में इसका प्रयोग किया और रूसो (Rousseau) ने जनता की इच्छा के असीम प्राधिकार की इसी के आश्रय से सिद्ध किया। स्पष्ट है कि यह कल्पना कितनी सरलता से परस्पर प्रतिकूल अर्थ में प्रयुक्त हो जाती है। एक तरफ यह कहा जा सकता है कि किसी सम्य जनमण्डल में कुछ आदिम अधिकारों की परम्परा निभाने के लिए आपस में यह समझौता किया और इसी सचि के निर्वाह पर उस जनमण्डल का अस्तित्व निभर है। अतः एक सशक्त शासन अथवा किसी प्रकार के शासन की सभास आवश्यक हो जाती है और प्रचलित कानून की मर्यादा का अतिक्रमण करने का अवसर किसी वस्तु को नहीं दिया जा सकता। ठीक इसी तरह दूसरी तरफ यह भी कहा जा सकता है कि आज का शासनतन्त्र केवल निशब्द सचि पर स्थित है और जिस जनसमुदाय ने इस सचि में सक्रिय सहमति दी है वह उचित समझे तो शासन को भंग करने के लिए सर्वथा स्वतन्त्र है। ग्लोबन जिस तरह इसका प्रयोग करता है उसके अनुसार यह सचि-कल्पना क्रान्तिकारी हित के लिए और विनाशक ध्यय से बचाने में लायी जाती है और इस प्रकार के उपयोग में यह सिद्ध करने की नीयत रहती है कि याय समझौता और परिपाटी मात्र है। इससे अतिरिक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभिप्राय पर भी ध्यान देना है कि समस्त परिपाटी और इसलिए ममय विधि या कानून मानव प्रकृति के साथ एक तरह का कृत्रिम बलात्कार है।

इस प्रकार ग्लोबन की तकविधि के मूल में स्वभाव और विधि अथवा परिपाटी का जो विलोम है उसका प्लेटो के युग में बहुत प्रचलन था। अन्य बहुतेरे विलोम के समान जितने मुह उतने ही अर्थ इस विलोम के भी थे। परस्पर

प्रतिकूल धारणाओं ने उत्पन्न कर इसे निश्चित आशय के लिए अममय बना दिया था और सूची यह है कि इसीलिए यह बात बराबर प्रभावी बनी रही है। सबसे पहले दगन के इतिहास में इसकी चर्चा यहाँ मिलती है जहाँ मूल प्रकृति के निमित्त इसका प्रयोग किया गया था। डेमोक्रीटस ने पार्थिव ससार की यथावत रचना को, मानव की इन्द्रियचतता से सम्बद्ध गौण लक्षणों से पृथक् करके समझाया ('उष्ण' और 'शीत', 'मृदुर' और 'कटु' इत्यादि) तथा बताया कि इन दोनों में पहला प्रकृति और दूसरा परिपाटी के कारण अस्तित्व पाता है। इस विचार के विभिन्न उपयोग में साधारणतः हम गुणधरादी और स्वयम्भूत तथा मूल साधन में अन्तर्विरोध पाते हैं। जो स्थायी और विश्वजनीन है तथा जो परिस्थितिवश परिवर्तित होता है—इनमें भी विरोध मिलता है। लेकिन प्रकृति या स्वभाव से अधिक सन्देहायक कोई शब्द नहीं है। इस सूत्र की मनुष्य-वश तथा भावना में लागू करते हुए कुछ मित्रातवादी मानते हैं कि मनुष्य में जो स्वाभाविक समझा जाता है असल में वह गैर पशु-संसार के अत्यधिक अनुरूप गुणधर्म ही है। इसके विस्तृत विपरीत कुछ विद्वान् समझते हैं कि पशु-संसार से जितना भिन्न गुणधर्म मनुष्य में है वही उचित दृष्टि से उसका स्वभाव है। पशु-वशता नहीं बल्कि पशु से भिन्नता, उसकी प्रकृति का लक्षण है।

एक दृष्टि में मनुष्य का प्रत्यक्ष वश स्वभावज्ञ है—बानूत, आचार-नीति, विज्ञान और इसी तरह अन्धविश्वास। उसका समग्र वश-व्यापार, उसकी प्रकृति या स्वभाव है। बानूत तथा स्वभाव में विलोम का उत्प्रेष मनुष्य की आन्तरिक रचना में प्रतिष्ठित विलोम का सचेत भाग है। प्रश्न होता है कि जब हम मानवी प्रकृति में अन्तर्भूत है तो विलोम युक्ति का आधार लेकर हम मनुष्य-स्वभाव में उत्पन्न कुछ वस्तुओं को स्वाभाविक और दूसरी वस्तुओं को परम्परागत कह दते हैं? जिस अर्थ में यहाँ हम विलोम को प्रयुक्त कर रहे हैं उससे अनुमान परम्परागत का आशय होता है—वह सब कुछ जो परस्पर समझौते की नींव पर अस्तित्व पाता है और जिन समझौते का उपयोग समाज करने के लिए लाचार है। यदि यह परम्परा बहुत है तो हम इस सत्य को स्वीकार कर लेते हैं कि अन्ततः समाज का अस्तित्व परस्पर समझौते या सन्धि पर टिका हुआ है। राज्य तथा समाज की समस्त समस्याएँ इसी परस्पर बोध के अनेक रूप हैं। तब मनुष्य द्वारा निमित्त रूप होने का कारण अपनी इच्छानुसार वह उनका त्याग या विसर्जन कर तो क्या आपत्ति की जा सकती है? इसी अर्थ में सन्धि-व्यवस्था का समझ लेते ही उसे अनैतिहासिक कहकर दुखाना हितावह नहीं है। ऐसी

दशा में इस तथ्य को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता कि समाज समझौते या संधि पर आधारित है। इसके आगे हम पूरी सचाई के साथ कह सकते हैं कि समाज का अस्तित्व उसके घटक सदस्यों द्वारा अपने-अपने व्यक्तिगत आशयों को त्याग करने का निश्चय छिपा हुआ है अथवा वे अपने अधिकारों का एक अंश समाज का समर्पण करने के लिए तत्पर हैं यदि मनुष्य की क्षमता के अनुकूल काम को हम उसके अधिकारों की सजा देते हैं। दो व्यक्ति जो काम अलग-अलग रहकर करना चाहेंगे उसके कुछ भाग का समर्पण किये बिना वे एक साथ रहकर काम नहीं कर सकते क्योंकि समुक्त काम पृथक्-पृथक् काम का अनुरूप नहीं हो सकता। परंतु इसमें क्या त्रुटि है कि हम इस परम्परा बोध के परिणामों को परम्परागत ही नहीं बल्कि नाममात्र के लिए परम्परागत करना चाहते हैं और अधिक दृढ़ प्रमाण पर टिकी किसी स्वभावगत वस्तु से उस विपरीत ठहराते हैं? लेकिन यह स्वभावगत वस्तु है क्या? इस अर्थ में मनुष्य स्वभावतः क्या होगा? सीधा उत्तर है कि इस दृष्टि से मनुष्य प्रत्येक वस्तु से रहित होकर बस स्वतः ही रह जायगा जैसा वह परम्परा में है और तब उसके भीतर जो कुछ है वह उससे भी रहित होगा जबकि समाज के अस्तित्व का अभिप्राय ही मनुष्य के भीतर का सब कुछ है। ऐसे स्वाभाविक मनुष्य को कहा से लायें? परन्तु इसी ढंग से हम मनुष्य के विषय में विचार करने का विवेक किया जा सकता है।

ता लगता है कि हम चाहें तो कानून और सत्ताओं को एक सही अर्थ में परम्परागत कह लें। लेकिन इसका यह आशय कदापि नहीं होता कि इस प्रकार कहने के कारण यह स्वभाव के विपरीत भी मान लेना किसी तरह की सचाई है। समाज की समस्याएँ समझौते या संधि पर आधारित हैं और इसीलिए वे अस्वाभाविक या नाममात्र के परम्परागत हैं—इस दोनों वस्तुओं में जमीन असमान का अंतर है। तब भला कम स्वाभाविक और परम्परागत के बीच का विषय इतना सहज ग्रहण हो गया और हमारे मन को इसने ऐसी बुरी तरह जकड़ रखा है? परम्परागत शब्द का हम रोजमर्रा इस्तमाल कर एक बुरे या अप्रिय आशय का संकेत करना चाहते हैं न? जब हम किसी सत्ता अथवा रिवाज को परम्परागत कह देते हैं तब असल में हमारा मतलब यह होता है कि उसे अब बन रहने का हक नहीं है क्योंकि किसी समय उसकी जो उपयोगिता थी वह आज नहीं रह गयी है। जब लोग इस विषय का उल्लेख करते हैं तब उनके मन का आशय उस कानून के उन्मूलन से स्पष्ट होगा जिसके प्रचलन की साधकता समाप्त हो चुकी है। क्या परम्परागत है तथा क्या नहीं है—इस पर लगातार

विचार का सीधा-सा कारण यह है कि लोग के मन में बानून, रीति अथवा सस्या की जरूरत खत्म होने के ठीक मौक की बिलकुल अनग-अनग कल्पनाएँ हैं।

इस तरह ग्लोबन के मतानुसार 'याय का परम्परायुक्त वस्तु की कोटि में डालकर उसे स्वभाव के विपरीत माने जाता गया हो लेकिन उसमें यह महान् सत्य निहित है कि बानून तथा रीतियाँ परस्पर समर्थ या समझौते के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकती तथापि उसका मत इस परस्पर बोध की महत्ता की भुला दता है। तक कहता है कि यह परस्पर बाध मनुष्य का बलत्व ही नहीं है बल्कि समाजजीवी मनुष्य में इस विचारपूवक अपना मवश्रेष्ठ काय माना है और यह सुविचारपूर्ण निष्पत्ति किस प्रकार हुआ? यदि यही मंच हाना कि दण्डमुक्त रहकर अत्याय करते रहना ही मनुष्य का वास्तविक स्वभाव है, तब समाज का निर्माण करनेवाली कोई शक्ति ही नहीं होती। कम में प्रेरित करनेवाली कामनाएँ ही प्रबलतम हुआ करती है। इसलिए समाज का अस्तित्व का समुचित आधार समझना ही असम्भव था यदि मानें कि कम की स्वाभाविक प्रवृत्ति का श्रेय अत्याय को दिया जा सकता।

आज चकर गलावन दलील रखना है कि मदक 'याय का पालन सचमुच अनिच्छापूर्वक हुआ करता है। आज्ञा यह है कि निजी या आमलोग पर नति बला का अनुमरण केवल बलपूर्वक ही सम्भव है। यहो फिर एक वास्तविक और महत्वपूर्ण तथ्य को एक सवधा मिथ्या मत का आधार मान लिया गया है। समाज का अस्तित्व स्वयं एक बड़ी शक्ति का स्रोतक है जो अनेक प्रकार से अपने आपका प्रकट करती है। प्रत्येक जनमण्डल का व्यवस्था अतंत पुलिस और सवा की शक्ति पर टिकी रहती है। कुछ सावकण्टक व्यक्ति केवल बल प्रयोग द्वारा ही समाज का क्षति पहुँचाने से रोक जा सकता है। बानून की प्रतिष्ठा के लिए मूलबल प्रयोग की सम्भावना आवश्यक है। लेकिन इससे मानी ही बल जाते हैं जब हम कहते हैं कि बल प्रयोग और बल प्रयोग के भयमात्र से ही जनमण्डल की नैतिकता कायम रहती है। अगर कही जनमण्डल की नैतिकता सचमुच बल प्रयोग और उसके भय पर आश्रित होनी तो उसका अस्तित्व सम्भवत आज तक नहीं रह सकता था। हाँ बल या शक्ति को ऐसे व्यापक अर्थ में प्रयुक्त कीजिये कि उसमें पुलिस और सना के अतिरिक्त सावकमत सिद्धांत-बल भावनाएँ विवकशक्ति आदि का समावेश रहे। सचमुच इह ही प्रेरित शक्तियाँ कहलान का अधिकार है। इनका प्रभाव भिन्न भिन्न व्यक्तिगत मामला में बहुत निराले ढंग से कारगर होता है। समान बल अपराधी को

हैं। सत्ताचार में पृथक् करन योग्य किसी निश्चित समृद्धि को सदाचार की एक सहज सहगामी प्रगति माना जा सकता है। मानवी-स्वभाव के भीतर यह धारणा बनी हुई है कि 'याय का सुफल मिलना ही चाहिये और एडीमेण्टम का उत्तम वयन इस धारणा का विगडा स्वरूप है। जन मानस में बहुत ही सहज भाव से यह आप्रह गूजता रहता है कि सदाचरण का कुछ न कुछ फल मिलना तो चाहिये जीवन इनका विवेक तो रखे, और वह स्वयं 'यायणीन रूप में प्रतिष्ठित होकर हमारे लिए अनुकरणीय बने। प्रायः सभी पुराने साहित्य में और खास तौर पर ओल्ड टेस्टामेण्ट में यह उल्लेख है कि ईश्वर के आशीर्वाद 'यायी मनुष्य को मिलते हैं। इस विचार में ऊँचे सदाचरण के प्रति आशेष का स्वर नहीं है। परंतु बाद में यह सिद्धान्त चल पड़ा कि सन्तुष्टी व्यक्ति का जीवन दूसरा की अपेक्षा अधिक सुविधापूर्ण होता है। फिर इस वयन का अर्थ यह होने लगा कि सत्ताचारी जन को पार्थिव वभव का अधिकार है और इसीलिए सासारिक सफलता को सदाचरण का मापदण्ड कहा जाने लगा। पुराने समय में इस नीयत से ऐसा कहा जाता था कि 'यायपरायण राज्य में आस्था प्रकट करने या यही सरल उपाय था। लेकिन परवर्ती युग में इसे तक सम्मतवाद कहने पर यह कटाक्ष किया जाने लगा कि सज्जन सदैव उन्नति नहीं कर पाते। कुछ विरोधी नीयत से जीवन की मामूली बातों को भी इस मिलमिल में उठाया जाता है। आजकल सदाचारी को कभी मितते नहा देखा और न उसकी सत्ता का भीख मागने।

सुख का मनचाहे वस्त्र होते हैं और वे सब कुछ अपने छोकरा को दफन कर सकते हैं। वे बातें उन मनुष्यों की याद दिलाती हैं जो होते जरूर हैं और एक अनुभव की याद दूसरे को जगा देती है। इस दृष्टि के वयनों में जो लोग अपनी नतिक आस्था की पुष्टि करना चाहते हैं और इसे न पाकर व्यथित हो जाते हैं वे एक स्थिति की सही बात को दूसरी भिन्न दशा में भी उचित मान लेने की भूल कर बैठते हैं। वे गुरुआत ही इस गलत उम्मीद से करते हैं कि सदाचरण में कुछ इष्ट परिणाम हो सकते हैं। अगर यह शिकायत है कि सदाचार के अनुगमन में सुख-सम्पत्ति नहीं मिलती तो संका बहुत सीखा जवाब है यदि आपकी मायता के अनुरूप सम्पत्ति सुख ही जीवन की मूल प्रेरणा और एक मात्र लक्ष्य है तो इसी में जीवन लगा देना चाहिये यदि ऐसा नहीं है तब आशा ही क्या करते हो कि सुख सम्पत्ति के साथ सदाचार का कोई नाता भी रहे ?

सदाचार के साथ वांछित फलप्राप्ति की साधना बलपना का विस्तार एनीमेण्टम में भविष्य के जीवन तक किया है। उमर कथानुसार आज के जीवन

का पुण्यकर्म भविष्य के जीवन की पनाशा को बल देता है जिसमें कुछ रहस्य-मयी शक्तियाँ (एलीमिनियन मिस्ट्रीज) सहायक हुआ करती हैं। उसका तात्पर्य यही है कि सदाचारी जीवन बिगाने का उत्साह पनाशा के बल पर ही पना रहता है। एक यह कथन है कि आत्मा अमर है और हमेशा सदाचार का अनु-सरण ही उसके लिए हितकारी है—बस 'रिपब्लिक' का मूल विषय यही है। दूसरा कथन यह है कि कुछ मूल्य सिर्फ इसीलिए बिये जाना चाहिये ताकि उनके द्वारा हम मनवांछित फल प्राप्त हों। उक्त दोनों कथन एक दूसरे में मेल खाते हैं।

एडीमण्ट्स का दूसरा कथन पहले विचार का स्वाभाविक विरोधी है। इस तरह की चर्चा निजी तौर पर लोग करने ही रहते हैं लेकिन कवि तथा लेखक भी इस विचार को व्यक्त किया करते हैं। 'याय' के माग पर चलनेवाले के कष्ट-बुझ तथा मकटपूष जीवन का काफी वर्णन किया जाता है और देवता दुष्टों को उत्पत्ति करने के लिए तत्पर रहते हैं तथा मज्जन की परवाह सब नहीं करते। कभी कभी कविगण वर्तमान जीवन में 'याय' के प्रति देवताओं की उदासीनता का जो वर्णन करते हैं उस पैगम्बर और देवी रहस्य के सौदागर पुष्ट किया करते हैं। इनका मन्त्रा उपदेश है कि प्रायश्चित्त और बलि तथा धर्मदीक्षा सम्बन्धी क्रियाएँ इस जीवन और अगले जीवन को सुखी बनाने के लिए 'याय' के पुनरुत्थान की अपेक्षा देवी कृपा को अधिक सुलभ बनाती हैं। कविता की शिक्षा-यत और पैगम्बरों के उपदेश भौतिक उत्पत्ति को सदाचार का सहज फल मानने की प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम है अथवा या कहें कि भौतिक उत्पत्ति जीवन-साधन का एक मात्र माध्यम है। ग्रीक साहित्य में परमात्मा के अन्वेषण का विवाद विवरण इस प्रकार की धारणा का पोषक है।

एडीमण्ट्स जिन 'मिस्ट्रीज' (Mysteries) का जवाला नेता है, स्पष्टतः उनके दो प्रकार हैं। पहले यह बताया जाता है कि मृत्युसदृश और उसका पुनरुत्थान—नाश का अगल अन्त में नाना प्रकार के मन्त्र और पारितोषिक की लानसा का उपदेश देते हैं। इसका मूल उन 'मिस्ट्रियमिनिमि' से जुड़ा है जिनकी स्थापना पुनरुत्थान के द्वारा मानी जाती है। एडीमण्ट्स इसके बारे में सिर्फ इसीलिए असन्तुष्ट हैं कि इन बातों का कारण दण्ड और पारितोषिक के प्रति आस्था बढ़ती है जिसमें सदाचार सम्बन्धी सहज महत्त्व के प्रति आस्था निबल हो जाती है। आस चक्कर बह राज्य द्वारा मण्डित रहस्यमयी प्रणालियाँ (Mysteries) का नाम देकर नहीं चलाती—लेकिन निजी परोक्ष बाजीगर

का उल्लेख करता है जो विनोद स्थाना अथवा गायद विशेष देवताओं से सम्बद्ध था नहीं थे मगर जो देश भर में चलते फिरते रहकर देवताओं पर जादू और टोनों का प्रभाव डालकर उनके पापक्षय कराने में अपने आपका सक्षम बतलाते थे । सामान्यतः यह रहस्यपूर्ण क्रियाएँ पराक्रमी व्यक्तियों के नाम पर होती थी—ज्यादातर आरफियस के नाम पर । एपामण्टेम का इनके खिलाफ और भी शिकायत है इन क्रियाओं से यह रणाल जार पड़ता है कि तुच्छ दान अथवा बलि के द्वारा अपराधों के कुफल का निवारण किया जा सकता है ।

ग्रीक भाषा में इन दोनों धार्मिक विधियों के लिए विशेष नाम है । पहले गण्ड से गोपनीयता का संकेत मिलता है और उसका उपयोग घमदीयों द्वारा प्राप्त लोगों तक ही सीमित था । जार्म्म में धार्मिक विधियों के लाभ से कुछ बग विरोध के लोगों को वंचित रखने की प्रथा थी और केवल रहस्यमय क्रियाएँ ही इस प्रथा के क्षेत्र में नहीं थी । बीच बीच में बहुतों देवता अपनी विविष्ट रहस्य प्रक्रिया से जुड़कर एक न एक धार्मिक विधि का सूत्रपात कर लेते थे । जो ग्रीक गण्ड कभी-कभी दीक्षा संस्कार के समय अर्पित द्रव्य प्रदान के अर्थ में प्रयुक्त होता था काल क्रम से अतन्त वह धार्मिक पूजना अथवा ईश्वर प्राप्ति का द्योतक बन गया । उस भाषा के शब्दों पर इन धार्मिक विधियों की व्यापक मिलती है और जब उनके द्वारा रहस्य तथा 'दीक्षा' के भाग्य में अधिक विस्तार आ गया है ।

जब सामान्य मत यह है कि रहस्य प्रक्रियाओं में मिलमिल में कोई शिक्षण अथवा उपदेश प्रचारित नहीं किया गया था । ऐत्युसिनियन मिस्टीज धार्मिक स्वाग या लीला का रूप था जिनमें डिमित्र और टायानिसम प्रमुख पात्र हुआ करते थे । इन लीलाओं के द्वारा दो प्रधान कल्पनाएँ व्यक्त होती थी—एक यह कि पृथ्वी मृतकों की भूमि है और दूसरी कि जीवन की वाद्य है यह बरती । डिमित्र एक प्रताप था जो अपनी चाई हुई पुत्री परसीफोन का खोज रहा है और परसीफोन की वापसी दूसरा प्रतीक था । जमा प्रत्येक प्रतीकवाद के साथ जाना है इनके प्रयोजन का अर्थ पूजकों की मनोभाना पर बहुत कुछ निर्भर करता है । ग्रीक साहित्य में विनकुन स्थूल तथा उत्कृष्टगानी दोनों दृष्टिकाणा से ऐत्युसिनियन मिस्टीज का उल्लेख मिलता है । इन रहस्यमयी क्रियाओं में जुड़ी हुई एक उत्कृष्ट शाली कल्पना यह थी कि ईश्वर में तीन जाना ही आत्मा के जीवन का भविष्य है किन्तु इगम पथभ्रष्ट होने की सम्भावना बनी रहती है । सोफोक्लीज की रचना में इस विचार को व्यक्त पावर डायोजीनाज ने उत्तेजित हाकर प्रश्न किया कि क्या घम की दीक्षा पानवाने चारों तरफ परलोक में घोर पुरुष इपमीनन्दम की

अपेक्षा अधिक गुण मिलना चाहिये ? आरक्षिक मिस्ट्रीज में भी स्पष्टतः ऊँचे और हनुके दर्जे रखे गये हैं। इन रहस्य प्रक्रियाओं में व्यक्त ऊँचे दर्जे का आशय यह है कि आत्मा का जीवन अविनाशी है और पूर्वावस्था में वह जो पाप या कुकर्म करती है उनका प्रायश्चित्त वह अस्तित्व की एक स्थिति में कर लेती है।

इस विषय पर काफी बहस होनी रही है कि इन रहस्य क्रियाओं का पत्र स्वरूप अद्वैत ईश्वर में आस्था और पुनर्जीवन में विश्वास की नींव पड़ी। परन्तु अद्वैत ईश्वर में आस्था का निमाण करने में इन रहस्य क्रियाओं का प्रभाव रहा है—जिस स्वीकार करने का बार्दी प्रमाण नहीं है। हाँ दूसरे प्रकार के विश्वास में उनका योग काफी रहा है। दोनों रहस्य क्रियाएँ हमें मानती हैं और सम्भीर तथा विनाल रूप से हम व्यक्त भी करती हैं। यद्यपि इस मिलमिले में किसी तरह का निष्पन्न अथवा उपदेश का आश्रय लिय जाने का आशय नहीं है तथापि निःसन्देह आत्मा के भविष्य जीवन की कल्पना का मुहूर्त और अधिक उज्ज्वल रूप देने में प्रीति का आरम्भिक विचारों की अपेक्षा इन रहस्य क्रियाओं की बहुत सफलता मिली है। बहुधा यह बात ध्यान में आयी है कि इस जीवन के सत्त्वम के बढ़ने मरणोत्तर जीवन में पारितोषिक की आकांक्षा-सम्बन्धी विचार बहुत बाद में सूझा है। लेकिन अनुभव के कारण भविष्य में स्वयं भागना ही पड़ेगा—यह विचार बहुत पहले से प्रीति अस्तित्व में घर कर चुका था। कवि होमर मरणोत्तर जीवन की रचमात्र चर्चा नहीं करता बहुत सिद्धांत किया तो वह उसे एक नियमात्मक, निष्प्राण अस्तित्व जैसी चीज कहकर छोड़ देता है। जस-जैस मनीषी पुरुष जीवा में सत् और असत् अथवा अच्छाई और बुराई का सम्बन्ध में विचार करने लगे तथा इस विषय में उनका विचार जैम-जम गहरात गये जैसा क्रम से इस जीवन अथवा भावी जीवन में अच्छाई और बुराई के प्रभाव का विषय अधिकाधिक चिंतन का योग्य होता गया। जयल में इस जीवन के धारे में बहती हुई चिंतन-शक्ति का विस्तार ही भावी जीवन की कल्पना में अतंतु रुचि बनकर प्रकट हुआ। एशीतम और पिण्या कवियों की रचनाओं में पाप का लिए मरणोत्तर दण्ड का उत्कर्ष मिलता है किन्तु प्राचीन कवियों में पिछार ही अकेला है जो मृत्यु के पश्चात् भावी पारितोषिक में दृष्ट विश्वास व्यक्त करता है। समय बीतने पर मृत्यु और भावी जीवन-सम्बन्धी जिसने मुख्य विचार उत्पन्न हुए वे हेतुसिद्धिनिधन तथा इसमें भी अधिक विस्तार में आरक्षिक रहस्यताओं में प्रकट हाते दिखायी पड़ते हैं।

एहीमेन्स अपने भाषण के अंत में उस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है जो शांति तथा हमारे किसी विचारों का कारण से भिन्नता ज्ञाता है। इन विचारों

का आशय है कि एक ही विश्वास है कि याय अथवा अन्याय अपन ही महत्व के कारण महनीय अथवा त्याज्य नहीं है बल्कि किसी अथ वस्तु के निमित्त बाध्यनीय है। जाग चरकर वह बड़ी सूदो के साथ उस सबूत का ध्यान करता है जिसका सामना ग्राहक और स्वयं उसे करना पड़ता है। वे जानते हैं कि समग्र लोकमत इस विश्वास के पक्ष में डटा हुआ है ग्राहक ही नहीं इसी बात का हलना सबसे ज्यादा सुन पड़ता है कि चतुराई और ठीक दम के दावपेंच से हम अनाचार कर सकते हैं फिर भी 'यायजनित भौतिक लाभ की पात्रता क्या की त्यागनी रह सकती है। दवताया की बात मत करो—क्याकि वे हैं वहाँ? और यदि हैं भी तो उनके बारे में कबन कबिया से ही जानकारी मिलता है और इन कबिया न बनाया है कि दवताया को आमानी में भ्रष्ट किया जा सकता है। इस पुजीभूत अदभ्य लोकमत के विद्वेदित कोन ऐसा मनुष्य है जो अनाचार की सालमा में बचा रहगा—जब तक वह दौलत और साहसहीनता से ग्रस्त न हो? उसकी रक्षा के केवल दो उपाय हैं किसी दबी कृपा या स्फूर्ति के द्वारा उसमें अनाचार से सहज घृणा हो जाय अथवा अनाचार के चालू अथ में बिना तरह छुटकारा पाकर उसका स्वाभाविक अभिप्राय को ग्रहण करने में समर्थ हो जाय।

इस जटिलता का मूल यह है कि आज तक 'याय तथा अ'याय के घघाथ गुण और अगुण की समुचित व्याख्या किसी ने नहीं की—चाहें उनका किसी न अनुभव किया हो या न किया हो। इसी का विवेचन करने के लिए अब मुकरात की पुकार होती है। फिलहाल उन परिणामों का विचार त्याग देना चाहिये जो 'याय और अ'याय से उत्पन्न होकर दूसरे के मन पर प्रतिफलित होते हैं।

यही रिपब्लिक के प्राक्वचन भाग की समाप्ति हो जाती है और उसके रचनात्मक अंश का आरम्भ होता है।

समाज तथा मानवी प्रकृति के प्रधान तत्वों का निर्दर्शन

सुकरात को इस समस्या का समाधान करना है, और यह प्रश्न लगातार उसके समक्ष दुहराया जाता है कि मनुष्य की आत्मा पर या या बहिय उसके अन्तर्जीवन पर—याय अथवा अ-याय का क्या प्रभाव पड़ता है विशेषतः उसके अन्तर्जगत पर। जब हा सुकरात उत्तर देने लगता है तो एकाएक प्रश्न के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं दिखाया जाता। वह अव्यक्त हो समाज के मूल रूप की चर्चा आरम्भ करने लगता है। इसी विषयान्तर प्रयोग के अभिप्राय का ग्रहण लेन पर ही 'रिपब्लिक' के समूचे तब विधान के सिद्धान्त का बोध निम्न है।

अपने उत्तर के विचारक्रम का स्पष्ट करने के लिए सुकरात कहता है कि प्रत्येक मनुष्य के आन्तरिक जीवन पर 'याय' का प्रभाव का बनाना अत्यन्त कठिन है। सबसे बढ़िया तरीका यही है कि उसके आत्मा के विद्वलण से आरम्भ न करके राज्य तथा समाज के विस्तृत घेरे में मानव प्रकृति का दंगन किया जाय जहाँ वह बड़े पैमाने पर यकीन सुकरात यह मोट जगह में दंगन को मिलती है। मानव प्रकृति के बहिरंग का परीक्षण बहुत सरल है इसलिए उस पहल परण कर बाद में उसके अन्तर्ग स्वस्व को समझने का यत्न करना ठीक है—वहाँ भी, इन मोटे अक्षरों का उसके मन पर दखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में सुकरात का विचारक्रम यह है कि सभी को स्पष्ट दीखाने मानव प्रकृति के तथ्य पहल परण लिय जायें। फिर इन्हीं तथ्यों के महत्व का परीक्षण करते-करते वह मानव प्रकृति के उस गूढ़ सिद्धान्त का उद्घाटन करना चाहता है जिसकी अभिव्यक्ति इन तथ्यों के रूप में होती है। 'रिपब्लिक' का समूचा प्रयोग मनुष्य मानव-स्वभाव का मनोवैज्ञानिक भाष्य करना है। इसके विचारक्रम का आधार

तत्त्व यह है कि समाज की समस्त संस्थाएँ, वगैरह सगठन कानून धर्म बना तथा सभी तरह के अर्थ साधन अतन् मानवात्मा की उपज हैं जा एक जनसमूह सिद्धान्त के रूप में सक्रिय रहकर अपने जाय ताना बाजारों में प्रकट हुआ करते हैं ।

कभी कभी यह कहकर प्लेटो के दृष्टिकोण का वर्णन किया जाता है कि वह व्यक्ति और राज्य की समानता को मानकर चलता है व्यक्तिगत जीवन मानो राज्य के जीवन का प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप है । इस उमका समुचित वर्णन नहीं कहा जा सकता । उसकी प्रशिक्षा यह है कि राज्य जिन मनुष्यों से बना हुआ है उनका जीवन ही राज्य का जीवन है जो हम सब से प्रकट रूप में मिलता है कि बहुत सरलता से हमका अवलोकन किया जा सकता है । जाग चलकर जब वह याय अथवा राज्य के साधन की बात करता है तब उसका अभिप्राय नागरिकता के उम याय या साधन में है जो उनका सावजनिक दायित्व निर्वाह में प्रकट होता है । या कहिये कि राज्य वास्तव में उसका घटक मनुष्य समूह का याय है । हमका यह मतलब नहीं है कि राज्य का याय उसका निवासी व्यक्ति के निजी जीवन के याय का बिनाशुन प्रतिरूप होता है । सीधा अर्थ यह है कि यदि याय जमीन पार्श्व वस्तु है तो चाह जिस ढंग से भी चाहें जहाँ वह प्रकाशित हो उगना भूत प्रकृति जमीन की तंगी रहती है फिर वह सावजनिक सम्बन्धों में या व्यक्तिगत जीवन में अभिव्यक्त क्या न हो । ठीक है कि व्यक्ति के सदगुणों से राज्य के गुण अधिक विस्तृत होते हैं । सेना की वीरता में ही राष्ट्र वीर्यवान् जनता है और एक व्यक्ति की अपेक्षा मना बहुत बड़ी तथा विविध वस्तु तो है । परन्तु सना के रूप में जरा राज्य का पराक्रम व्यक्त होना है जो एक जनसमूह का सावजनिक सम्बन्ध है तब यह उमी सिद्धान्त का प्रकट रूप है जिसकी प्रेरणा में मनुष्यगण निजी जीवन या दूसरे सभी व्यवहार सम्बन्धों में वीरता का प्रमाण देते हैं । प्लेटो के समूचे तत्त्वों की एक ही बात ध्यान में रखनी पड़ेगी कि राज्य की सत्ता उम निवास करनेवाले व्यक्तियों स्त्री पुरुषों के समुच्चय के अनिरिक्त अर्थपूर्ण है ।

अब प्लेटो का विचार पद्धति के दूसरे रूप का अवलोकन किया जाय । समाज के उदगम और विकास पर दृष्टि डालनी चाहिये । समाज के उदगम वाक्यान्त में पहल, ता यह ध्वनि निकलती है कि उमकी संस्था आत्म अवस्था का पता इतिहास के ढंग में लगाना है । लेकिन इसमें प्लेटो की रुचि नहीं है । इसलिए हम विचार का छाड़ देना चाहिये । उदाहरणार्थ ऐसे स वैसे इतना समझ बन गया—एक ऐतिहासिक शोध में उमकी रचनाओं में रुचि नहीं है, ता उसके

चित्तन का विषय यह है समाज व मौजूदा स्वरूप को मान लन पर उभर अस्तित्व स किन किन परिस्थितिया का बाध हाता है ? मानव स्वभाव म बीज सा तत्व है जा समाज के अस्तित्व का हेतु है ? प्रश्न यह नहीं है कि समाज किन अवस्थाओं से गुजरकर विवर्धित हुआ है, बल्कि यह है कि वह अस्तित्व म क्याकर आज तक बना हुआ है । यद्यपि प्लेटो बताता नहा है त मापि आग चलकर उमरा विचारधारा विकास की ऐतिहासिक क्रमवद्धता क वजाय तक पवस्था का अनुगमन करता चलती है । या समविषय कि समाज क वर्तमान स्वरूप का माट तोर पर ग्रहण करन के बाद बह उसकी चिरकृत बुनियादी दशा पर सोचना शुरू करता है अथवा बह समाज की उस अवस्था म अपना चित्तन आरम्भ करता है जब वह बुद्ध पाथिव जम्हरता की पूर्ति करन का सम्यजनमान था । इस समाज का निम्नतम मनाबजानिक आधार कहा जा सकता है क्योंकि यदि मनुष्य की जरूरतें केवल यही होनी ता वह अपने मयाय स्वहय का एक बिलग पण्डमान हाकर रह जाना । यही स बात की गुरुआत करक प्लेटो पूछता है यदि मनुष्य की इही जरूरत का जाव मान लिया जाय ता समाज का ज म देनेवाला समय कौन-सा गुण है ? इसा मिलसित म वह मानव स्वभाव क उत्तम गुणा की चर्चा जोड़ता चलता है । इस दग स वह समाज का एसा चित्र अकित करता है जा अपनी प्रधान दपण्या को पूरी तरह प्रस्तुत कर सके । सामाजिक विकास की हर अवस्था का वर्णन करते समय वह जानना चाहता है कि क्या उस विशेष अवस्था म कोई ऐसा सिद्धांत दिखायी दता है, जो समाज क सदाचारी जीवन का नियामक हा ? इस तत्वविधि के पहल पण्ड का ज न हात-हात मानव जीवन के निर्माण म सहायक मुख्य तत्त्व का स्वरूप हमार समक्ष आ जाना है । इही का ध्यान म रखकर हम इनक विकास तथा गिभण पर विचार करेंगे ।

इस पद्धति का ठीक ठाक समझन के लिए हम अमुनिर जीवत म डमी क समान उदाहरण लेना चाहिये । इम्पेण्ड की विद्यमान ध्यवस्था का ध्यान म रखकर अगर कोई समाजविद बह कि इम्पेण्ड का जावा डप्ट वस्तुओं की सतन पूर्ति के बिना त्रि नहीं सकता ता उसका आशय है कि औद्योगिक प्रवच क भरोम पर वही का जीवन निर्भर है, तब यह प्रश्न महज ही उठता है कि क्या इस औद्योगिक प्रवच क भानर अच्छाइ और बुराई उचित तथा अनुचित क विवेक का सिद्धान्त बरी निष्पादी दता ? परंतु प्लेटो की परम का दग हम उत्तरता म गल नता है । अपन प्रश्न को दुर्ज्ञेय बनाने के बजाय उस बह मना हर रूप म रखता है । ऐस समाज की नत्पना बाजिय जिसम सभी मनुष्य

नितांत उपयोगी वस्तुआ व धन में ही पुंते रहते हैं। ऐसा लगता है कि वास्तव में वह समाज के ऐतिहासिक उद्गम का विवरण नना चाहता है नकिन इसी की यह सूचा है कि उसका शब्द चित्र महज ही आगेपकारक बन जाता है। उना हरणाय मवान बनावाल राज और जूता बनानेवाले चमार की आदिम समाज का अग कम माना जा सकता है ? ठीक है कि प्लेटो व शब्द चित्र की सामग्री उस अपने युग के अनुभवों में मिली है—समाज व उद्गम की यह रूपरेखा इस दृष्टि से युक्तिमगत नहीं जा सकती है कि उसका अस्तित्व तथा भरण-प्रापण के लिए आवश्यक व्यवस्था को यह सुस्पष्ट करती है। साथ ही उन विभिन्न आवश्यकताओं को एक सुबोध क्रम में देखने पर उनकी पूर्ति के उत्तम उपाय भी सुगम हो जाते हैं।

मनसे पहले प्लेटो समाज की प्रारम्भिक परिस्थितियों का सविष्ट स्वरूप नना है जो जीवन की इष्ट वस्तुओं व उत्पादन व निमित्त होती हैं। केवल आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति करने रहता ही उस राज्य का एकमात्र पक्ष है। इनसे भिन्न अनावश्यक सुभुक्षा व हैं जिनको मामूली जरूरतों के अनिर्दिष्ट, सन्तुष्ट करना भोग-प्रापण राज्य का ध्येय होता है। इस रूपरेखा में रिपब्लिक के मौलिक सिद्धांत सुस्पष्ट दिखायी देते हैं जो अधिक निखर रूप में आगे निरन्तर जान रहते हैं। मानव समाज का जन्मगता सामान्य तत्त्व क्या है ? विविध रूपवती इच्छा ही वह तत्त्व है। समाज द्विविध सत्यता पर टिका है एक यह कि मनुष्य स्वयं पूर्ण नहीं है दूसरा महायुक्त तत्त्व है कि अन्य मनुष्य उसकी आवश्यकता मानते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने लिए अपूर्ण भल ही हो परन्तु उसमें ऐसी सामर्थ्य रहती है कि वह दूसरे के अभाव की पूर्ति कर सकता है। इस हिसाब परस्परता का सिद्धांत वह सबको है। व्यक्ति की विविधता इस सत्य का साध देती है कि वह अनेक व्यक्तिओं की विविधताओं का अनुपूरक है। रिपब्लिक में गुरु स आखिर तक इसी सामान्य विचार का अनुसरण किया गया है। इसी सिद्धांत पर आधारित होकर समाज की गम्भीर उन्नति एक विशाल व्यवस्था के रूप में प्रकट होती है जो विविध मानवी इच्छाओं को तोष देने व हटु म्यित है।

ऊपरी तौर से देखने में उक्त परिच्छिन्न राजनीतिक अध्ययनस्था का निबध जान पड़ता है नकिन जो सिद्धान्त हमारे सम्मुख आर्थिक रूप में प्रस्तुत है वह प्लेटो की दृष्टि से अथवरी सिद्धान्त नहीं है। जिसे अर्थशास्त्री धर्म विभाजन का सिद्धांत कहते हैं उस प्लेटो नतिक सिद्धांत मानता है तथापि इस सम्बन्ध में उसने जो पहला दृष्टांत दिया है वह उत्पादन धर्म के क्षेत्र से लिया गया है।

उसका प्रश्न है कि किन किन परिस्थितियों में उत्पादन अत्यधिक सफल होगा ? उत्पादन तभी विशाल, गरजतम और श्रेष्ठ होगा जब उत्पादक एवं विनोद बाय में स्वयं सन्मत्त रहेगा अपनी सम्पूर्ण क्षमता के बराबर स्वतः अपना काम करेगा तथा श्रमपत्र या उपभोग अपने माप दूसरा को भी करने देगा । प्रकृति ने हम मिडान्त का स्पष्ट मकेन निभा है प्रकृति ने दो मनुष्यों को बिलकुल ठीक समान नहीं बनाया । व्यक्तित्व की यथायथा मनुष्य-समुदाय का जनमण्डल के रूप में बाँधती है । प्रत्येक जन दूसरा को चाहता है और उन्हें अपना एक अंग देने में सक्षम है ।

यही सिद्धांत औद्योगिक समाज की क्रमिक उत्पत्ति में उत्पादक वस्तुओं की विनोदना का सहारे सफल होता है । जनस्वरूप पशुपालन उद्योग, कृषि उद्योग तथा विभिन्न यांत्रिक उद्योग उत्पादक के विनिष्ट वर्गों द्वारा संचालित हुआ करते हैं । कुटुम्ब व्यापार और मुद्रा का चलन इसी मूल कारण में जुड़ दूरा दिखायी देते हैं । इनके माय गाय नियान तथा आयात व्यवसाय द्वारा राज्य दूसरे राज्या से सम्पत्ति बनाकर इसा मिडान्त का व्यवहार या मूलरूप देता है । औद्योगिक जन मण्डल का निर्माण करनेवाले यही प्रधान अवयव हैं, अथवा इस जनमण्डल की जीवन की दृष्टि वस्तुएँ उत्पन्न करनेवाला एवं सगठन माना जा सकता है । मुकराते प्रश्न करता है कि इस मारे प्रत्येक में 'याम' कहाँ है ? एडीमण्डस का उत्तर है कि सायद इन लोगों की आवश्यकताओं का परस्पर बोध में 'याम' निहित हो ।

परन्तु हम तरह मुझाये गये उत्तर का स्वरूप तब स्पष्ट होता है जब हम समाज की व्यवस्था के विस्तृत विवरण में अवगत हो जाते हैं । याम का उत्तर है कि प्रश्न उठता है कि अभी जिस जनमण्डल की चर्चा हुई है, उसकी 'जीवा' कौली क्या होगी—जब वह अपनी मामूली इच्छाओं का सहज और स्वस्थ ढंग से पूर्ति करने में इच्छा रहता है । जनजीवन के उस स्वरूप का मुखरत पशु-सहज सरलता का नाम देता है । जीवन की निष्ठा में एसा जीवन शहर के मुखर की त्रिन्दगी से बहुततर नहा है । मानव जीवन इस प्रारम्भिक ढंग में मिमन्त्रक नहीं रह सकता जिसमें बचन म्यून इच्छाओं की पूर्तिमात्र करना है चाहे इस जीवन क्रम को सरलता का आत्मा ही क्या न कहा जाय । कारण यह है कि आदम सरलता का यह जीवन प्रगति से अधिकतर रटता क्योंकि मानव जीवन के सुपरिचित स्वरूप की रचना जिन तत्त्वा से होती है उनमें बहुत बड़े भाग से वह रीत जाता है वह मम्यता में अछूना बना रहता है ।

यही कारण है कि भाग्यशायण राज्य व वणन में वह सम्यता व तत्त्वा की सम्पत्ति रूपरक्षा में लग जाता है। समाजवाय गुप्तकार भागविनास तथा जीवन व पार्थिव साधना की उन्नति का वणन वह करता है। इन विनाश व अय उपकरण जन्म—रहित कलाएँ सज्जा—ना तथा वविना व अम्युदय का परिचय भी वह देता है। इसा में स्वास्थ्य मय्य यो परिस्थितिया की जटिलता और फलस्वरूप औपधि व विस्तार का भी वह जाहता है। मानवी स्वभाव व इस विस्तार में जल्दरी इच्छाओं के मायनयी इच्छाएँ जुहता चलती हैं जो मनुष्य व श्रेष्ठतम विनास में सक्षम हुआ करती है। किन्तु इ ही के साथ-साथ व गभा प्रकार की उच्छ्रितलता तथा दुष्प्रम को भी गम होती हैं। आग हम देखेंगे कि इन सबक अतिरिक्त भी मानवी स्वभाव के नय तत्त्व विचारणीय हैं। गुरु गुरु में जिस राज्य का वणन किया गया है उसमें कायशील वह तत्त्व स्थायी होता है जिस प्लेटो बुभुभा व नाम से पुकारता है जो बेचल पार्थिव श्छाओ की पूर्ति में लिप्त रहती है। अधिक विवमिन राज्य में इससे भिन्न तत्त्व हम मिलेगा जिमका प्लेटो भावना तत्त्व और दानिक तत्त्व के नाम देता है। मानवी स्वभाव व यहा दो गुण समय बीता पर उस सम्यता की उन्नति व कारण जान पड़त है जिमका रखाचित्र यहाँ किया गया है। मनुष्या में य दाना तत्त्व जिस प्रकार सक्रिय हात है इन प्लेटो यथाक्रम हमारे समक्ष रमगा।

हम बताया गया है कि पार्थिव गुण व विनाश का दूयग पभा है—युद्ध का उदभव। बिन्दुन जल्दरी वस्तुओं व पर मानवी आकाशाओ का विस्तार हात ही आक्रमण का इच्छा का जन्म हाता है। किन्तु युद्ध के आरम्भिक रूप आक्रमण की बात उठाकर प्लेटो सुरत सुरक्षा की चचा करने लगता है जो युद्ध व प्रयोजन को साथक बनाती है। फिर वह राज्य की सय व्यवस्था व लक्ष्य पर विचार करने में तत्पर हो जाता है। बाहरी आक्रमण में राज्य का सुरक्षित रखना और आन्तरिक शान्ति में सहायक हाना ही सना का प्रयोजन है। प्लेटो किसी भी प्रसंग में यह नहा मानता कि विजय प्राप्त करना राज्य व गठन का सच्चा ध्यय हो सकता है। राज्य में स यवल की आवश्यकता की आर हमारा ध्यान दिला कर वह समाज व जीवन का निमाण करनेवाले स्वाभाविक तत्त्वा को प्रस्तुत करता है लेकिन उनमें निहित सत और असत व भेद का उल्लेख उसने नहीं किया।

स्पष्ट है कि जनमण्डल की सुरक्षा एक प्रकार का महत्त्वपूर्ण सामाजिक काय है जिममें कायगत विगणना का मिद्धात और भी अधिक कठोरता से

नाश होना है। जना हम पहले समय धुने हैं यदि कुछ नाम काम के लिए लोगों का स्वभाव विशेष दृष्टि का बनाया जा सकता है और यदि यन्त्र उत्पादन के उद्देश्य से ठीक काम के लिए ठीक आदमी जरूरी है तो राज्य की शान्ति रक्षा की महती क्रिया के हेतु अधिक विशेषणना भी चाहिए ही। इसके पत्र-स्वरूप गुणों का राज्य के संगठन की प्रक्रिया में सम्बद्ध गवने पहले गवने का उठाता है। राज्य के मूल प्रहरी बनने के लिए बिना प्रकार के स्वभाव का व्यक्ति जरूरी है? उनकी आन्तरिक रचना में जलन की योग्यता जीवित सम्पन्न स्वभाव योद्धा के महान गुण होना चाहिए, वेदों आश्रमक वृत्ति ही नहीं बल्कि वह क्षमा का प्रतिरोध का स्फूर्ति दनी है। वह एक प्रकार का अजय गुण है जिसके बल पर मनुष्य सब बातों में निर्भीक और पनापन के पर हुआ करता है। परन्तु साथ ही इन पहले द्वारा में एक अनुपूरक तत्व भी प्रचुर मात्रा में होना चाहिए। यदि सिर्फ रण मंद में हूब नाश की कल्पना की जाय तो ऐसी व्यक्ति एक दूसरे की हत्या की ही कल्पना समझने लगे। इसे शांति का समाज, भया बच तब बनगा? तो इन पहलकों में अपने प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का तत्व होना चाहिए, विक्षेपण नहीं। प्लेटो इसी को नागरिक तत्व की संज्ञा देता है। बहुत हल्की श्रेणी के प्राणी भी जानी मानी वस्तु की ओर गहज ही आकर्षित हुआ करते हैं। मनुष्य के भीतर सहज रूप में रहनवासी यही गुण दार्शनिक तत्व है। मनुष्य की प्रकृति में यही एक चीज है जिसका कारण वह जिस अपना सगा या समकक्ष मानता है उसकी ओर खिंचता जाता है। इस आकर्षण की परिधि में मानव-समूह मित्र, सम्बन्धी या सहयोगी अथवा मनुष्य के अतिरिक्त प्रकृति के सुन्दर पदार्थ, कला, विज्ञान अथवा दान का साथ सभी का समावेश है। मानव प्रेम और मानवी विवेक में सम्बन्धित अपनी दृष्टि को प्लेटो सभी महान रसायनता। उसके अनुसार मनुष्य अपना दान बुद्धि में प्रेरित होकर उसी की ओर आकर्षित होता है जिसे वह मानता है जो कुत्ता, जान माने लोगों की तरफ सहज भाव में आत्मीयता का अनुभव करता है। भावात्मक दृष्टि से प्लेटो का आधार पहचान है। कुत्ते में नागरिक तत्व का पता इसलिए लगा कि वह अपने जाने हुए व्यक्ति का पसंद करता है उस परिच्छेद का वास्तविक अभिप्राय हम पुस्तक के शेष भाग का पहले समय ही स्पष्ट होगा। प्लेटो के साथ बहुधा यही होता है कि आगे वह जो कुछ बहुत सुगम दृष्टि में समझना चाहता है उसकी भूमिका वह पहले दे दिया करता है। तीसरे अध्याय में वह सौन्दर्य प्रेम की चर्चा करता है जिसमें वह दृश्यमान जगत में प्राप्त आत्मा के स्वरूप का बाध मानता है। आत्मा सुन्दर

वस्तु को सजातीय मानकर उमका स्वागत करती है। चौथे अध्याय में ज्ञान तथा सत्य की कामना का वह ससार में व्याप्त गति से आत्मा के एक रूप का ज्ञान की इच्छा का प्रतीक मानता है। इन दो परिच्छेदों की अधिक चर्चा न करके जो कुछ दाना में समान और प्रस्तुत परिच्छेदों के उपयुक्त है प्लेटो के अनुसार आत्मा का वह दार्शनिक तत्त्व इस जाण्य में निहित है कि वह अपने से पृथक् वस्तु के प्रति आकर्षित होता है किन्तु वह पृथक् वस्तु भी सजातीय है।

मानव स्वभाव के उक्त दो तत्त्वों का उत्पत्ति जिस ढंग से किया गया है उससे यह आभास मिलता है कि प्लेटो विरल व्यक्तियों में प्रदर्शित होने वाले मानव प्रकृति के विशिष्ट रूप का वर्णन करना चाहता है। परन्तु जम हम इस अध्ययन की जिगा में बढ़ते वम हम विन्ति हागा कि वह सचमुच सामान्य मानव प्रकृति का बात कर रहा है। उसकी धारणा है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में बुभुक्षा तब आत्मगत तत्त्व तथा दार्शनिक तत्त्व-बीना का सारभूत अंश हुआ करता है।

इस प्रकार समाज के प्रमुख तत्त्वों का परिचय मिल जाता है जिनके अभाव में मानव जीवन जसा है वसा टिक नहीं सकता। पशु सहज इच्छाओं की पूर्ति के बिना आत्मरक्षा की सामर्थ्य के बिना तथा परस्पर आकर्षण के सक्रिय सूत्र के बिना समाज गतिशील नहीं रह सकता। समाज की इन्हीं आवश्यकताओं के बाध से मानव स्वभाव में निहित दो उन्नत तत्त्वों का अनुमान यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इन प्रक्रियाओं के उल्टे ढंग से भी सो रखा जा सकता है कि मानव स्वभाव में इन तत्त्वों की स्थिति के फलस्वरूप समाज के मूलभूत लक्षण प्रकट होते हैं।

शासकों के प्रारम्भिक जीवन की शिक्षा

१ विषय प्रवेश

समाज को मूलरूप से प्रवेष्ट मानव-स्वभाव व प्रमुख तत्त्वों की जो धारणा प्लेटो व्यक्त करता है, उसका आंगिक परिचय देकर मुरम्न वह उस स्वभाव व पोषण तथा शिक्षा की चर्चा करने लगता है। वह अपना ध्यान राज्य के एक सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण वस्तु, मुरम्न पर लगा देता है। उसका बयान है कि जिन मनुष्यों का यह वस्तु मीठा मीठा मीठा है उनका स्वभाव मीठा उन्नत तत्त्वों का सशक्त विकास निश्चित रूप से हुआ है। तब दूसरा प्रश्न यह है कि इस प्रकार के चरित्र का निर्माण किस ढंग से करना चाहिये? इसी के समाधान की दृष्टि से वह एमी गिगा-मदति पर विचार करता है जो राज्य के सर्वोपरि वस्तुओं के निर्वाह में पूर्णतः अनुकूल है। स्वभाव और पोषण से ही मनुष्य चरित्र का निर्माण होता है। ये दोनों परस्पर पूरक हैं। वांछित स्वभाव का निर्माण नहीं किया जा सकता परन्तु पोषण के द्वारा स्वभाव के अभाव से सब कुछ निमित्त करना सम्भव है। समुचित पोषण के अभाव में उत्तम स्वभाव के समान रूप से अच्छे और बुरे बन जान की सम्भावना है। प्लेटो की शिक्षा-सम्बन्धी सामान्य धारणा सप्तम अध्याय में दृढ़तया व्यक्त की गयी है। उसका लक्ष्य आत्मा के नेत्रों का प्रकाशमान करना है। इसका अभिप्राय यह है कि शिक्षा का उद्देश्य आत्मा को ज्ञान प्रदान करना नहीं है बल्कि जो श्रेष्ठ गुण उत्तम प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं उन्हें प्रकाशित करना है और यह शिक्षण क्रिया सम्यक् वस्तुओं के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने से सम्पन्न होती है। इस शिक्षा सिद्धांत का जिस प्रणाली से कार्यान्वित किया जाय? प्रथमतः आत्मा के आस पास उन वस्तुओं का परिवर्तन रहना चाहिये जो सुविचार तथा सच्चरित्र के अपक्षित विकास की आधारभूमि बन सकें। प्लेटो की पद्धति

शास्त्रा के प्रशिक्षण का लक्ष्य यही है कि आत्मा सत्य के प्रति आसक्त बन । दोना शिक्षा प्रणालिया का अन्तिम लक्ष्य यही है कि आत्मा के सम्मुख विभिन्न रूपा में शिवतत्त्व प्रस्तुत किया जाय । स्पष्ट है कि सुन्दर एक विशेष रूप में शिव ही है और इसी तरह सत्य भी शिव का रूपांतर है । छठव अध्याय में शिव का उम परमज्योति का स्रोत कहा गया है जो जगत् की प्रत्येक शिव वस्तु प्रत्येक सुन्दर वस्तु तथा प्रत्येक सत्य वस्तु में प्रतिबिम्बित है । अतः शिक्षा यदि अपना चरम ध्येय प्राप्त करना चाहती है तो इसी "यापक बोधशक्ति में वह निहित है । मनुष्य के ज्ञान की परमोपलब्धि चतुर्दिक दृश्यमान जगत् में "प्राप्त विवेक तथा दवीबुद्धि की भरसक प्रतीति करना है । इस तरह प्रारम्भिक अवस्थाओं में लगातार शिक्षा एक ऐसी पद्धति है जो आत्मा की सहायिका बनकर उस समग्र ब्रविध्य में शिव तत्त्व का दर्शन करने की कुशलता देती है ।

अब यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक शिक्षा का लक्ष्य आत्मा को विविध कल्पनात्मक रूपा में शिवतत्त्व का बोध कराना है जिस बाद में तत्कसम्मत रूपा में जानने का अवसर मिलेगा । किन् रूपा में और किस क्रम से यह सम्भव होगा ? शिक्षा का आरम्भ किससे होता है ? यम इसका आरम्भ बिन्दु है । आशय है कि सबसे पहले आत्मा में शिवतत्त्व का परिचय एक ऐसी सत्ता के रूप में कराया जाता है जो पूर्णतः शुभ और सत है । इस सत्ता के सम्बन्ध में अध्यापन करने का अभीष्ट यह है कि आत्मा यथासम्भव परमस्वर के अनुरूप हो सके । अतएव ईश्वर की यथाय सत्ता का निश्चय करना महत्त्व रखता है और बालक के मन में उसके स्वरूप को सरल में सरल तथा सुबाधतम रूप से अंकित करने की जरूरत है । तदनुसार प्लेटो की शिक्षा पद्धति पौराणिक कथाओं से आरम्भ होता है जिनसे परमात्मा के स्वभाव में निहित शिव तथा सत्य का परिचय मिल सके । भल ये कथाएँ काव्यात्मक गली में हा बिन्दु इनका ध्येय वही वस्तु है जिसे कालांतर में तत्त्वविषयक अध्ययन के रूप में आत्मा के सम्मुख प्रस्तुत किया जायगा । आरम्भिक अवस्था में कथा के मन पर देवताओं के बिलकुल सच्चे और शुभ चरित्र को अंकित करना चाहिये । इसके बाद धीरे गुणा का परिचय देकर मनुष्य-स्वभाव के उत्तम तथा पवित्रतम आवरण रूपा का प्रस्तुत किया जाय । शिक्षा का यह क्रमिक प्रभाव आगे चलकर सौन्दर्य में विवेक की पहचान कराने में सक्षम हो । यह सौन्दर्यबाध संगीत के स्वर-ताल अथवा गित्यकला के रूपविधान पर आश्रित हो सकती है । सुसस्वर का प्रयोजन यही है कि उसके द्वारा आत्मा साधक ढंग में दृश्यमान जगत् का मम जानने के योग्य बन । शिक्षा का ध्येय सफल हो गया

यदि उसका कारण बता, स्वभाव और जीवन की परिमिति में भ्रमिन सबन अभीम विविध रूप, आत्मा की मत् का दान और प्रतीति की अन्तर्दृष्टि दे सकें।

गिथा के मार विवेचन और निष्पन्न की समुची चर्चा में प्लेटो जहाँ सुविचार का प्रतिपादन करता है उसका साथ सत्कालीन सत्साधना की समीक्षा में नहीं चूकता। यह समीक्षा धारा के समान ऐसी अवाधगति में चलती है कि चर्चा का गुण पण महज ही विष्मृत हो सकता है। विरोध उसके विचारों को तीव्र कर देता है। ग्रीकजन, हमारे हेसिअड और दूसरे तैमका की रचनाएँ जिन अधश्चर्या में पद्य के और जिन तरह उनमें व्यक्त उदात्त भाव का प्रति ज्वेल रहता था उनके कारण यह स्वभावतः उन महान् तैमकों की बहुत आलोचना उनके द्वारा ही आरम्भ कर देता था। यहाँ कि उसकी आलोचना हम वाणिज्य प्रदान लग सकती है। इसका कारण योधा है। ग्रीक भाषा का कविता से जितना प्लेटो परिचित था उनमें हम नहीं हो सका और ग्रीक जानि उहाँ जिन आदरभाव से ग्रहण करनी था, उनका हमारे त्रिय सम्भव नहीं है। प्लेटो जानता है कि ग्रीकी काव्य रचनाओं से तरुण ग्रीकजन के मस्तिष्क का पोषण मिलता था। यह अच्छी तरह समझता है कि काव्य का निरूपण करते समय वह उनमें कुछ जोड़ने के बजाय उसका कुछ कम ही करता है। स्वदोष स्वीकार के बटाने वह कहता है कि यह सम्वाद कविता लिखन का हनु नहीं है बल्कि राज्य की स्थापना करना इसका लक्ष्य है। अतः वह उन सामान्य मिथ्याता को स्थिर करना चाहता है जिनका अनुशीलन कविता को करना चाहिये। इसीलिए स्वाभाविक है कि उनकी आलोचना में केवल निषेध की ध्वनि अधिक जान पड़ती है।

प्लेटो आरम्भिक गिथा का जिन तरह प्रतिपादन करता है उसके अनुसार वह दो (सुसंस्कार तथा पराक्रम) स्पष्ट खण्डों में बँट जाती है। सामान्यजन की दृष्टि में इस विभाजन के अभिप्राय को प्लेटो पहले खेना है जिनके अनुसार प्रथम खण्ड में आत्मा का प्रशिक्षण और दूसरे में शरीर का प्रशिक्षण रखा जा सकता है। परन्तु इससे वह कुछ देर बाद समझाता है कि आत्मा का विभिन्न भूत गुणों के प्रयोग से भिन्न भिन्न उपायों द्वारा दोषाप्रशिक्षणों का प्रभाव आत्मा पर हो पड़ता है। सुसंस्कार खण्ड में वह पहले साहित्य, फिर संगीत और अन्त में गित्य-वचना का विवेचन करता है। साहित्य के विवेचन को वह विषय-वस्तु और विधा में बाँट देता है। यहाँ भी विभाजन के आधार की साधकता का हमें उचित परिचय नहीं मिलता। जिसे साहित्य की विधा या गली कहना चाहिये, उसके वर्णन में प्लेटो की रुचि नहीं है। सबप्रधान समस्या है आत्मा को क्या

मिलाया जाय ? चूंकि साहित्य की वनिषय विधाए आत्मा पर विशेष प्रकार का सस्वारभक्ति करन में उपयोगी हो सकती हैं असीलिए मान्त्रिय विधा का विवेचन करने में वह प्रवृत्त होना है ।

जहाँ तक विषयवस्तु का सम्बन्ध है दार्शनिक साहित्य का मुख्य विषय द्रव्य स्वभाव को देवताओं की कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत करना है । इनके बाद प्लेटो वीर पुरुषों और सत्ता की कथानिया में अद्भुत प्रकृति का चित्रण आवश्यक मानता है । इस विषय में विभाजन के साधन-माप नीति सिद्धान्तों के अनुसार दूसरा विभाजन भी होता है जिसकी गिना इसी साहित्य के प्रयोग में दी जानी चाहिये । प्लेटो जिन गुणों की वरपना करता है उन्हें मनुष्य चरित्र की आधार भूमि माना जाय । दो मौलिक गुणों से गिना का आरम्भ होता है जिनके अनुसार बच्चों का लालन पालन होना चाहिये । वे गुण हैं माता पिता के प्रति श्रद्धा और बन्धुत्व की भावना । इसके बाद तीसरे अध्याय में शुरू में बच्चों के लिए आवश्यक गुणों की चर्चा के स्थान पर विकसित मनुष्य के दो माय प्रधान गुणों की विवेचना की गयी है । वे गुण हैं साहस और आत्मनियम । प्लेटो इनमें तीसरा गुण सत्य जोड़ देता है ।

२ साहित्य में वर्णित कल्पित कथाएँ और धारणाएँ

गुप्तस्वार के विषय की आरम्भिक चर्चा करते हुए प्लेटो विस्मयकारा भा प्रस्तुत करता है कि गिना का आरम्भ मिथ्या वस्तु से होना चाहिये । वह मिथ्या को दो अर्थों में प्रयुक्त करता है । समस्त साहित्य और सम्पूर्ण दार्शनिक एक दृष्टि से मिथ्या है यदि वे वस्तु या घटना के यथार्थ प्रताक नहीं होते हैं । इस अर्थ में पुराणवत् निश्चित रूप से मिथ्या है क्योंकि पुराण में ईश्वर का मनुष्य के रूप में जसी लीला करते हुए चित्रित किया गया है वास्तव में ईश्वर कभी नहीं कर सकता था । प्लेटो कहता है कि पुराण-कथाएँ मिथ्या हैं । उमके जमाने में यह प्रथा थी कि पुराण कथाओं का तत्कालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता था । प्लेटो ने जानबूझ कर ऐसा नहीं किया । क्याइस में इस प्रकार की प्रथा को वह अनुपयोगी या निरर्थक कहकर अग्रहण कर देता है । किन्तु प्लेटो के अतिरिक्त किसी दूसरे लेखक ने पुराण-कथाओं का कभी ऐसा प्रभावशाली उपयोग नहीं किया है और वह जानता था कि किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने ऐसा किया । टिमिडियस में वह वतलाता है कि जगत के निर्माण की निश्चित सत्यता का विवरण देना उसके लिए सम्भव नहीं है । फिर भी वह

उसका एक शब्द चित्र देगा और ऐसी पुराण कथा प्रस्तुत करेगा जिसमें मर्त्य की सत्यता का आभास मिलेगा। तब जब वह दबता-का के स्वभाव की उल्टाई पूर्वक चर्चा करता चाहता है तब वह पुराण-कथा की भाषा को त्यागकर दान की भाषा में बोलने लगता है। वह ईश्वर अथवा देवताओं के विषय में अवतार वाली भाषा की पुराण-कथा की भाषा मानता है।

किन्तु मिथ्या गल्ल का एक दूसरा अर्थ भी है जिसके अनुसार सभी पुराण कथाएँ मिथ्या नहीं हैं। गल्ल का अर्थ मजा मिथ्या है वह हितकारी या अहितकारी हो सकता है। जब मर्त्य सत्य की कथना का अपने भीतर रखकर उभरता प्रतीक बनती है, तब वह इस अर्थ में शुभ हो जाती है। उन पुराण-कथाओं का भी हम अर्थ में हितकारी कहना चाहिये जिनमें दली चर्च के साथ कथा का अर्थ हितकारी जानकारी के विपरीत अस्मय-भाव है किन्तु जिनके द्वारा नैकी स्वभाव का यथासम्भव वास्तविक चित्रण किया गया है। जिस पुराण-कथा में ईश्वर के दुष्कर्मकर्ता या स्वस्थ अवित हुआ है, वह उपरोक्त दोनों अर्थों में मिथ्या होगी। इसीलिए प्लेटो यह जानने हुए भी कि पुराण-कथाओं की गली असत्य है, उनका उपयोग करने में वह आगापेछा नहीं करना चाहता क्योंकि उनसे द्वारा मर्त्य की मारभूत कल्पना व्यक्त हुई है।

इसी दृष्टि से प्लेटो ईश्वर विषयक कथाओं के निमित्त कुछ सिद्धान्त निर्धार करता है, जिनके अनुसार कथा की सत्य अथवा मिथ्या माना जा सके। जिन पुराण-कथाओं में देवता माना पिता के प्रति अपने कर्तव्य पालन में विमुख दिखाये गए हैं, प्लेटो उन्हें अनीतिकर कथाएँ कहकर त्याग्य मानता है। इन सिद्धान्तों को अथ नियम-पद्धति कहा जाना चाहिये और प्रायः हर ग्रीक लेखक के चिन्तन में इन स्थान मिलते हैं। पहला नियम यह है कि ईश्वर शिव है और कबल वही शिव का कारण है। दूसरा यह कि ईश्वर सत्य है और परिवर्तन या छल करने में अक्षम है। जनता में प्रचलित धर्म की कतिपय मिथ्या कल्पनाओं पर इन्हीं दो नियमों से प्रहार किया गया है।

(क) जब प्लेटो ईश्वर के शिवत्व की बात करता है तब उसके मूल में उपकार या दया करने की भावना है। हम नित्य हित अथवा हितकर और क्रियाशील हित अथवा हितकारी में भेद करते हैं। प्लेटो की दृष्टि में ऐसा कोई भेद नहीं है। इसीलिए जिन कथाओं में ईश्वर मनुष्यों के अहित का कारण बताया गया है अथवा उन्हें सचट में डालता है उन्हें प्लेटो त्याग्य मानता है। एक ऐसा

ही परिच्छेद म हम इजकीन व अध्याय म मिल सकना है जिमम वह इस लोकोक्ति को घोषा बतलाता है—'बाप नीम ग्याय बच्चा का मुह कडुवा हा जाय । ऐसी प्रचलित धारणा के विरुद्ध प्लेटो सहज तर्कमगत अनुमान का दृढतापूर्वक या रखता है कि यदि ईश्वर सत या शिव है तो वह असन अथवा अगिव का कारण नहीं हा सकता है । अपनी रचना टिमदयता म उमन कहा है कि ईश्वर ने समार बनाया क्यकि वह शिव या सत है और इसीलिए उसकी इच्छा है कि उसक अनुरूप ही सब कुछ हा जहाँ तक ऐसी अनुरूपता सम्भव है उस यथार्थक शिव हाना चाहिये । इस प्रकार प्लेटो सृष्टि के मूल-सम्बन्ध पुराण प्रश्न को अपने सम्मुख पाना है । वह मानता है कि मानव-जीवन म अशुभ वस्तुआ की सख्या गुभ स बहुत अधिक है सकिन यह अशुभ या अगिव कहाँ से आता है ? इस प्रश्न का बहुत सहज समाधान उमने इस तरह किया है कि मनुष्य की विपत्तएँ ईश्वर की बनायी हुई नहीं हैं अथवा उह अशुभ नहीं कहना चाहिये क्यकि मनुष्य व चरित्र भाजन की दृष्टि स विपत्ति एक प्रकार का दण्डमान है । फिर यह कहना असंगत है कि मनुष्य के दुःख का कारण ईश्वर है और तब मनुष्य का दुःखी मानना भी गलत है क्यकि जब मनुष्य दण्ड व योग्य हाता है तभी उस दण्ड मिलता है । आशय यह हुआ कि इस सहा निगाह से देखन पर दुःख या विपत्ति व अशुभ म अशुभ सचमुच अशुभ नहीं रह जाना ।

दूमरे सम्वादा म जनकदण्ड स दस पर चर्चा की गया है । कई परिच्छेद म बताया गया है कि अशुभ या दुःख मानव जीवन और उसकी कल्पना व ससार का किसी न किसी रूप म आवश्यक मूल पदार्थ या उपादान है । भौतिक एवं नैतिक जगत म यह ममानरूप स लागू है । केवल दवी प्रकृति म अशुभ का मवसा अभाव है । इस आवश्यक तत्त्व का अपन जीवन म हम किम प्रकार जगीदार करें ? प्लेटो लाज (Laws) नामक ग्रन्थ म इस तरह उत्तर देना है हम कवन अपने अज्ञानवश ही किसी वस्तु का जहितकर या अशुभ मानते हैं । यदि हम अपनी दृष्टि व समीपवर्ती जल्पाव व बजाय समग्र वस्तु का साध प्राप्त करें ता प्रत्येक वस्तु को शिव या गुभ की आर सचेष्ट देखने म हम समर्थ हाग । जितना सब विद्यमान है जा ज्ञान का परम स य है और जगत म मनुष्य का जिमक देखन का मल करना है यह सब रिपब्लिक के शिवत्व की कल्पना म अन्तर्निहित है । विश्व के बोध का जाग्य है—उसम विगजमान शिव का दर्शन करना । विश्व म शिव व दर्शन करन का अर्थ है—वस्तुआ के मूलगत तत्त्व का पहचान । कोई भा मनुष्य इस परमस्थिति को प्राप्त नहीं कर सकना किन्तु

मनुष्य का अपूर्ण ज्ञान इसी आदर्श के महारे पूरता की अभिलाषा पर मकता है। 'म विषय म प्लेटो की दा प्रमुख धारणाएँ हैं। वह मानता है कि मनुष्य यथाम्भव जिन दृश्यमान जगत् की अनुभूति करता है, वह तात्त्विक दृष्टि से अपूर्ण है और उसमें अशुभ विद्यमान है। 'म विश्व म एक ऐसा तत्त्व है जो ईश्वरेच्छा अथवा विवक-कर्म का विरोध करता है। परंतु इसी दृढ़ता म उसकी यह मायता भी है कि वस्तुजगत-सम्बन्धी हमारा ज्ञान जितना बढ़ता जायगा उसी अनुपात म हम बोर हागा कि अग्नि का एक कारण है और इसी म उस सच्चमुच अग्नि नही कहा जा सकता। इन दोनों का वह मूलभूत प्राकृतिक तथ्य जमा निरूपित करता ह। किसी भी प्रसंग म उसने इन दा तथ्या का सामाजिक स्थिति का प्रयत्न नहीं किया। यह कहना बठिन ह कि गिव मिद्वान्त के समा नान्तर प्लेटो अग्नि मिद्वान्त की कल्पना करता है या नहीं करता। उसके लेखन म ईश्वरीय विवक क उद्धारमूलक काय का विचार ही अपभावित अधिक प्रधान ह।

(ख) दूसरा ईश्वर सत्ता का सिद्धांत है। प्लेटो इसके 'म अर्थ करता है प्रथम ईश्वर अव्यय है, द्वितीय ईश्वर छल नहीं कर सकता

(अ) 'मय अथवा विचार प्लेटो क अनुसार दा प्रकार का हाता है बाहरी माध्यमों के फलस्वरूप विचार या परिवर्तन तथा विचारी व्यक्ति की कामना के कारण अन्तरमय परिवर्तन। तब पहले यह प्रश्न उठता है कि क्या बाह्य माध्यमों के प्रभाव से ईश्वर म विवास हान की कल्पना करना सम्भव है? ग्रीक दर्शन के एक लक्षणारमक विचार का प्रयोग करके प्लेटो इस प्रश्न का उत्तर देता है जिस या कहेंगे कि बाह्य-परिस्थितियाँ से प्रतिफलित विचार या परिवर्तन अतर्जित अथवा स्वभावज दुर्गुण या अशक्ति का सम्पन्न है। जीव-जन्तु मानवात्मा, कलाकृतियाँ आदि के उदाहरण देकर इसी सिद्धांत से वह उनकी जाच करता है कि वस्तु मूलतः जिन अनुपात म सत् अथवा गिव हागी, उसी मात्रा म बाह्य प्रभाव उसे विकृत कर सकते हैं। अतः परमदृष्ट वस्तु हाने के कारण ईश्वर म विवास प्रायः असम्भव है। सहजभाव से बाहरी प्रभाव के वशीभूत होना भी हमें अपनी हीनता का सूचक मानना चाहिये। मनुष्य जितना अधिक बलिष्ठ होगा, उस पर जलवायु भाजन और इसी तरह की अन्य वस्तुओं का उतना ही कम प्रभाव पड़ेगा। किसी जन्मजात नैतिक शक्ति का कोई प्रमाण नहीं है जिससे

आशय में रहकर मनुष्य बिना प्रभावित हुए अगणित परिवर्तना या विचारा को झलने में समर्थ हो। इस धारणा में तितिधावात् का मूलतत्त्व बीज रूप में मिलता है। शक्ति अथवा सद्वृत्ति किसी प्रकार की कल्पनाय पर स्थितिया में भी अविकारी या अच्युत बने रहने की सामर्थ्य से स्वयं प्रकट होती है। ईश्वर स्वयं विकारी हो सकता है या नहीं—इस प्रश्न का समाधान ईश्वरीय पूर्णता की कल्पना में निहित है। स्वेच्छानुसार आत्म विचार का एकमात्र प्रयोजन बुभुक्षा ही है जो ईश्वर के में दभ में निष्क्रिय है क्योंकि वह आद्यपूर्ण और निस्पृह है।

अतएव ईश्वर प्रकृति नाश्वर और नित्य है। इस नियम का प्रधान लक्ष्य ग्रीक देवताओं सम्बन्धी अनेकरूपता के विरुद्ध है। इसी का ध्यान रखकर प्लेटो बच्चा को आतंकित करनेवाली भूत प्रेत कथाओं का ढग की कहानियाँ को बर्ज्य मानता है। उसके मत में यह सब ईश्वर का अपमान है। आधुनिक यूरोप के जनप्रिय घम और अधश्चर्याओं की उपशालाओं में आज भी बहुदबवादी पुराण कथाओं का यही प्रकार प्रचलित है जिसकी चर्चा वह कर रहा है। प्लेटो अपने युग की साधारण धोली के अनुकूल नि सकोच ईश्वर के आकार तथा रूप का उत्सव करता है और ईश्वर एवं देवताओं की बात अलिप्त होकर उठाता है। मूलतः यह अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और ईश्वर के रूपधारण की कल्पना बहिष्कृत कर देता है क्योंकि रूप का साथ निश्चय ही विकारशीलता जुड़ी हुई है। परन्तु जब वह शिक्षा की चर्चा करने लगता है तब जनता के घम की बोली का उपयोग करने में नहीं विवशता और धार्मिक भावनाओं को बालका के चित्त पर सुबोध ढग से अंकित करने की सिफारिश करता है। वह पेयाड्रस में इसी आशय से कहता है कि हम ईश्वर के दृष्टकारी रूप का विचार भले ही कर लें परन्तु यह कल्पना हमारे चित्त की अपूर्णता का फल है और ईश्वर के विषय में हमारी मनगढ़त गल्पमात्र है।

। अगला सवाल यह है कि क्या ईश्वर छत्र कर सकता है? यद्यपि देवगण विवृत नहीं होते तथापि अभी जो चर्चा हुई है उसके सिलसिले में यह आनेप लो किया ही जा सकता है कि वे हमें भ्रम में डाल सकते हैं और हम उकसाते हैं कि हम उन्हें भ्रम उत्पन्न करनेवाला मानें। किसी तरह के वास्तविक परिष्कृत या विचार के बिना भी वे हम माना प्रकार के रूपा में भूत होते दिखायी दे सकते हैं। इसी ढग के कारण हम छत्रना की

सामान्य प्रक्रिया पर विचार करना चाहें। प्लेटो इस प्रसंग में मिथ्या प्रभाव उत्पन्न करनेवाली सभी विधियाँ को शामिल करता है किन्तु सबसे पहले वह एक विचित्र अथवा मिथ्यात्व का वर्णन करता है जिसको समझ लेने के बाद कोई प्राणी श्रेयता अथवा मनुष्य कभी चुपचाप स्वीकार नहीं कर सकता। छलना या छद्म का अभिप्राय भ्रम में डालने के द्वारा स मिथ्या भाषण करना तो है ही साथ में यह मनलव भी हो जाता है कि वह स्वयं छलदशा में है अथवा भ्रातिग्रस्त है। इस प्लेटो आत्मगत छन कहता है जिस हम चाहें ता आत्मवचना कहें। उसका कथन है कि इस देवगण और मनुष्य समान भाव से घृणित मानते हैं। एकाएक दखत ही अविद्या या अज्ञान की चर्चा करने का यही ढंग बहुत ज़रदार लगता है। इसको सबसे अच्छी तरह समझने के लिए इन 'सोफिस्ट' (Sophist) नामक रचना में अविद्या या अज्ञान विषयक परिच्छेदों से इसकी तुलना करके देख लें। उनमें प्लेटो कहता है कि मानसिक अशुभ के दो रूप हैं दुराचार जिसकी तुलना दहिर रोग से करता है तथा अविद्या जिसका मिलान उससे दहगत विरूपता से किया है। उससे अनुसार अविद्या का अभिप्राय यह है कि आत्मा को सहज-वृत्ति सत्य की ओर हाव हुए भी वह लभ्यव्युत्त हो जानी है जैसे कोई मनुष्य अपने जवयवा का संचालन इच्छानुकूल नहीं कर पाता। इस अंग विरूपता का वह साम्याभाव या मनुष्यन अभाव नाम भी देता है। 'रिपब्लिक' के छठे अध्याय में इस अंग विरूपता की विपरीत दशा को प्लेटो आत्मा की साम्यावस्था कहता है। उसका विचार में आत्मा की अनुपातयुक्त अथवा अनुपातगृहित हान की दशा के अनुसार ही वह सत्य की प्रतीति करने में दक्ष या अक्ष होनी है जिस तरह हाथ वस्तु ग्रहणता का अनुकूल क्षमता रखता है या नहीं। हम अविद्या में सिर्फ सूचना का अभावमात्र समझते हैं लेकिन प्लेटो के भाष्य में सूचना अज्ञान का अल्पांश भर है। किन्तु इस आशय की अपेक्षा प्लेटो की दृष्टि में इसका उन्मूलनवाणी अथवा ही अधिक महत्वपूर्ण है। समार की यथातथ्यता से समरम न होना ही अविद्या है। इस बात को प्लेटो जिस गंभीर और भाषा में व्यक्त करता है उसकी तुलना कारलाइन के रंग से की जा सकती है जो वस्तु-नप्य की पहचानने की असमाध्य का निरंतर उल्लेख करता है। थेसालोनियांस को सम्बोधित द्वितीय एपिस्तल के आरम्भ में भी इसका मिलान किया जा सकता है। ईश्वर प्रवचनार्थ भजकर वह छलना में विश्वास करने की

बाध्य करेगा। मानव चरित्र के एक गुण के नाते सत्य स प्लेटो का अभिप्राय है—सत्य स्थिति, जो मसार की व्यवस्था अथवा उसका तथ्या का उचित समाधान करे। उसका विपरीत अधिक् गूठ अथ म अविद्या ऐसी वस्तु है जिससे प्रत्यक् घृणा करता है। सीधी बात है कि अगर किसी स पूछें—क्या आप असत्य या छल में विश्वास करना चाहत है? तो वह चकित होकर उसे ठुकरा देगा। इसे विक्षिप्तता या पागलपन का एक प्रकार समझिये क्योंकि पागलपन भी असत्य या छल में विश्वास करने की उग्र तथा स्थायी मनादशा है।

असत्य या छल के इस पहलू का उल्लेखमान करके उस यही छोड़ देना है। हमारा मानस में मोहजाल की सृष्टि करनेवाले ईश्वर की कल्पना असम्भव है क्योंकि तब वह स्वयं मोहग्रस्त हो जाता है। फिर क्या उसकी ऐसी कल्पना की जा सकती है कि वह असत्य भाषण कर अथवा भ्रमोत्पान्क परिस्थिति हमारे समक्ष रखे? पहल हम यह समझ लें कि ऐसी कौन सी परिस्थितियाँ हैं जिनमें असत्य घृणास्पद नहीं है। कुछ मामल हैं जिनमें औपधि व समान असत्य या छल का लाभप्रद उपयोग हो सकता है जस पागला से काम पड़ जाय तो? इससे मिलता-जुलता युद्ध का प्रसंग है जिस समय असत्य या छल का उचित मान लिया जाता है। वैसे प्रत्येक उपचार के समान अपने आप यह पाप या अनुभ है परन्तु इन मामला में वह मोना में से कम अनुभ है। कभी कभी अज्ञान व नाम पर भी इसे उचित मान लिया जाता है। जब हम ममग्र सत्य से अनभिज्ञ रहते हैं तब यह जानत हुए भी कि हमारा वक्तव्य आगिक रूप से मिथ्या है उसे यथाशक्ति सत्य के निकटवर्ती अथ म रखने का यत्न करते हैं। किंतु इनमें से एक भी प्रयोजन हम ईश्वर में आरोपित नहीं कर सकते। ईश्वर अज्ञानशत्रु होने का कारण अभय है विक्षिप्त मनुष्य स व्यवहार करने जसी कोई सकटापन्न स्थिति का उसे अवसर ही नहीं और वह सचज है। निष्पथ यह हुआ कि ईश्वर वचन और कम से ऋजु तथा सत है वह सदा अविचारी है कभी छल नहीं करता। (वाचिक असत्य को इस प्रसंग में आत्मा के स्नेह का एक नकल कहा गया है, वह अगले जन्म की कल्पित छवि है।) इस वचन में यह ध्वनि जान पड़ती है कि जो मनुष्य झूठ या असत्य बोलता है उसकी आत्मा में असत्य पहले से ही है और वह स्वयं इस वचना की चपट में है। तबिन इससे बेचन इतना ही अथ निवन्ता है कि वाचिक असत्य

पूर्वकाल में कल्पित मिथ्या विचार की अभिव्यक्ति है असत्य भाषी में उसका मिथ्यात्व अनात नहीं है ।

उक्त परिच्छेद नागा की बर्मा-बर्मी इमलिए ज्ञेय में डाल देता है कि ज्ञान रूपक असत्य भाषण को प्लेटो उनका बुरा नहीं समझता जितना अज्ञानी बने रहना । परन्तु इन दोनों के बीच तुलना में वह नैतिक अपराध का प्रश्न नहीं उठाता । प्लेटो सहज दृष्टि से कहना है कि स्वभावतः प्रत्येक व्यक्ति प्रवचना की स्थिति में धृष्टता करता है । उसका कथन का अभिप्राय यह है कि किसी महत्त्वपूर्ण मस्य के विषय में नितांत प्रवचना प्रस्तुत बने रहने की अपेक्षा बहुतेरे लोगों का बग चले मो व असत्य बोलना आसन्न पसन्द करेंगे । मगर इन दोनों स्थितियों के नैतिक मूल्यांकन का प्रश्न वह अछूता छोड़ देता है । जो कुछ वह दूसरा को ठगने की निश्चिन्ता के विषय में कहता है उस प्रयोजन तथा प्राप्तव्य ध्येय का प्रश्न बताकर रह जाता है । जब असत्य धर्म्य मानना चाहिये जब उससे मुक्त मनोवाला इष्ट उसका द्वारा घटित हानि से अपेक्षाकृत बड़ा हो और जब किसी उपाय में वह प्राप्त नहीं किया जा सके । इस सिद्धान्त के अनुसार आगे चलकर प्लेटो जनता में ऐसे विश्वास को बनाये रखना उचित ठहराता है जिसे शासक असत्य मानते हैं । इसका ममथन करते हुए वह कहता है कि ऐसा विश्वास अधिवाश जनता में दण्डप्रेम को हट करता है क्योंकि उसने यथायथ कारण को ममथन की वृद्धि उनमें नहीं पानी । ऐम परिच्छेद में स्पष्ट हो जाता है कि कम में कम एक दिना में जहाँ हम असत्य के बयनमात्र से बहुत बड़े खतरे का आभास होता है वहाँ प्लेटो को गंता कुछ नहीं लगता । तथापि जहाँ-जहाँ वह असत्य को उचित ठहराने लगता है वहाँ उसे एक सपेक्षता, मानवी दुबलता के प्रति एक गिरावट का रूप में देखता है । आगे है कि एक पाप या दुग्गुण है जिसे निपटाने में आप किसी दूसरे उस से धरतन की शक्ति नहीं रखते । इस विषय में नागा का मतभेद मचमुच तब होता है जब यह सवाल उठता है कि जो सब नहीं है उस व्यक्त करने की ज़रूरत किम प्रसंग में पुरु होती है ? मनुष्य जितना महान् हागा उसे असत्यता की उतनी ही कम आवश्यकता मानूम पड़ती है । बहिन परिस्थितियों में सत्यभाषण की सम्भावना ही शक्तिशाली चरित्र की कठोरतम परीक्षा के दूसरे साधन में से एक है ।

इसमें कोई मन्दह नहीं है कि गत्यभाषण ग्रीक जाति का राष्ट्रीय सदगुण नहीं था । अगले परिच्छेद में इस विषय में प्लेटो का कथन है और कठोरता है, तथापि यहाँ वह केवल मरय की मानसिक दशा पर ही बन्द रहता है मरय

भाषण पर उसका आग्रह अपेक्षाकृत कम ही है। सत्य की कल्पना को मनोदशा के रूप में ग्रेकोन तथा सत्यप्रियता के बीच सम्बन्ध सूत्र उस गुण विशेष में मिलता है जिस अरस्तू 'सत्' या 'ऋजु' का नाम देता है। सच बोलने की परिपाटी से इसका सरोकार नही है। हम जा कुछ कह वह हमारे अन्तःकरण की सत्यता का स्वर हो जा हम प्रकट रूप में दिखाना चाहते हैं वही भीतर भी हो और जो भीतर है वही प्रत्यक्ष भी दीखे। सत्य का यह स्वरूप ग्रीक जाति को बहुत भाया था और इस वे सत्यप्रियता के 'यापार' से अधिक महत्त्व देते थे। इस महत्त्व का आशय यह है कि सवतोमुखी प्रतिभा तथा व्यक्तित्व 'नूयता' धृणा का विषय रहा है जिसे रिपब्लिक में दृष्टतापूर्वक उक्त किया गया है। हम मानूँ है कि ग्रीक जाति के कुछ जन समूह एक प्रकार की सशयहीन सवतोमुखी प्रतिभा को काफी पसंद करते थे। शायद यही वजह है कि प्लेटो इस विषय पर अपनी कठोर प्रतिक्रिया प्रकट करना है। इस कारण से ईश्वरीय प्रवृत्ति के द्वार में प्राथमिक सिद्धांतों में से उमन इस सिद्धांत का अनुशीलन आवश्यक बताया है कि वह ऋजु या सरल है और अपने स्वरूप में नित्य स्थिर है।

तीसरे अध्याय के आरम्भ में हम स्वयं ईश्वर या देवगण के स्वरूप के विचार से आगे बढ़कर मानव स्वभाव में एकीकृत दीलायी देनेवाली दबी प्रवृत्ति की चर्चा में प्रवेश करते हैं। जिन बहुतरी पुराण तथा जागर आनेप किया गया है और उन्हें उपयोगी माना गया है वे देवगण से सम्बद्ध न होकर अथ देवताओं और गुरुवारा के विषय में हैं शेष कथाएँ ऐसी हैं जिनमें स्वर्गण मनुष्य के हिताहित की दृष्टि से मानवी भावनाओं में प्रभावित दीलाय गये हैं। इस प्रकार हम देवगण और मनुष्यों के मिले जुले भूखण्ड में पहुँच जाते हैं। सपागवशात इससे प्लेटो को उत्कृष्ट नैतिक स्वभाव का निरूपण करने और इसके सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं पर चोट करने का भी अवसर मिल जाता है। साथ में उसका सुझाव है कि कविगण अनुचिन् के उदाहरण प्रस्तुत करनेवाली रचनाओं के द्वारा उचित की प्रतिष्ठा करना अपना कर्तव्य मानें। (गुरु से आखिर तक रिपब्लिक में यही दोहरी प्रक्रिया चलती है और बहुत बार इसका विबालात्मक रूप सर्वोपरि हो जाता है।) इसके साथ ही शिक्षा की जो आधार शिक्षा ईश्वर माना पिता और बंधुत्वभाव के प्रति श्रद्धा द्वारा दृढीभूत करना है उसकी चर्चा का तार साहस सत्याचरण तथा आत्म नियन्त्रण के विशिष्ट मदगुणों से जोड़ दिया जाता है। इन सद्गुणों का शीघ्रशानी प्रतीक आत्मा के सम्मुख रखकर उसे अभ्यस्त करना होगा जिस प्रकार विगत परिच्छेद में नित्यता शिवत्व तथा नित्यता के मूलभूत सिद्धांतों से दबी प्रवृत्ति

सम्बन्धी ब्याख्या के द्वारा आत्मा को सुपरिचिन्त किया गया है। दूसरे अध्याय के अंतिम भाग में प्लेटो मुख्यतः बाल शिक्षा का प्रतिपादन करता है, जबकि तीसरे अध्याय के आरम्भ में वह बालकों में हस्तकर्म शिक्षा की शिक्षा पर ध्यान देता है। जरूरी है कि रिपब्लिक के इस भाग को सभी दृष्टियों से परस्पर समन्वय के सम्पूर्ण विचार-धारा को समझ लिया जाय। इस भाग में शिक्षा पद्धति, नैतिक सिद्धांतों का निरूपण और गुण दोष विवेचन तीनों क्रमशः आधिकारिक रूप से चर्चा के विषय हैं।

सबसे पहले साहस अथवा शौर्य पर विचार किया गया है। चूंकि 'रिपब्लिक' के विभिन्न भागों में सद्गुणों का विवरण पृथक् पृथक् ढंग में हुआ है, इसलिए यदि हम किसी सद्गुण के सम्बन्ध में प्लेटो की धारणा का सही रूप जानना चाहते हैं तो हम सभी परिच्छेदों की छानबीन कर उस स्थिर करना पड़ेगा। अतः शौर्य या साहस के बारे में कुछ देर बाद से विचार करेंगे। दूसरे मामला के अनुसार यहाँ भी हम साहस और शौर्य के सम्बन्ध में ग्रीक जनता की धारणा का खते हैं जिसका अर्थ मृत्यु की भयहीनता है। अतएव के मतानुसार ग्रीक मानस मृत्यु को विशेष भीषण वस्तु समझता है और वही मनुष्य श्रेष्ठ गुरु है जो मरने से नहीं डरता। बालान्तर में शौर्य की कल्पना विस्तृत हो गयी और हमें इस प्रारम्भिक अर्थ के साथ किसी तरह की विकृतता और मनुष्य का सहज विकलित करने वाली भीषणता के सम्मुख अटल रहने का गुण भी जुड़ गया। शौर्य के प्राथमिक अर्थ से प्रेरित होकर प्लेटो मृत्यु-नरक और मरणोत्तर जीवन के विषय में भी कुछ बातें करता है। वह कहता है कि सच्चरित्र मनुष्य किसी भी दशा में मृत्यु का भीषण वस्तु नहीं मानता। इसका मतलब हुआ कि वह अपने सदाचारी मित्रों के लिए भी मृत्यु को भयावह नहीं समझता। इसी कारण वह अपने मित्रों का विमोह दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रयत्नकर्म कर सकता है। ऐसी सहिष्णुता का दूसरा कारण यह भी है कि वह जय जोषा की तुलना में श्रेष्ठतम स्वतन्त्रमति होता है। नरक यातना के दार्शनिक चित्र, भविष्य-दृष्टि से मने ही कल्पना और भावनाओं को उत्तेजित करें, वे मरने नहीं हैं और उनमें कोई लाभ की आशा करना व्यर्थ है। ध्यान देने की बात है कि प्लेटो विद्वानों की मर्यादा को बाल-मापकता में जिस तरह हमेशा जोड़ दिया करता है। इन दोनों बातों को वह एक ही और समान वस्तु नहीं मानता, फिर भी उसका मतिष्य में दोनों जुड़ी हुई हैं।

अभी हम शौर्य के अर्थ विस्तार में अपनी मृत्यु के प्रति निमग्नता के साथ अपने मित्रों के मरण से भयहीन रहने का समावेश देना चुके हैं। अब प्रायः

अनजाने ही इस शीघ्र व निश्चय पक्ष नितिक्षा तथा सहिष्णुता का विचार करने चले हैं। यह प्रसंग आते ही प्लेटो शोकोद्गार की अनिश्चय अभिव्यक्तियाँ पर प्रहार करने लगता है जो होमर की रचनाओं में मिलती हैं, और जो मनुष्या और गुरवीरो तक के कण्ठ से प्रकट होना व कारण विशेष निन्दास्पद हो जाती है। क्या शूर पुरुष का शोकात होकर भूमि पर लुण्ठित होना सामा देना है? शोक सयमन के अर्थ में जो सहिष्णुता कहलाती है उसी का विस्तार अनिश्चय भावावगम व सामान्य नियन्त्रण तक हो जाता है। इस प्रकार नितिक्षा या सहिष्णुता में शीघ्र तथा आत्मनिग्रह का मेल होता है। प्लेटो के चिन्तन का यह विषय लक्षण है कि वह ऊपरी तौर पर बिलकुल बेमेल दाखनवाली वस्तुओं में मेल के सूक्ष्म लगातार दिखलाता चलता है जसा हम परिच्छिन्न में उसने किया है। ऐसा समझिए कि उनकी कल्पनाएँ उसके बग में नहीं रहती और मतलब एक दूसरे में रूपांतरित हुआ करती हैं। इन सदगुणा व सारे निरूपण में ग्रीक चरित्र का प्रमुख लक्षण अति सक्त्र व जयेत स्पष्ट दीखता है चाहे वह शोक हास्य दुःखा वासना या कोई भावना हो। हम स्मरण रखना चाहिये कि ग्रीक चरित्र में प्रतिष्ठा के प्रति विशेष आग्रह नहीं था। ग्रीक जाति या उसके कुछ बग प्रचण्ड चित्तशोभ के अधीन हुआ करते थे। यही कारण है कि ग्रीक दानज मनावग के समय पर निरंतर आग्रह करते रहे हैं। ग्रीक जाति में आत्म सम्मान का निराशा अभाव था और आत्मविस्मरण की महज वृत्ति थी जिस रामन जाति खासतौर से जशोभनीय मानती थी। यदि इन बातों को हम ध्यान में न रखें तो इस परिच्छेद का ग्राह्यनिर्माण हमें बठोर और उत्तमसीन लगाता तथा हास्य का उल्लेख ता मूलतासूचक जान पड़ेगा। प्लेटो की धारणा का आधार यह नहीं है कि भाव प्रवणता बुरी है बल्कि यह है कि भावातिरेक चरित्र को चोट पहुँचाकर उसे दुबल बना देता है।

शीघ्र तथा आत्मनिग्रह के बीच सत्यप्रियता पर सन्निपत परिच्छिन्न मिलता है। यहाँ हमें आनाकारिता का एक अंग और सामान्यतः प्रभुशक्ति की स्वाहृति का लक्षण माना गया है। मान लिया गया है कि असत्य अपने आप में घृणित है जब तक परिस्थिति उसे उचित सिद्ध न कर दे और प्लेटो की राय में असत्य को जो परिस्थिति उचित सिद्ध करती है वह केवल प्रभुतापनासीन व्यक्तियों का लागू है। इसके समयमें वह कहता है कि रागी के हित की दृष्टि से डाक्टर उसे धोखा न सकता है और जनता की भलाई के लिए तामक उसका साथ छोड़ कर सकता है। शेष सभी लोगों के लिए सत्यप्रियता निरपवाद मिद्वान है।

यन्त्र नामरिक गामक वय से असत्य व्यवहार करता है ना वह डाक्टर मे रागा व भूठ चलन व समाज अहितकर है ।

एसी के आग आत्मनिग्रह अथवा मिताचार का विषय आता है जिसका मार प्रभुशक्ति के प्रति आनाभाव है, चाह वह गामक हों अथवा अपनी अंतरात्मा । आत्मनिग्रह का निरूपण प्लेटो ने तीन ज्यों में किया है प्रथम प्राथिकृत पुष्पा व प्रति आनाभाव, दूसरे क्षुधा समय (विशेषतः कामलिप्सा और लाभ-लालसा पर नियन्त्रण और शारीरिक बुभुक्षा से लोभ का अदृष्ट नाता रिपब्लिक' में जोड़ा गया है ।) तीसरे सम्पत्ति घटता और अहंकार जिसे एकीनीय की कहानिया में चरितार्थ किया गया है । अहंकार जमे विपरीताय व द्वारा निग्रह का अभिप्राय बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है । अहंकार वह गामा'य भावना है जिसमें वशीभूत होकर मनुष्य अपने में ऊँच शक्ति या वस्तु का विह्वल तत्पर हो जाता है । दैवी नियम अथवा वैध प्रभुशक्ति के प्रति अवहेलना करके अथवा विवकममत्त विधि व विह्वल बुभुक्षात्मक विद्रोह करके इस अहंकार का प्रत्यन किया जाता है । इस प्रकार निग्रह में विनयशीलता का समावेश है । अक्सर कहा जाता है कि विनयशीलता का ग्रीक की नीति-सहिता में स्थान नहीं है परन्तु दार्शनिक के अनुसार जो मनुष्य देवगण के प्रति निग्रही है वह विनय गान हागा और इनके विपरीत आचरण का मनुष्य अहंकारी । दैवी और गीय वन स्वभाव व जिन भ्रामक वषणों की प्रमत्तता आलोचना की गयी है, उन्हें प्रोक्त परिपाटी की विचित्रता मानना हागा । इनकी तुलना और विभिन्नता हिब्रू पगम्बरी द्वारा आलोचित दैवी प्रकृति के भावक विवरणा से की जा सकता है । यहूदिया में ईश्वर में जिन मानवी दुवतताओं का आरोप किया है वे यहाँ बतायी गयी कमजोरियों में मिलकुन भिन्न हैं । उनमें सबसे अधिक ध्यान देने योग्य ईर्ष्या और क्रोध है जिनके कारण प्रतिगोय जम परिणाम होते हैं । ओम्ड टेम्पामण्ट में दैवी प्रकृति का मूलवृत्ति 'याय या साधुभाव है परन्तु ईश्वर में जिन मानवा दुवतता का आरोप किया गया है वह अयाय है ।

देवताओं अददेवों और मरणोत्तर सत्ता व यथाय स्वभाव-सम्बन्धी कति पय मिदान्ता का दृढ़ भूमिक कर चुकन पर प्लेटो के अनुसार मानवी स्वभाव के उपयुक्त मिदान्ता का प्रतिपादन गय रहा है । इस प्रकार स नियमित स्वभाव का साहित्य में समूचित रीति से विम्बित करना हागा ताकि वह मिथ्या न हो जाय । इस प्रकार दैवी प्रकृति-सम्बन्धी मिदान्ता का उत्पन्न करके लियी गयी देवगण विषयक कहानियाँ गम्भीर रूप में मिथ्या हो जाती हैं उमी प्रकार

मानवी स्वभाव तथा मानवीय जीवन से सम्बद्ध कुछ सत्य मिथ्या त हैं जिनकी जन्म साहित्य और लोकमत आमतीर पर अवहेलना किया करणा है। हम नित्य यही सुनाया जाता है कि अयाया सुखी है और यायणीय दुखी रहते है और यह प्रचार मनुष्य जीवन की मूल भूत आस्थाओं मे समा जाता है। क्या यह सत्य है ? इस प्रश्न का अभी कोई समाधान नहीं हो सका क्याकि रिपब्लिक की समूची रचना इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए है। यदि चर्चा के दौरान हमें विवृति हो जाय कि मानव जीवन के सम्बन्ध मे यह दृष्टिकाण यथाय नहीं है अर्थात् याय वास्तव मे हानिकर नहीं है तथा अयाय सचमुच लाभप्रद नहीं हो सकता, तो हम मुत्कर इस प्रश्न को फिर टटोलेंगे और तब हम यह कहने में समर्थ हागे कि मानव जीवन का प्रचलित चित्रण असल में भ्रामक घणन है। हमारा यह कथन प्लिहाल आग जानेवाली चर्चा का पूर्वानुमान है।

३ साहित्य कला

अभी तक प्लेटो ने साहित्य की सामग्री पर अथवा कयनोय वस्तु के प्रश्न पर विचार किया है। अगला प्रश्न है कस्य किस ढंग से व्यक्त हो अथवा साहित्य की विधा क्या है ? जब हम इस सवाल के बदले हुए रूप पर ध्यान देना चाहते है तो असल में कला के सम्बन्ध में चिन्तन करना जरूरी हो जाता है। कारण यह है कि प्लेटो साहित्य रचना के निमित्त जिन सिद्धांतों की प्रतिष्ठा करता है वही सौंदर्य-कला के शेष सारे क्षेत्र के निरूपण में प्रयुक्त होते हैं। उनका काय विधि को इस प्रकार समझना उचित ही होगा कि शिक्षा को आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं के हेतु क्रमिक पापण प्रक्रिया मानकर वह उस अवस्था की ओर ध्यान दिलाता है जिसमें कलात्मक भावना का विशिष्ट विकास किया जाना चाहिये। और इसीलिए कलाबुद्धि का शिक्षण उचित या अनुचित ढंग से करना पड़ेगा। जब तक शिक्षा केवल बालकों को पढ़ाने लिखाने के उद्देश्य तक सीमित है अथवा उनमें निश्चित और सज्ज नैतिक गुणा व सत्कार में रगी है तब तक कलात्मक भावना की जरूरत नहीं पड़ता और इसी कारण सत्य को प्रस्तुत करने की शक्ती चाहे जसी हो सकती है। किन्तु वह अवस्था आती है जब प्रस्तुताकरण की विधा को महत्व देना चाहिये क्याकि उस समय शिक्षा का फल जिस आत्मा को मिलता है वह कलात्मक भावना या सौंदर्यबोध के उपयुक्त ग्रहणशील हो जाती है। इस बिन्दु से आगे सौंदर्यबोध की चर्चा आत्म विकास की इस अवस्था से जुड़ जाती है। शुरु से आखिर तक विधा के स्वरूप का प्रश्न ही प्रमुख विचारणीय वस्तु है चाहे उसका सम्बन्ध साहित्य से

संगीत से अथवा शिल्प कला से हो। यहाँ विद्या की ग्रहण करने की क्षमता ही पोषण क्रिया की मुख्य चिन्ता बन जाती है।

हम साहित्य में विद्या के निरूपण से आरम्भ करेंगे। पहले, साहित्य में अनुकरणवृत्ति के प्रयोग पर प्रकाश डाला गया है, अन्तर साहित्य में शैक्षणिक आवश्यकताओं का स्पष्ट विभाजन किया गया है जिससे वादित सञ्चरित के निर्माण में योग मिले। फिर इस चरित्र की कसौटी पर साहित्य के शुभाशुभ पक्ष का भेद विदित होना है। अन्त में काव्य के विषय में निम्नलिखित किया जाता है। इन सभी बातों से पढ़ने वाले यह हृदयगत करना होगा कि प्लेटो का अन्त रण प्रश्न क्या है? शुरू में लगता है कि वह शुद्ध साहित्यिक अथवा मौखिक विषयक प्रश्न पर चर्चा कर रहा है। इसलिए हम सहजभाव से यह मान लेते हैं कि वह काव्य विद्या का प्रतिपादन करनेवाला है जिसमें महाकाव्य गीति काव्य दम्पकाव्य (नाटक) इत्यादि का समावेश है और जिसे वह शिक्षा का अच्छा साधन समझता है। किन्तु यह सब वह बिचकुल नहीं करता। सत्काव्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में वह साहित्यालोचन की दृष्टि त्यागकर नीतिशास्त्रीय अनुकूलता पर जोर देता है। साहित्य की विद्या का प्रश्न बदलकर यह रूप धारण कर लेता है जिसे हम अनुकरणशीलता का प्रशिक्षण दे रहे हैं व जैसे बन रहे हैं क्या और यदि यह सब है तो वह किसका अनुकरण करने है?

अनुकरण के सम्बन्ध में प्लेटो की धारणा पर ही पहल विचार करना होगा। रिपब्लिक में अनुकरण गण्ड सामान्य और विशिष्ट दोनों आशय में प्रयुक्त हुआ है। साहित्य में उसका प्रयोग बहुत सामान्य अर्थ में है। हम सभी कुछ हैं। देवताओं के असुन्दर प्रतिबिम्ब ज्ञान का नाश करने वाला पर मग्न गया है। पुराण कथाओं के सदुपयोग का अभिप्राय यह था कि उनसे देवताओं तथा गुरु पौराणिक विचारों के यथार्थत्व के उनका चरित्रानुसार होना चाहिए। अनुकरण के इस व्यापक अर्थ में काव्य किस तरह अनुकरण करे? इस प्रश्न में अत्यन्त दिमाग से यह बात हमें निम्नलिखित दली चाहिए कि कवि स्वयं कलाकार प्रकृति का अनुकरण करता है, या वह मौखिक रचनाकार है अथवा मजनकता है। जब प्लेटो इस व्यापक अर्थ में कवि के अनुकरणत्व की बात करता है तब वह जितना भी माचता है कि कवि वस्तुओं के प्रतीकमान प्रस्तुत करता है चित्रकार के निम्नलिखित उपयोग का है शब्द का वही प्रयोजन कवि के लिए है, अर्थात् कवि के लिए गद्य एक माध्यम है जिसकी सहायता से वह वस्तु अथवा घटना को अंकित करता है। इस व्यापक अर्थ में अनुकरण के उपयोग से शोक जाति भुपरिचित हो

और उसका महत्त्व भी इसी में था कि कवि-वक्ताय अन्य कलाकारों के काम के समकक्ष बना रहे। इस अर्थ में अनुकरण प्लेटो का समातार्थी चित्रण या प्रतिबिम्बन है।

यहाँ फिर यह स्मरणीय है कि प्लेटो की दृष्टि में मानवात्मा तत्त्वतः अनुकरणपरक वस्तु है जो सहजभाव में मूर्खवृत्ति के कारण अपने परिवर्तन के अनुरूप स्वयं बन जाती है। जब हम पुस्तक पढ़ते हैं नाटक देखते हैं या कहानी सुनते हैं तब जिन पात्रों में हमारा मन रम जाता है उनमें ही हम अपना प्रतिबिम्ब खूबने लगते हैं। अतएव जब प्लेटो अनुकरण की गान करता है तब हम श्रोता या दशक नया नाटककार अथवा अभिनेता का समानभाव से विचार करना चाहिये। अभिनय प्रक्रिया में दशक प्रवेश कर लेता है और जिस हल तक वह ऐसा कर पाता है उतनी दूर तक वह अनुकरणकर्त्ता है। प्लेटो की दृष्टि में यदि ऐसा न होता तो साहित्य को जितना विशाल महत्त्व वह नहीं देता। मनुष्य स्वभावतः अनुकरणप्रिय है और साहित्य दूसरे-सारे साधनों में से एक है जो इस मानवी प्रवृत्ति को धोपित करता है। सम्पूर्ण अनुकरण क्रिया यथायथा की ओर बढ़ती है। किसी वस्तु का स्वागत करते करते उसके यथायथ की झलक मिल जाती है। जिसमें रुचि है उसका हम स्वागत करते हैं और शन शन हम स्वागत वस्तु स्वयं बन जाते हैं। साहित्य के प्रभाव की इस कल्पना को ध्यान में रखकर प्लेटो उस श्रेष्ठ साहित्य की जिज्ञासा करता है जो मनुष्य स्वभाव में अंतर्निहित श्रेष्ठत्व का प्रकट करने में सक्षम हो। इस सारी चर्चा में यही परिप्रश्न उसके सम्मुख है।

सबसे पहल साहित्य में महत्त्व की चर्चा उठती है जो विशिष्ट अर्थ में अनुकरणात्मक है। यद्यपि समस्त साहित्य अनुकरणपरक है तथापि अनुकरण की मात्रा और पद्धति की दृष्टि से एक साहित्य दूसरे से भिन्न होता है। दूसरी तरह कहें तो यथायथा वातावरण के वर्णन द्वारा जिस परिमाण में हमारे समक्ष वस्तु स्थिति को साहित्य प्रकट कर सकता है अथवा साहित्य जितनी मात्रा में यथायथा वादी है उसी अनुपात में वह अनुकरणपरक होगा। यही अनुकरण जातिगत अर्थ में नहीं रखा गया है बल्कि उस प्रकार के साहित्य पर बल देने के लिए आया है जो अधिक से अधिक अनुकरणयुक्त है अथवा जो परम यथायथावादी है। प्लेटो के अनुसार कवि केवल कथा कहना है अथवा अनुकरण करता है या गाना का प्रयोग करता है। इस प्रसंग में अनुकरण को छान्दस-व्यक्तित्व के अर्थ में लेता है अर्थात् कवि यथासम्भव वर्णित व्यक्तियों का वेश या चरित्र स्वयं अपनाता है।

साहित्य की नाटक विधा में यह क्रिया आदि से अतः तब चलती है। महाकाव्य में दोनों विधाओं का प्रयोग होता है। कतिपय बोरम और गीतवाच्य में केवल कथात्मक गली मिलती है।

चूँकि यह भेद साहित्य विधा के भेद से भेद खाता है इसीलिए हम यह न समझ बैठ कि प्लेटो साहित्यिक विधा के आधार पर अपने विचार रख रहा है। साहित्य के तीन प्रकारों का सूचित कर देने के बाद वह तुरन्त हम सावधान करता है कि कम से कम इस प्रसंग में नाटक रचना से हम कोई सरोकार नहीं ले। कि उन मनुष्यों में हमारा प्रयोजन है जिन्हें राज्य के रक्षक के नाते अनुकरण गाना होता चाहिये। यदि उसका प्रश्न साहित्य की विधाओं तक ही सीमित रहना है तो हमका अर्थ यह होता है कि वह उन मनुष्यों के अभिनेता बनने या न बनने के प्रश्न पर विचार करनेवाला है। किन्तु उसकी चर्चा का यथाथ विषय यह नहीं है कि वे लोग अनुकरणशील हों, बल्कि यह है कि वे किसका अनुकरण करें। उन्हें किस चरित्र का रूप ग्रहण करना चाहिये, दूसरे शब्दों में, उन्हें अपनी कल्पना के यथासम्भव महयाग में किन पात्रों के सदृश बनने का प्रयास करना चाहिये। हम तरह असल मवान नाटक या महाकाव्य या गीतवाच्य जैसी साहित्यिक विधा के औचित्य का नहीं है, भले, वह सतही तौर पर ऐसा दिखायी देता हो। (यह मन्वा गीत विषय है और तक के अन्त में इसका कोई निष्पत्ति नहीं निकलता।) प्लेटो वास्तव में मानव स्वभाव के उस रूप का आग्रह करता है जिसकी प्रतिष्ठति साहित्य में व्यक्त होना चाहिये। हमका मतलब यह हुआ (हम यहाँ अनुकरण का सीमित अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं) कि किस प्रकार के मानव स्वभाव को नितान्त यथाथ गला में प्रतिबिम्बित किया जाना चाहिये या उस किस विशिष्ट ठग का रूप देना चाहिये जो कल्पना को अत्यधिक उत्तेजना दसक। यह पूछना है क्या कवि को अपनी प्रतिभा के समूचे बल द्वारा किसी भी ओर प्रत्येक वस्तु का यथाथ चित्रण करने में तत्पर होना चाहिये ताकि वह उसको प्रभावशाली और उत्तेजक बना सकें? अथवा राज्य के सर्वक के नाने कवि को विषय वस्तु का चयन करने भाव स्वभाव के महत् और शुभ को चित्रित करने में अपनी समूचा प्रतिभा उठाने देना चाहिये? प्लेटो के लिए इस मन्वा केवल एक उत्तर है—मनुष्य स्वभाव का जो अंग व्यक्ति के किसी चरित्र का अंग बनने योग्य है बस वही हम यथाथवादी अनुकरण का बलात्मक मूल्य हो सकता है। यदि प्लेटो मनुष्य का उदाहरण ऐसा पुरुष समझा जाय जो विवेकपूर्ण होकर अपने आप अगणित परिस्थितियाँ अथवा पात्रों का रूप ग्रहण कर सकता है तो

श्रेष्ठ कवि भी इसी श्रेणी का मनुष्य होगा। किन्तु मनुष्य स्वभाव इस तरह तुच्छ स्रष्टा में बड़ा हुआ है कि प्लेटो के अनुसार एक व्यक्ति एक से अधिक प्रकार का जीवन का अनुकरण अथवा व्यवहार करने में समर्थ नहीं है। चूँकि मनुष्य अनुकरण करता है वही उसका दूसरा स्वभाव बन जाता है। इसलिए अनुकरण करने में उसे विवकवान् होना चाहिये। समर्थ तबक किसी दूसरे में अपने व्यक्तित्व को तिरोहित करने के लिए तभी तैयार होगा जब दूसरा स्वयं उसका समकक्ष हो। यही बात दानक अथवा पाठक के पक्ष में कही जा सकती है।

इस विवाद का मूल प्रश्न यही है। परन्तु प्लेटो साहित्य की श्रेष्ठ विधा का कोई समाधान नहीं देता। किस प्रकार महान कवि वह प्रति कर सकता है जिसकी उससे अपेक्षा की गयी है—यस प्लेटो जहाँ का तहाँ छोड़ देता है। इतना भर वह कहता है कि कवि के सामान्यता की अपरता निश्चित करना मान उसका इष्ट है। पहले वह यह चाहता है कि कवि का जनमण्डल का सबक होना चाहिये अथवा जनमण्डल में उन्हें स्थान नहीं मिलेगा। उनमें वह कहता है कि प्रतिभावन्त पुरुष हान के नाते आप जीवन का ऐसी ओजस्वा प्रतिच्छवि अंकित करने में समर्थ हैं जो कल्पना का उदभासित कर सकें। अपनी रचना शक्ति को उही वस्तुओं में प्रयुक्त करना ठीक है जो वास्तव में अनुकरणीय हैं। उनका विश्वास है कि साहित्य मनुष्य का जल्यत प्रभावित करता है और चरित्र परिबर्तन की उसमें अबूक शक्ति होती है। उपन्यासमय साहित्य सत्साहित्य नहीं है बल्कि जो साहित्य मानव-स्वभाव को सग तरह अंकित करता है कि उसमें मनुष्य के अन्तरमय श्रेष्ठ का सम्बन्ध हो। वही सत्साहित्य कहला सकता है। उसके अनुसार कवि दो प्रकार के हान है। वह कवि अभद्र है जो किसी भी प्रकार के पात्र में अपनी प्रतिभा का प्रयोग करके बेवचा और गुलामी के बीच अत्यन्त प्रिय हो जाता है। जो कवि उचित का सम्यक् विवरण रखता है वह माधुर्य के मनुष्यों के काय अथवा भाषण का रूप देने में अपनी समूची प्रतिभा का उनमें समाहित कर देता है और उनके चरित्र को नाट्यात्मक बनाता है। जब किसी महान पात्र की दुःखताया अपूणताया और विफलताया का उस पता लगता है, तो वह उन्हें सन्धे में ही निपटा देता है। इस तरह जवाहरीय पात्रों और वस्तुओं के सम्बन्ध में यत्ने पागलपन या रोग अथवा मनुष्यता को पतित करनेवाली स्थिति में वह अपनी प्रतिभा को कम से कम खच करता है। विनोदात्मक प्रसंग में इस प्रकार के दुःख या दुःखन स्थान पा सकते हैं लेकिन इस छूट के कारण बहुत बुद्धि अवाञ्छनीय तत्त्व स्थान पा जाते हैं। सुखान नाटक की

इसा म प्रथम मितता है। उगने यह सबेत् दिया ही नहा कि उपरोक्त आव
यकताआ की उत्तम रीति म पूति के लिए साहित्य की कौन भी विधा उपयुक्त
होगी। यह काम कवियों की सीप लिया गया है।

जान पड़ता है कि प्लेटो समकालीन तम्या और कविता को लक्ष्य करके ही
यन् मन्त्र लिख रहा है यद्यपि जिनकी ओर मनेन है उनको जानने का कोई उपाय
नहीं है। अनुकम्पायक साहित्य व दुःखयोग व अतिरिक्त उदाहरण उगने दिये हैं
व शायन् उमक ममय म प्रकट नवात्मया मे चुन गये हैं। त्रामदी या दुःखान्त
रचना की नवीन प्रवर्तिया का वचन उमने लिया है। कथाचित घीमिया नाट्य
कार मारीपादडीज की निशा का अनुगमन कर त्रामदी मा दुःखान्त रचना म
परिवर्तन करन नग थ यद्यपि उनको आत्मविता की व मनी या मन्। जहाँ तब
गुज्जान नाटक का विषय है मन् पर अन्वष्टीज और युद्ध नय-नय प्रभावी
लाभक तरीको के उपयोग मे उम चान पहुचा थी त्रिम प्रकार आधुनिक समी
मन् का रणमन् पर वषी और घीम व प्रगमन म विस्मयपूर्ण दुःख होगा।
घाहा की इतिहास बँला का म्भारता और वनी तरह व अन्य हृदया के
परिच्छेद युतानी मन्देव व उपामया व गीत जैमी कविता का ममावसा है जो
आधुनिक मन् अभिनय के शायन् बहुत पुष्ट निवट है। इन परिच्छेद मे दशम
अध्याय म और 'नाज' (Laws) व तेम ही बीच परिच्छेदो स स्पष्ट है कि प्लेटो
धीक साहित्य तथा मगीत के अथ पवन की हृद घाणा बना चुका था। वह
मोचन नगा था कि साहित्य प्राय विवृत मन्वयता का जादोलिन करने का एक
प्रय घमात्र बनता जा रहा था। समकालीन कला मे उमने त्रिम उद्दयहीन
विविधता तथा उच्छलता का पनपने देखा था उमको प्लेटो प्रजात-प्रात्मक
मानव के चरित्र मरीव मम्भीर विषया का मोचनीय प्रतिकृति मानता था।

अधिकान व्यक्ति साहित्य म तेस उग्र मिटान का प्रयोग वादनाय नहीं
ममजन जो प्लेटो प्रस्तुत करता है, उसको मनोवृत्ति वचन इमीलिन कठोर और
निरवुग नहीं जान पड़ती कि उसरी दृष्टि म कइ सकीणताएँ बाधक हैं बल्कि
इसका कारण यह है कि वह दम विषय की दूमरी की अपेक्षा अधिक मम्भीरता
पूर्वक विचारणीय समझता है। यदि प्लेटो व समान मनोदशा हमारी भी हा
जाय तो हम मिक नाटक रोमास का विचार नहीं करेंगे प्रत्युत धार्मिक साहित्य
वाइविल और उससे उदभूत समूचे वाङ्मय का इसी तरह देखना चाहेंगे। तब
हम साहित्य व मन्वय मे चर्चोणत प्रग्न ग्राह्य जान पड़ेगा। अगर हम साहित्य
को तेम मम्भीर दग से मन्वय चिन्तनीय मानत हैं और उस ममाज की निम्ना

का शक्तिमान साधन समझत हैं तब उस किस प्रकार इस ध्येय के लिए प्रयुक्त किया जाय—यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता। इसी पर समाज के मूलभूत उत्कर्ष का सम्बन्ध निभर है। प्लेटो की साहित्य-सम्बन्धी गहन चिन्ता और तद्विषयक अनन्त बातों की ओर उसका आग्रह ठीक ठीक समझ में तभी आया जब हम यह याद रखें कि ग्रीक जाति का एक बड़ा समुदाय छद्म व्यक्तित्व के मोह में फँस गया था जो वह नहीं है उसका प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति बन्द नहीं थी स्वयं मर्दा चारी होने का यत्न स्वागत बन गया था।

साहित्य-सम्बन्धी प्लेटो के सिद्धान्त का सहज रूप में ग्रहण करने पर स्पष्ट होता है कि वह किसी भी महान् साहित्य या कला के विपक्ष में नहीं है (यद्यपि साधारणतः साहित्य और कला के परीक्षण हेतु किसी कठोर और गहन सिद्धांत को उसका अनु ही समझना चाहिये)। इसी तरह साहित्य और कला के प्लेटो सम्मत गुण महान् कवि की प्रतिभा का सीमित न होना चाहिए। यह ज्ञान सवान है कि साहित्य को इस प्रकार के सिद्धान्त का अनुचर बन बनाया जा सकता है? इसी कठिन समस्या है यह कि कुछ धार्मिक संस्थाओं का छोड़कर कोई राज्य अथवा समान इसे व्यावहारिक ढंग से सुलभता का प्रयास तक नहीं करा पाया। किन्तु संसार के महान् कवियों ने सुखान्त नाटक का छोड़कर मानव स्वभाव के श्रेष्ठतत्त्व का ही निरूपण प्रदान किया है। एक बात ही है कि ये महाकवि मानव स्वभाव के निहित श्रेयस तथा यथार्थ सुन्दर का भिन्न भिन्न धारणाएँ रखते थे। वैसे यह कभी सम्भव नहीं है कि इस सिद्धांत के प्रयोग करने का कोई एक निश्चित और अंतिम उपाय मिल जाय। एक प्रकार से आज अधिकांश विचारक इन भावना से असहमत हो चुके हैं जिसके अनुसार प्लेटो अपने सिद्धांत का प्रयोग करता हुआ दिखायी देता है। आधुनिक चिन्तन कला के सर्वोच्च मूल्यांकन में ग्रीक मस्तिष्क से एक दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है और वह यह है कि आधुनिक चिन्तन श्रेयस तथा सुन्दर की खोज बहुत बड़े पैमाने पर करने में अनुरक्त है। किन्तु याद बहुत जल्दी हरेफरे के साथ आज के युग में भी वही समस्या ज्यों की त्यों बना हुई है कि कला में श्रेष्ठ और निरुद्ध सुन्दर तथा असुन्दर का सीमाएँ कैसे बांधी जायें? कला में कदा श्रेष्ठ गुरु होता है, कहा पहुँचकर वह निरुद्ध बन जाता है वहाँ सुन्दर का अन्त है जिसमें लगेकर असुन्दर का आरम्भ होता है—ऐसे विषय का व्यवहार क्या सम्भव है? निरी मूर्खता होगी कि हम राज्य में विनियमित ब्रिटिश पार्लियामेंट में कला-सम्बन्ध का कुछ मानदण्ड निश्चित करने की आशा करें परन्तु हम ऐसा मूल निर्धारण में

कार्द बाधा नहीं माननी चाहिये। समार के महान् कलाकार हम अपने मतवाद की सूचना दिये बिना अथवा अपने मत की स्थूल रूपरेखा के बिना एम मानदण्ड माय समझन आय हैं। हम पता लगा सकते हैं कि साहित्य या कला के न मानदण्डों में समार के सभी कलाकार तत्त्वतः सहमत हैं। एक बात में (और बड़ी बात वही है) सभी कलाकार प्लेटो के मित्रता का अनुसरण करने हैं। समस्त महान् कलाकार और कवि आदमवादी हैं। मानवजीवन के मंती रूप में पर किसी ठेकपन में उनकी रचि रमती है। इसमें विपरीत प्लेटो की आशा के अनुकूल एक मामले में कोई कवि सफल नहीं हुआ क्योंकि आज तक किसी कवि ने अपने समाज का निभादाना बनने के लिए जानबूझ कर रचना नहीं की। फिर भी दात जग महान् कवि हुए जिनमें निश्चिन् प्रभाव उत्पन्न करने का इच्छा से रचना नहीं की थी किन्तु इसमें रत्तोभर सन्देह नहीं कि उनमें बाह्य पात्रिया के मस्तिष्क की दालन में उसकी रचना प्रभावशाली सिद्ध हुई है।

४ संगीत तथा अन्य सामान्य कलाएँ

साहित्य निरूपण के अंतिम चरण में प्लेटो बतलाना है कि उन्नत राज्य में महान् प्रतिभाशाली नाट्यकार को कार्द स्थान नहीं दिया जा सकता, यद्यपि यह काफी ठीक है कि उसमें प्रत्येक वस्तु को नाट्यारम्भ करने की सामर्थ्य है। वह संगीत का निरूपण भी उसी मित्रता के आधार पर करता है जिसका प्रयोग साहित्य के लिए किया गया है, अर्थात् चरित्र पर शुभाशुभ प्रभाव डालने में संगीत कुशल है या नहीं—इसी मानदण्ड पर उसका गुणदोष विवेचन होना चाहिये और तन्नुसार उसका अनुमान अथवा उसकी निन्दा करना चाहिये।

यस सिद्धान्त का आधार क्या है? अभी तक हम मातृवन्धु और चरित्र की मायों अभिव्यक्ति पर विचार कर रहे थे। किन्तु संगीत तो इसमें भिन्न होता है। संगीत तथा कार्द दूसरी कला उस मनुष्य की आत्मा के स्वरूप का व्यक्त करती है जो उस जन्म देता है और जो उसके मन का पारखी है। प्रत्येक कला का साधन या निमित्त अलग अलग होता है किन्तु सब का शुभ और अशुभ लक्षणयुक्त स्वरूप हुआ करता है। अतएव शिक्षात्मक होना प्रत्येक कला का धर्म है। चरित्र की अभिव्यक्ति के गुण के कारण वह चरित्र का परिष्कार करती है। इस सामान्य नियम को स्वीकार करने पर भी यह कहना कठिन है कि संगीत अथवा कार्द अन्य कला चरित्रभाजन में किस प्रकार मक्षम है। संगीत या चित्र शास्त्र में व्यक्त नहीं जा सकता। इस तरह का मूल अहितकारी हुआ है। प्रत्येक

कला अपने निजी माध्यम में प्रकट हाती है उसके निजी नियम हैं। हम इतना ही कह सकते हैं कि कला की सभी विधाओं में आत्मा से आत्मा सलाप करती है। प्रत्यक्ष कला के अभिप्राय की निजी विद्या होती है और सभी के द्वारा आत्मा का आत्मा से सम्पर्क हुआ करता है।

प्लेटो जिस तरह संगीत का निरूपण करता है उसके पन्थस्वरूप समकालीन विचारका का भी वह साहित्य निरूपण की अपेक्षा अधिक अनुसार तथा कटु लगता होगा। उसका मन में संगीतन का यह समझना चाहिये कि राज्य में उस निश्चित वस्तु का निर्वाह करना होगा। वह यूनानी संगीत के उस राग अथवा उन स्वर-संगतियों का उपयोग निश्चित करता है जिन्हें वह राज्य शितावह माने। (यथा प्राचीन यूनान के डोरिस नामक जिले में माथ्य महज तथा उत्तम राग और एगिया माइनर के प्राचीन दस फिडिया का धुंदात्मक राग) शप दूसरे राग वर्जित होना चाहिये। वाद्य यन्त्रों में वह केवल विपची तथा मितार (प्राचीन यूनान में प्रचलित) का उपयोग उचित समझता है। चरवाहा के लिए सिर्फ अलगाजा जमा फूँकर बजाने का बाजा निश्चित करता है। इनको छोड़ कर सभी दूसरे वाद्य यंत्र और बासुरी के उपयोग को निषिद्ध मानता है क्योंकि इनसे उत्पन्न राग के प्रभाव जटिल हो सकते हैं। वह तान, लय का कुछ सरल गलियाँ में सीमित करने के पक्ष में है परन्तु इसमें वह ठीक तरह से निश्चित नहीं करता। मौटे तौर पर वह व्यवस्थाप्रिय तथा वीर पुरुष के योग्य ताल लय का समर्थक है। अतः उसका जोर इस बात पर है कि संगीत को शान्ति की ध्वनि का अनुगामी होना चाहिये तान और स्वरसंगति को शान्त ध्वनि का अनुरूप होना जरूरी है शान्ति को राग का नहीं। उसके कथनानुसार अब हम भोग-परायण नगर के पापमाचन का आरम्भ कर रहे हैं ताकि सम्यक्ता के उन तत्त्वों का निरसन किया जा सके जो वास्तव में मूल्यवान् नहीं बल्कि केवल विषय सुख की वस्तुएँ हैं। अपने युग के संगीत कलाकृतियों और साहित्यिक रचनाओं के समस्त गुणगोप विवेचन के भीतर प्लेटो का जो प्रमुख आशय है उसे समझना कठिन नहीं है। वह जटिलता के विपरीत ऋजुता का आशय है। कला सरल होनी चाहिये—किन्तु इस विषय में उचित और अनुचित दोनों अर्थों में इस सरलता को समझा जा सकता है। मनुष्य जीवन के अविवेकी अनुकरण पर प्लेटो के आक्षेप इस भावना में जगमगाते हैं कि मनुष्य जीवन में निहित शुभाशुभ के सिद्धान्त को पहचानना नहीं गया है और इसीलिए उस विषय की गूँथता को मोका मिलता है। उसका यह कथन कि मनुष्य को सहज सरल होना

चाहिये बहुसंखी नहीं। उमर इस आग्रह की अभिव्यक्तिमात्र है कि किसी एक मिद्वान्त का मानवर चलना आवश्यक है। यही कारण है कि सगीन की चर्चा करत समय ताल आरोहण और अथ इसी तरह की क्रिया व हर प्रकार का लेकर चलनेवाले सगीन पर वह आगे करता है। उमर गगना है कि किसी भी मन बहलानेवाली वस्तु का विवेकपूर्ण अनुकरण जिस दाप में साहित्य में उत्पन्न होता है वहीं उमरको संगीत में भी दिग्यायी गता है। लगता है कि प्लेटो सरलता के दो आग्रहों का गायन उन्माद कर ग्य रहा है। एक दृष्टि में प्रत्येक महान कृति सुबोध होनी है। वह कुछ सरल और महान जाणया या विस्तार दवर प्रस्तुत करन का परिणाम हुआ करती है चाहे उसकी गली जटिल हो परन्तु कला एक दूसरे अर्थ में भी सरल हो सकती है और उस अर्थ में हम प्राचीन कला का सरलता का ठीक उपाहरण मानते हैं। सरलता या यही यह अर्थ होता है कि उमरका अभिप्राय उसकी महत्त्व पर ही बानना है। जिस आशय को कलाकार व्यक्त करता है उस हम आसानी से ग्रहण कर लेते हैं। प्राचीन चित्र में तुषनात्मक दृष्टि से बहुत ही कम चित्रना रहती थी। उमर जो भक्ति माए और भाव चित्रित होना थे व स्पष्टपाह्य हुआ करत थे। यही हान सीधो-साधी तान का होता है, क्याकि जिस नियम से उमर स्वरा की संगति बंधी रहती है वह एवदम पकड़ में आ जाती है। प्राचीन काव्य भी सरल है, उसका परिवेश हमारे ध्यान में गहन आता है। उसी उम में हम पात्रों के चरित्रचित्रण सरल पाते हैं। मननब यह है कि उनका काम एवदम आसानी में समझ में आता है उनकी भावनाएँ और नियम साफ शीघ्र हैं। इसका विपरीत हम कहा करत हैं कि सम्यता हम जितनी अधिक प्रभावित करती है मनुष्य जीवन उसी अनुपात में जटिल और अव्यवस्थित होता जाता है। प्राचीन कलाकार को हमारी कला अटपटी लग सकती है किन्तु परवर्ती महान कलाकारों की कृतियाँ मनुष्य अव्यवस्थित नहीं हैं। प्राचीन कलाकारों के समान उमका भी एक निराला और प्रबल प्रयोजन होना है। इतना ही है कि उमकी व्यजना और व्याख्या अपेक्षाकृत कठिन हुआ करती है। चरित्रचित्रण की बात सीधिये। समय बीतने के साथ सरलता के महत्त्वपूर्ण गुण का जीवन में लोप नहीं हुआ करना। महान पात्रों के अभीष्ट की सांगता और एकता उमके सदैव सुरक्षित गता करनी है लेकिन उनकी व्याख्या अधिक कष्टसाध्य हो जाती है। आगे चलकर प्रत्येक महान कलाकृति गूढ़ होनी जाती है और हम उसके भाव सूत्र की खोज करनी पड़ती है। किसी स्वरसंगति के सञ्जन में प्रमुख बहुमध्यक तत्वा का नाम और उनमें

उत्पन्न जन्मिता हा सक्ती है उमका विश्लेषण भी कठिन हा सक्ता है । परन्तु वह जन्मिता विल्कुल भिन्न है जो नियम क अभाव तथा अव्यवस्था की द्योतक होती है । कलाकृति के विषय में बड़ी समस्या यह है कि उमका कोई दोष मूल है या नहीं, उमम एवना प्रकट करने वाली वस्तु है अथवा नहीं ।

स्पष्टतः प्लेटो समस्या था कि एथेन्सवासी अपनी श्रुतियाँ अथवा सरलता का जीवन की हर शिंघा में मचा रह व । वह उह आदिम युग की सरलता फिर में अपनाव क निग नहा कन्ना था । वह चाहता था कि व यथायता का ग्रहण कर । उस नग रहा था कि व राष्ट्रभाव क अनुकूल न बनकर अभिनेताओं का गमूह बाँटे जा रहे थ जसकि उह शुद्ध चरित्र धारण करना चाहिय था । उमक ध्यान में ऐसा भास हाता है कि एथेन्स नगर एक थियेटर या नाट्यशाला बनता जा रहा था । इसी रोग में कलाएँ भी पीड़ित थी और इस दाप का पापण भी कर्नी थी । उनकी जन्मिता का अर्थ था अव्यवस्था । उनमें नियम का अभाव था और हर चीज को उमक गुणगोप का विवक रखे बिना कलावस्तु के रूप में ग्रहण कर रहा थी । उस मंदक मूल में जो आगय है वह बहुत दुःख उचित है । चरित्र क समान महान् बना नि सन्नेह श्रुतु या सरल हाता है क्याकि व सामाज्यघात्री हुआ करती है । विन्तु हमारी धारणा है कि जब प्लेन अपन आणय का विस्तृत विवचन करता है तब वह उन चीजों की घनानन करने लगता है जो मचमुच विपरीतगामी हैं । व एसी वस्तुएँ हैं जो सामान्यतः कला और सभ्यता के विकास में बाधक हाकर रहनी । कभी कभी एसा प्रतीत होता कि व कला के प्रयाजन को बिलकुल समाप्त करना चाहता है । एसा इसलिए है कि वह अपन मिद्धान्ता क प्रति सधा नहीं रही । उसका ध्यान कुछ निश्चिन तथ्या पर एकाग्र हो गया था जिहे उसन न्ना था, अथवा उस लगा था कि व उमके समीप है । इस तरह स उसकी कला सम्बन्धी धारणा सकीण हो गयी । यहा न्ना आगे चलकर सम्पत्ति तथा परिवार के विवेचन का हुई । अतः उसके नियमों में कला की प्रतिष्ठा के विरुद्ध कुछ नहीं है अथवा उमके क्षेत्र को सीमित करने का कोई उद्देश्य नहीं है विन्तु जिस विशेष प्रकार से वह इन नियमों का कला के निमित्त प्रयोग करना चाहता है उससे कला प्रतिबन्धित हुए बिना नहीं रहती । उमक नियमों में हमारी दिमचस्पी पहली चीज है लविन हमसे वह कहता है । समग्र कला की वस्तु की व्यजना में स्वच्छन्द रहने दो और वह वस्तु व्यजना क योग्य हो निरपेक्ष न बनने दो कला को, अथवा जनता के विकृत मन की मनक और जोग की तबीयत को सुराक देन में मत लगाओ उमे । परन्तु

मात्स्यो के प्रारम्भिक जीवन की गिना

इनके विपरीत उमरे भगवासीन विचारको की दृष्टि में प्यटा अपने मुग की
अत्यन्त मूयवनी इतिहा के बहुतेरे भाग को दुकराता हुआ दिनायी दिया ।
रतिन के विचारा मे भी इसी से मिनता जुलता मिथन दीछना है ।

प्येटो एक मशिप्य परिच्छेद में बन्ना की वासणिक प्रभाव-मन्त्रणा अपनी
बत्पना को बत्ता के समूच क्षत्र में पस्तान सगता है । दग म्यान में वह बत्ताजा
ब अनेक भेद गिनाना है परन्तु उनमें गुणदाय की गमीणा बिलकुल नहीं बरता ।
अतः उनमें विवात्मक सेरा का यही द्वादक हम बत्ता के नतिव प्रभाव
मम्ब की उमरे भावात्मक मत का अब विचार बन्नाव है । यह प्रतिपादन
मवया उदार और अपन उद्देश्य के अनुबन्ध इतना ऊंचे दर्जे का है जितना इस
विषय में सम्भव है । इसीलिए बत्ता-बम को यहाँ वह मूलतम ध्यय से नहीं
बाँधता । यथापत इसमें कदा विषयक गागे बर्चा का गार नरा है ।

गुरु मे व बतलाता है कि चित्रबत्ता, गिल्पबत्ता, युनाई बड़ाई पनीचर
और मृन्माण्ड वास्तुतत्त्व और इनसे पर समग्र जीव प्रकृति में और मचमुच
मवत्र जहाँ गायक रूप है, सब मे सौन्दर्य तथा वृक्षता की सामर्थ्य का बास
है । इनमे लगा हुआ यह तथ्य है कि रूप और ग की मुदरता अथवा वृक्षता
चरित्र में निहित मुदर और अगुदर से सम्बद्ध है । इसी सिनगिल को जारी
रखकर वह उस प्रभाव का वर्णन करता है जो मुदरता के वातावरण में रहने
के कारण विवासीमुख आत्मा पर पड़ रहता है । हम यह न मान बैठें कि
प्येटो केवल बत्ता द्वारा समार का परिष्कार करने की बात सोचता है परन्तु
मनुष्य जीवन के अत्य उपवरणा में म बत्ता के दग वस्तुत्व का वह हमरे किसी
दगनज की अपेक्षा अधिक मन्त्रवपूण मानता है ।

उनमें विचार स बत्ता में बौन-सी सामर्थ्य है ? बत्ता का नतिक प्रभाव
मरीम वाक्पांग हमे बत्ता के उस उपयोग का ध्यान दिलात है जिसे नैतिक
सिद्धांता उपदेशात्मक वाध्य या चित्रा को वह ग्राह्य बनाती है । नतिन यह
प्रसंग इस आशय के हेतु नहा है । गिदा निरूपण के समूचे प्रयास में यहाँ और
आगे यही सामांय अभिप्राय है कि आत्मा में कतिपय निहित सम्भावनाएँ हैं
प्रवर्तियाँ हैं जिनका परिवर्ण की सहायता में मृज्जन नहीं आविर्भाव किया जा
सकता है । दो अत्यन्त महत्वपूर्ण माध्यम हैं जो इन प्रवर्तियाँ को प्रवाण में लाने
के लिए उपयोगी हैं अथात् देखना और सुनना (अथवा रूप और शब्द) जिनमे
द्वारा आत्मा दय्य जगत का सम्पर्क पाती है । प्रथमत आत्मा का इनके ही द्वारा

ज्ञान मिलता है अथवा दूसरी तरफ कहें तो इन्हीं के माध्यम से आत्मा बहिर्जगत् के सत्य व अनुरूप बनती है। इस सत्य व दूसरे पक्षों में से विश्व सौन्दर्य का मत्स्य आत्मा को आँख और कान व माध्यम से मित्र करता है। प्लेटो के मन में सत्कार की समग्रता सौन्दर्यमयी है। विश्व विवेक पर टिका है जो उस साथवता प्रदान करता है और यही विश्वगत विवेक स्वयं सौन्दर्य की छवि में समाया है। टिमैइयस में प्लेटो यही दान रखता है कि आत्मा दृष्टि और श्रवण द्वारा सत्कार के दृश्य श्राव्य ताल तथा लय का बाध प्राप्त कर सकती है और यही इन इंद्रियों की महती शक्ति है। नक्षत्रपञ्च की गति ताल तथा लय का भाव उदाहरण है। इनमें ग्रीक जाति विवेक व सामाजिक गति का दान करती थी। अतएव कलाकार का कर्तव्य है कि हम विश्व के सौन्दर्य का बाध कराये। प्लेटो कहता है कि हम ऐम निपुण कलाकार खाजना चाहिये जिनकी प्रतिभा यत्र तत्र-सर्वत्र बिपरे सौन्दर्य तथा कला को पहचानकर उसे हमारे लिए भुगत करे। यह उनका लिए मुलभ कराना होगा जिनका नत्र इस जगत में स्वतः नहीं देख सकते जिनके कान इस सत्कार में स्वतः नहीं सुन सकते। वह स्वरसंगति या ताल का युक्तिमूलक व्यापार मानता है जिसकी व्यवस्था किसी नियम पर आधारित है। इसी तरह सुन्दरता का रूप किसी एक नियम में आगू है। कला की प्रक्रियाजनित वस्तुओं में ताल स्वरसंगति और रूप की गिनना जपवा अविषयता समाहित है। और उचित तान या उचित रूप एक ओर समग्र विश्व में अन्तर्हित विवेक ताल तथा स्वरसंगति के सजातीय भाव का बोध देता है तो दूसरी ओर वह मानवचरित्र के अन्तरस्थ शुभ तथा युक्तिमूलक तत्त्व का सङ्गोत्री है। कला और चरित्र अथवा सत्कार में यही वास्तविक सम्बन्ध है।

अब प्रश्न यह है कि चरित्र किस निश्चित ढंग से कलात्मक परिवेश द्वारा अभिभूत होता है? प्लेटो आत्मा का प्रभावित करनेवाले ढंग के दो वर्णन प्रस्तुत करता है। पहले का हम कला का नतिक और दूसरे को बौद्धिक प्रभाव कह सकते हैं। किन्तु उसकी दृष्टि इनमें कोई भेद नहीं मानती। वह बताता है कि ताल स्वरसंगति और सुरूप व लक्षणों को आत्मा स्वतः अपना लेती है। जिससे वह कहना चाहेगा कि इसका प्रमाण शरीर संचालन में वाणी भाव भंगी आचरण में मिलता है क्योंकि देह-चेष्टा की वृत्तियाँ ऐसी वृत्तियाँ हैं जिनसे नतिक तथा आध्यात्मिक गुणा की अभिव्यक्ति होती है। इन्हीं इस प्रकार अभिप्रेत मानते ही यह स्पष्ट होता है कि ताल तथा रूप के ज्ञान और चरित्रगत औचित्यगुण का बाध में कोई सम्बन्धसूत्र है। परन्तु कला व प्रभाव से सम्बन्धित

उमकी धारणा का उत्तम सारांश यह रूपक में है कि समार को पढ़ने का अभ्यास करना चाहिये। उमका नयन है कि शुभ का स्वरूप समझने के लिए हम अपने चतुर्विध सत्कार का पढ़ने की आदत डालना ही पड़गी। समार का जो स्वरूप हमारे अवलोकन में एकत्रित बनवता है उसमें यथाय यस्तुर्ल जैसे सजीव स्त्री पुष्प, गन्ध मगीत, रंग तथा कला के अथ भाष्यमा से उदभूत प्रतिच्छाया अथवा छवियाँ सब कुछ है। इस सत्कार को पढ़ना किरा तरह मोसा जाय—यही एक समस्या है। अगर हम वास्तविक सत्कार के पढ़ने में कुशल हैं तो उसका प्रतिविम्ब के साथ में भी हम निपुण होना चाहिये। सौन्दर्य की पहचान करने वाली दृष्टि प्राप्त करने पर यस्तुजगत और कला के प्रतिबिम्बित समार दोनों के अथग्रहण की योग्यता का जाती है। इसी के साथ आत्मसमय पीछे और भीतर तथा अथ सभी सद्गुण और दुगुण को परस्पर की विवेकदृष्टि भी मिल जाती है। तब तुल्य और महान् बही जानेवाली वस्तुओं से भी ज्ञान संचलित परम का योग्य प्राप्त हो जाता है और जब हम कला में सद्गुणा के प्रतिविम्ब लक्ष्य और परस्पर में निपुण होते हैं तो यथाय जीवन में इहा को अधिगम महत्त्व पूर्ण अभिव्यक्ति की पहचानना तथा भूयमान मानना अवश्यम्भावी है।

हमारे आगे बढ़कर हम देखना चाहिये कि प्रत्यक्ष समार अथवा सहज अनुभवमय जगत को हम क्या से पढ़ने का अभ्यास उस हमारे प्रसार से भी समझने की मानसिक तैयारी है। जो मनुष्य इस जगत् में विन होगा, उममें सुन्दर तथा अमुन्दर का भेद पहचानने की सहजवृत्ति का उदय होता है। तदनुकूल सुन्दर के प्रति प्रीति और अमुन्दर की ओर घणा होने लगती है यद्यपि उस प्रसार के भाव का स्पष्ट कारण कुछ दूर बाद ही वह निश्चित करता है। किन्तु जिस मनुष्य के ऐसे सत्कार बन जाते हैं वह विवेक को सहज ग्रहण करता है यद्यपि उमके प्रति एक सजानीय भाव पढ़ने ही बन चुकता है अथवा या कहें कि विवेक में उमकी भावनाओं का सामग्र्य पहले ही हो गया था। प्लेटो की धारणा थी कि कला विषयक शिक्षा तथा विज्ञान और ज्ञान की गिना में वास्तविक एकरता है जिसकी दृष्टिमात्र दर्शन का काम में भी करत रहता चाहिये। मनुष्यास्था साधकाल में नितांत इन्द्रियबद्ध रहती है उमकी ग्रहणशक्ति बिलकुल अस्त व्यस्त रहा करती है। धीरे धीरे वह इन्द्रियों के तुल्य प्रभावों से आप ही स्वतन्त्र होता जाता है तथा जो कुछ ग्रहण करना और जो कुछ सोचता है उसमें एक प्रकार की व्यवस्था तथा सूत्रता की प्रतिष्ठित किया करता है। इस प्रक्रिया को गति

देने में पढ़ने सोन्यबोध, दूसरे विधान और दान की शिक्षा बहुत याग देती है। प्लेटो के मत से इन दोनों का मूल सोन्यबोध है जो आरम्भिक प्रत्यक्ष दान में ताल स्वरसंगति तथा मुद्रि बनकर प्रकट होता है। तत्पश्चात् नियमादि अथवा विधि या कानून जिन्हें बुद्धि द्वारा ग्रहण माना जाता है उनका बोध होता है। उन्हें दान या अनुभूत नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार सोन्यदशन की शिक्षा सचमुच आँख और कान की व्यापक शिक्षा है। इसका उपसन्धि आँख और कान का सत्प्रतिभा सुलभ कराने से होगी है जो आत्मा को विन्वसोन्य की व्याख्या से अवगत कराती है और उस सुन्दरता को स्वतः वाचन में समर्थ बनाती है। बताकर आत्मा के निमित्त सुन्दरता के वातावरण का मूजन करके उस सहजग्राह्य बनाता है और इस तरह आत्मा में उस बोधशक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिससे व्याप्त ब्रह्म में वह सौन्दर्य की प्रतीति करती है तथा उसमें ही वह सौन्दर्य का आत्मसात् कर लेती है।

विचित्र बात है कि प्लेटो शिल्पकला की अपा सङ्गीतशास्त्र को जहरत से ज्यादा गणितिक प्रभाव में समर्थ समझता है। हम ग्रीक जाति को शिल्पियों का राष्ट्र मानते आये हैं, सङ्गीतशास्त्रिया अथवा गायकों का राष्ट्र उस हमने नहीं समझा। इसलिए हम आशा थी वह जिस तरह गणपूजा पर प्रहार करता है उसी प्रकार वह गणपूजा पर भी आक्षेप करने पर तुल्य उनका कला की सूची में शिल्पकला का कवन मकेन है नामोल्लेख तक नहीं है। यह निष्कर्ष उचित ही है कि ग्रीस की थोड़ा शिल्पविद्या गणितिक प्रभाव की दृष्टि से इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी जितना हम उस मान बैठ हैं। इसके विपरीत ग्रीकजन में गण की सामान्य भूति का गुण था और कदाचित् इसीलिए तालबद्ध गणपूजा की विनाय ग्रहणशीलता उनमें होनी चाहिये। यही कारण है कि प्लेटो सङ्गीत का (ताल और स्वरसंगति को) शब्द की सहचरि जमा लगातार प्रतिपादित करता आया है जिसका आत्मा पर अत्यन्त ममभेनी प्रभाव पड़ता है। 'पालिटिक्स (Politics) में अस्तु भी इस ढंग से सङ्गीत की चर्चा करना है और बताता है कि शिल्पकलाएँ अपेक्षाकृत कम प्रभावी होती हैं।

मनुष्यदेह के लावण्य पर विचार करने के साथ ही सौन्दर्यवाध की चर्चा समाप्त हो जाता है। इस शिक्षा का वाच्य प्रभाव जिस मनुष्य पर होगा, वही सचमुच बौद्धिक अथवा नैतिक रूप से मान्य है। इसी कारण सचमुच सौन्दर्य की विवेक्षण ग्राह्यता भी उसी में है। प्लेटो के अपेक्षा आत्मा-सौन्दर्य को वह

कही अधिक मूल्यवान समझा जा देहगत लावण्य प्रीतिकर आत्मा की व्यञ्जना नहीं है, उसके प्रति उस आकर्षण नहीं होगा। इस आशय व सौन्दर्य में और पार्श्विक वासना के उन्माद में प्लेटो के कथनानुसार किसी तरह की सगति सम्भव नहीं है। अतिशय पीड़ा के समान अनियन्त्रित वासना भी मनुष्य का आप से बाहर कर देती है। उसका मत है कि पागलपन और क्षणिक वासनाग्रस्त मनोदशा में यथाथ सादृश्य है। ऐसे प्रबल वासनाग्रस्त प्रभाव के फलस्वरूप अनुभूति क्षमता प्रायः कुण्ठित हो जाती है। जो व्यक्ति किसी शोषक स्पर्शा या भय अथवा अन्य उद्देश की लपेट में रहता है उसका निष्पत्ति का किसी का विद्वान नहीं होता। इसीलिए प्लेटो कहता है कि अतिशय कामनाग्रस्त की दशा में सौन्दर्यवाचक धर्मग्रन्थ हो जाता है। यह अनुभवसिद्ध सत्य है। कवियों के विषय में यह पातक्य है कि उन्होंने रचना प्रचण्ड भावावस्था के प्रभावक्षेत्र में न करके साधारणतः उसके परचातु ही की है। इसमें तनिक भी मदेह नहीं कि जितनी गहरी सौन्दर्यानुभूति होगी, पशुमुलभ विषयासक्ति से वह उतनी ही कम सम्बद्ध रहेगी और इसका विषय भी इतना ही यथाथ है।

हम देखते हैं कि इस परिच्छेद में सौन्दर्योपासक शास्त्र के अभिप्राय में विस्तार और उच्चतर भाव आ गया है। उसमें यह ध्वनि निकलती है कि वह ऐसा मनुष्य है जिसका सम्पूर्ण जीवन उत्कृष्ट कला का प्रतीक बन चुका है। कुछ लोग बड़बड़ हमें पता चलता है कि सच्चा सौन्दर्योपासक वह मनुष्य है जो स्वतः अपने जीवन को समरस कर ले, सौन्दर्यानुभूति भी उसके जीवन में उचित स्थान पाती है और व्यायाम तथा जीवन के अन्य तत्वां उसमें सम्बन्ध विवक्षित रहते हैं। कला से व्युत्पन्न ये और इसी के समान दूसरे वाक्यांग नीतिशास्त्र का जो वर्णन करते हैं उनसे ग्रीक नीतिशास्त्र को सौन्दर्यभुक्त नीतिशास्त्र मानने की इच्छा हो सकती है। किन्तु सचार्थ यह है कि प्लेटो केवल सौन्दर्यजनित विशिष्टताओं को ही नैतिक विशिष्टताओं के रूप में नहीं स्वीकार करता बल्कि सौन्दर्य स्वर सगति, ताल तथा ऐम ही समानार्थी शास्त्र का हमारी अपभ्रंश व्यापक अर्थ प्रदान करता है।

५. विधि (कानून) तथा चिकित्सा सम्बन्धी उत्क्रम

अब व्यायामविद्या का विचार गहरा किया जा रहा है जो शरीर की मांसपेशियों को विकसित करने का अभ्यास है। परन्तु प्लेटो इसकी चर्चा का बहुत विभिन्न विषयों में परिणत कर देता है। उसके चिन्तन की पद्धति सत्य में इस प्रकार है (क)

गरीर व प्रशिक्षण तथा नियमन के लिए प्लेटो वही सिद्धांत प्रस्तुत करता है जिगका प्रयोग उसने कलाओं के लिए किया है—सरलता अथवा श्रुतता । जीवन की सरलता जहाँ एक भारदायी स्वास्थ्य के लिए हितावह है, वहाँ दूसरी ओर वह मानसिक समय आत्मनिग्रह अथवा मिताचार में सहायक है । पहले स जो लाभ देह को है, दूसरे से वही आत्मा को है और दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं । (त) जमी के आगे सिलसिले में ऐसे गवासिया के जीवन के दो समानान्तर प्रत्यक्ष विषय विचारणीय हो जाते हैं । कानूनी कायवाही और चिकित्सा । इनमें स प्रथम विषय सदैव प्रधान समझा गया है और दूसरा विकास की नवीन दिशा में अग्रसर होता स्पष्ट दिवायी देता है । कानून तथा चिकित्सा का निरन्तर आश्रय सम्यता के ज्ञान माने दोष का प्रमाण है । प्लेटो दोनों के निमित्त कुछ सिद्धांत निर्धारित करता है जिससे आधुनिक रोगग्रस्तता की आदत और शुरुआत सरल जीवन का भंग उभर आता है । (ग) इसके साथ वह एक निपुण चिकित्सक तथा मजग 'यायाधीन' के हनु प्रशिक्षण की व्यवस्था में आवश्यक भिन्नता पर प्रकाश डालता है जो आत्मा तथा देह के भेद पर आधारित है । (घ) देह और आत्मा की साथ-साथ चर्चा उस अंततः इस विचार का ध्यान दिलाती है कि सौंदर्य दर्शन तथा व्यायामविद्या यथायत आत्मा को प्रभावित करने के दो अलग-अलग दीक्षनेवाले पहलू हैं । उससे कथनानुसार शिक्षा का जादश इन दोनों में सामंजस्य लाने की क्रिया है ताकि समन्वित चरित्र का उदय हो और इसीलिए एकान्ती शिक्षा के अनुभूति परिणामों की ओर वह मन्त करता है ।

(ज) पहल प्लेटो शारीरिक प्रशिक्षण की उपयुक्त पद्धति पर विचार करता है जो सुशील नागरिक यादों के निर्माण में सहायक हो । व्यवसायी मूल की याग्यता देनेवाली एक प्रशिक्षण व्यवस्था उस समय प्रचलित थी जिसे देखकर प्लेटो को लगता था कि आधुनिक जीवन की सामान्य जटिलता का वह एक अंग है । वह इसलिए उसकी मदद मानता है क्योंकि उससे सैनिक वृत्ति के अनुबल गरीर को जम्पास नहीं मिलता । प्रथमतः यह प्रशिक्षण निद्रा की आदत बनाता है जो बाच धीच में घाड़े समय के लिए गम्भीर और असाधारण घटना से भग हो जाती है । द्वितीय उमरे एसी शारीरिक वृत्ति बनती है जो भोजन और जन वायु तथा इसी प्रकार के दूसरे परिवर्तना का सहन नहीं कर सकती । यह गुणागुण निष्पण अरस्तू के दृष्टिकोण में मन्त्रकन मेल खाता है । शरीर के प्रशिक्षण में भोजन की शुद्धता अत्यन्त मन्त्रकपूण है । जब यूनान राज्य अपनी प्रारम्भिक विक्रामावस्था से ऊँचा उठा तो वहाँ सायगवयुज व पक्वान मिमली की स्वाद

गंध मूढमत्ता, एथेस के मिष्टान्न और भोगविलास की वस्तुओं का प्रसार हान लगा था। प्लेटो इन सबकी निन्हा करता है। इन्हें त्याग्य मानता है। इस प्रमाण में वह देह के आरोग्य तथा आत्मा के निग्रह में रहन सम्बन्ध का उल्लेख करता है और यह उस सम्बन्ध में अधिक महत्त्व का आशय रखता है जो मद्यपान जम उपर दुर्व्यसन और उससे उत्पन्न रोग मद्धा करता है। हम समझते हैं कि सन्तुष्टि में रखी वस्तु के समान आत्मा भी देह में बन्ध बन्ध वस्तु है। प्लेटो की दृष्टि में आत्मा देह में एकता तथा एतत्ता का सन्तानन नियम है जिससे शरीर अन्तर्गत और जीवन्त समष्टि बना रहता है।

(आ) जब देह में रोग और आत्मा में विषयमत्ति का बाहुल्य होता है तब कानून और औपधि उद्भूत हो जाते हैं। इनके वस्तुमान फलाव पर प्लेटो उन्मी तरह आशेष करता है जसा उमने कला पर किया है। वह कहता है कि निम्नतर कानून की दाय्य सेना शिक्षा के अभाव का चिह्न है। चिन्तितक व बिना अपन आपको निरोग रखने की असमयता भी ऐसी ही है। स्पष्ट है कि प्लेटो की शिक्षा सम्बन्धी कल्पना कितना व्यापक जय रखती है। उन्मी मनुष्य की शिक्षित बहना चाहिये जो अपना जीवन शारीरिक तथा नैतिक दृष्टि से यथस्थित रखने की युक्ति जानता है। अत्यन्त विद्वेषपूर्ण वह चिकित्साशास्त्र की उत्पत्ति के विषय में लिखता है और उसे धनिक धर्म का विलास समझता है जिसे स्वास्थ्य की परिचर्या के लिए कामकाज छोड़ने की गुंजाइश है। अगर कोई मनुष्य असाध्य रोग से ग्रस्त है और जीवन-व्यापार के अयोग्य हो गया है तो ऐसी जीन में उमका मरना अच्छा है जिस तरह ऐसी दशा में निपन मनुष्य को मरना ही पड़ता है। ऐसी निष्प्रयोजन लोग को श्मशान से घटाकर रखन में चिकित्सक की विद्या का दुष्टयोग नहीं करना चाहिये। इस परिच्छेद का साधारण मतलब यही है कि दुष्टता और उमके समान विरले मामलों का छोड़कर प्रत्यक्ष मनुष्य को अपन आप चिकित्सक की सहायता के बिना निरोग रहना चाहिये। एक हल तब यह धारणा युक्तिसंगत है परन्तु चिकित्सा विषयक प्लेटो के विचार मरालर अतिशयोक्ति हैं। जीवन में सारल्य की तृष्णा ने प्लेटो को अत्यधिक निष्ठुर बना दिया है जिस प्रकार नितोपयोग की कक शता के कारण उसकी कला-सम्बन्धी धारणा धनी है। बहुतेरे समकालीन विचारक उसके चिकित्सा विषयक निरूपण का सबधा विपरीत मामी मानत हागे और समझते हागे कि वह सम्म्यता की प्रगति के लाभ में स्वतः बचित रहने का जानबूझकर हठ करता था। अनेक मामलों में यह एक है जब सुधारवादी भावना से सम्पन्न, प्लेटो जमा विन्मक दण्डमय मानसिक अवस्था के

साथ सामंजस्य नहीं कर पाया। जिस वह दुराचार समझता था, उसके प्रति अधम ने उसकी कल्पना भ्रष्ट कर दी। जो मनुष्य उपयोगी नहीं है, उस मर जाने देने का नियम (जस सुधार स परे अपराधी को मार डालना चाहिये) यदि अपनाया जाये तो नितांत भयकर परिणाम हाव। इस नियम की प्रकृति के अनुकूल उस अमल में लाने की आज तक कोई विवेकमग्न विधि नहीं मिली है। इतना ही नहीं हम यह बिलकुल उचित लगता है कि जब लोग अपने जीवन की साधकता समाप्तप्राय मान लें तब अपने ही विवेक में यह नियम व स्वतः करें कि उन्हें जीवित रहना चाहिये अथवा नहीं। हम यह बात भी समुचित जान पड़ती है कि अस्वस्थ और असाध्य रोगीजना व रहने से अधिकांश सद्गुणा का प्रकट होना का अवसर मिलता है अथवा वे प्रच्छन्न हो बन रहते।

(इ) प्रमयवशान् प्लेटो प्रश्न करता है कि क्या शरीरगत रोग और आत्मगत पाप तथा अपराध व तीव्र अनुभव समथ चिकित्सक और विवेकी 'यायाधीन' के विकास हेतु आवश्यक नहीं है? उसका उत्तर है कि दोनों प्रकरण पृथक् पृथक् हैं। कुशल चिकित्सक को कबल रोग का वैज्ञानिक बाध ही नहीं बल्कि उसका विनाश अनुभव भी होना चाहिये। उसमें उपाय तो यही है कि अपने शरीर में ही वह अस्वस्थता का अनुभव करे क्योंकि उसकी दृष्टि निबलता का आत्मा पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा, और यह आत्मा ही दूसरा का उपचार करने के लिए उसका साधन है। परन्तु 'यायाधीन' की बात निरासी है यदि वह दुष्कर्म या पाप के मानसिक राग का अनुभव अपने शरीर में करने लग तो जिस आत्मा के द्वारा वह दूसरा की परीक्षा करनेवाला है वह स्वयं क्षुब्ध हो जायगी। इसी मिलसिने में वह कहता है कि जो मनुष्य दुष्कर्म या पाप की क्रिया से सुपरिचित है और फलतः ऊपरी तौर पर वह चतुर दिखायी पड़ता है उसकी 'यायवुद्धि' केवल उही प्रकरणा तक सीमित रहेगी जो उसके निजी अनुभव और चरित्र से मिलत जुलत है। अपना अनुभव-परिधि में आनेवाले नमूना पर ही उसका यायकर्म टिका रहेगा और जहाँ भिन्न प्रकार के मनुष्या का आचरण तथा उनके मनोगत भावा का गुणदाप विवेक करना पड़ेगा वही उसका 'यायबोध' पगु हो जायगा। दृश्यमान जगत के ज्ञान की सीमा कतिपय अनुभवा तक ही जाती है और इसी कारण वह सिद्धांतनिष्ठ अनुभव से बिलकुल अलग पहचाना जा सकता है। इस तथ्य का प्रयाग करें तो आत्मा की प्रारम्भ में ही स्वस्थ रखना चाहिये ताकि मानव स्वभाव के गुणगुण का वास्तविक ज्ञान उसमें गुलम हो। जो मनुष्य स्वस्थ परिवर्तन में बढ़ा हुआ है जिसका मानस निरामय है, उस दूसरे के अधुम की

परन्तु म मल कुछ देर लग किन्तु अशुभ के स्वानुभव से प्रारम्भ करनेवाला व्यक्ति की अपेक्षा उसे अन्य लोगों के पापाचार का बोध कहीं अधिक अच्छी तरह होगा। प्लेटो के आशय का यह संकेत नहीं समझ लेना चाहिए कि दुनियाँ की मार खाये मनुष्य की अपेक्षा निर्दोष व्यक्ति भाद्र चरित्र का बहतर पालनी होगा। वह इस विवाद बिन्दु को रखता है मान लो कि मनुष्य-मात्र समान योग्यता रखते हैं तो क्या इस अभीष्ट के लिए यह हितकारी है कि उन्हें पाप या दुष्कर्म का विपुल अनुभव प्राप्त करना चाहिये अथवा उन्हें अपनी आत्मा को पाप से मुक्त रखना चाहिये और चरित्र परिष्कृत होकर वे बाद जीवन के उत्तरार्द्ध में उह पाप का अध्ययन करना चाहिये? इस विवाद को प्लेटो यो निपटाता है यदि मनुष्या की प्रशिक्षण देकर 'पामायीण' पद के योग्य बनाना हमारा लक्ष्य है तो उत्तम नीति यही है कि जो शिवत्त्व उत्तम नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से निहित है उसके श्रेष्ठतम विकास के ध्येय की पूर्ति में प्रशिक्षण सहायता देव और फिर उनकी अतृप्त स्थिति पर पूर्ण विश्वास रखा जाये। हमका अभिप्राय यह हुआ कि बौद्धिक और नैतिक स्वभाव का निश्चित दो भागों में बाँटना सम्भव नहीं है। जिस ज्ञान कहते हैं वह मस्तिष्क का कोई ऐसा पृथक् अंग नहीं है जो दूसरे भागों से स्वयं अप्रभावित बना रह सके। यह भी सम्भव नहीं है कि आत्मा के एक भाग पर दुराचार का प्रभाव पड़े और दूसरे हिस्से की बौद्धिक अतृप्त स्थिति उसमें अछूनी बनी रह। कभी कभी हम इस तरह का स्थान बन लेते हैं कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत चरित्र से बौद्धिक नियम को अलग दूँदा रख सकता है। प्लेटो इसका बलपूर्वक खण्डन करता है। चरित्र प्रभावित हुआ तो विवेकगति भी बराबर प्रभावित होगी क्योंकि आत्मा एक और सतत है। प्लेटो ने छट्ठे और सातवें अध्यायों में दानन तथा दाननिक शिक्षा की समग्र कल्पना का प्रतिपादन आत्मा की बौद्धिक तथा नैतिक गतिविध के निश्चित सम्बन्ध पर आधारित किया है।

यह प्रश्न ही गहरा है कि मानव स्वभाव में निहित बाना के बोध की सम्भावना विषयक प्लेटो का मतवाद कहीं तक अनुभव से प्रमाणित होता है जबकि इस सम्बन्ध में स्वयं हमारा अनुभव स्वल्प है। इसे सही बताना साधारण लोगों के बस की बात नहीं है परन्तु यह सत्य सिद्ध हो जाता है यदि हम कबल महा पुरुषों और मानव स्वभाव के विज्ञान जाना और अतृप्त स्थितियों के उदाहरण लें। प्रतिभावान पुरुष किस प्रकार विषयबोध प्राप्त कर लेते हैं यह कोई नहीं जानता। लक्ष्मण्यार का उदाहरण सीमित। उसमें ज्ञान में व्यक्त मानव-स्वभाव के ज्ञान का स्वस्वभाव भी उसमें निजी अनुभव का उपलब्धि नहीं हो सकती। मगर तो यह

है कि प्रतिभाशक्ति वह शक्ति है जो 'मूलतम सम्भव अनुभव से ज्ञान सचय कर लेती है। मनुष्य, मनुष्य व बीच सबसे बड़ा एक अंतर अनुभव की मात्रा में है जो वस्तु के यथाथ बोध के लिए आवश्यक है। कुछ लोग हैं खास तौर पर नारियौ, जो महजभाव से दूसरा व चरित्र को समझन में कुशल दिखायी देती है। ईसा इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है जिसके बारे में कहा जाता है कि साधारण अर्थ में पाप का निजी अनुभव न होने पर भी वह मनुष्य के समूचे स्वभाव का ज्ञान रखता था। विन्तु इस परिच्छेद में मुख्य मनोवैज्ञानिक प्रश्न यह है कि मानव प्रकृति का एक भाग दूसरे भाग से निस्संग रहकर कस सक्रिय हो सकता है, आचरण से बिलकुल विलग रहकर बौद्धिक नियंत्रण कस कायरेत हो सकता है? इस प्रश्न में लोका की धारणाएँ एक दूसरे से बहुत अधिक भिन्न हैं कुछ लोग मस्तिष्क के अवयवों को दूसरे व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक विच्छिन्न करने में सक्षम दीवत हैं।

(ई) फिर सोचद्वारा का सिद्धान्तोक्त करके प्लेटो व्यायाम विद्या के साथ उसके सम्बन्ध मूल पर अपना अन्तिम वक्तव्य देता है। एक का विषय है आत्मा और दूसरे का शरीर परन्तु सचमुच ज्ञान ही आत्मा से सम्बद्ध है। कारण यह है कि व्यायाम विद्या में असावधानी अथवा उमरे दिशाभ्रम होने का सीधा प्रभाव आचरण पर पड़ता है जो सस्कृति के विषय में असावधानी अथवा दिग्भ्रम से किसी तरह कम नहीं समझता चाहिये। आत्मा में दोनों के सहकार से ही उन सत्त्वा का विकास ज्ञान जो कुशल रक्षक के निर्माण में जरूरी है। व्यायाम के प्रशिक्षण की प्रतिक्रिया मनोभाव पर होती है। उचित प्रशिक्षण के पनस्वरूप यही मनोभाव पराक्रम और पौरुष का रूप धारण कर लेता है, वह के अतिरिक्त नेप आत्मा की उपेक्षा करके प्रशिक्षण हुआ तो वह परपता तथा अमानुषिकता में परिणत हो जाता है। साहित्य तथा कलाका प्रशिक्षण दशनतत्त्व को प्रभावित करता है यह मनुष्य के जन्मतर का सुकोमल तत्त्व है जो आवरण को ग्रहण करने में निपुण है। यदि इसे सम्यक रूप से विकसित किया जाय तो मनुष्य नियतमानस या मिताचारी बन जाता है इसके अत्यधिक विकास से मनुष्य शिथिल पुसत्त्वहीन अस्वस्थरूप से ग्रहणशील अस्थिर तथा चरित्र बलहीन हो जाता है। शिक्षा की समस्या यही है कि वह चरित्र के इन दोनों पक्षा में सामंजस्य का आविर्भाव करे और वही सगीतन की उपाधि का सुपात्र है जो इस प्रकार मानव स्वभाव का शकृत कर सके।

आदर्श राज्य में प्रशासन के सिद्धान्त

प्लेटो शिक्षा की रूपरेखा को यही समाप्त कर देता है। उसने शासका की बीस वर्ष तक की शिक्षा का स्वरूप निर्दिष्ट करने का प्रयत्न किया है क्योंकि इस आयु में पहुँचकर मनुष्य सावजनिक जीवन में प्रवेश करता है। रिपब्लिक समाज में आत्मा के क्रमिक विकास का निरूपण है। आगे जो विषय इस खण्ड में प्रस्तुत होंगे और जिसमें आदर्श राज्य की संस्थाओं की रूपरेखा अवस्थित है वह आत्मा के उत्थान की ऐसी अवस्था है जब तटस्थ नागरिक पहली बार जनमण्डल के प्रति अपने कर्तव्य और उसमें अपनी सही हैसियत को महसूस करता है। विषय प्रवेश के नाते उसका प्रश्न है कि सावजनिक सत्ताधिकार का पद संभालनेवाले हैं और जिनके आदर्श का पालन दूसरा को करना होगा उनका ध्यान किस सिद्धान्त के अनुसार उन सागा में से किया जाना चाहिये जिनके प्रशिक्षण का विवरण हमने पहले दिया जा चुका है।

यह प्रश्न आत्मा के विकास की इस तृती अवस्था के प्रमुख तथ्य की ओर संकेत करता है। "याही वह पहली बार व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करनी है क्योंकि उसे सत्ताधिकारी की अधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी और सत्ताधिकारी द्वारा अनुमादित सिद्धान्तों को मानकर उनके अनुकूल अपना आचरण ढालना पड़ेगा। यह प्रश्न राज्य के विषय में भी मौलिक तथ्य को प्रकट करता है जिस पर चर्चा के समय हमें ध्यानपूर्वक विचार करना होगा। अर्थात् जनमण्डल में ऐसे सत्ताधिकारी वर्ग की उत्पत्ति है जो अधीनस्थ शक्तियों को कतिपय आस्थाओं अथवा सिद्धान्तों से नाम उठाने के लिए बाध्य करेंगे।

जिन नीतियों को राज्य व्यवस्था का संचालन करना है उनके मनोभाव के स्वरूप पर ही यह प्रश्न निर्भर है कि सामक्यवग का गठन किस प्रकार किया

जाना चाहिये । उन्हे राज्य के अभिभावक अथवा रक्षक की हैसियत से कर्तव्य निभाना है । और वही मनुष्य राज्य की रक्षा उत्तम रीति से कर सकेगा जिसकी निश्चल आस्था यह है कि राज्य के हित और उसका निजी हित अभिन्न है । यही निष्पक्ष है जिससे यह ज्ञात हो सकता है कि जिन्हें हम प्रशिक्षित कर रहे हैं व राज्य संचालन के योग्य हैं या नहीं । हम ध्यानपूर्वक देखना चाहिये कि सभी परिस्थितियाँ में इन व्यक्तियों की यह आस्था अडिग बनी है या नहीं कि जन मण्डल का श्रेष्ठहित जिस वाय से होता है वही उनका उत्तम कर्तव्य है । यही उनका धर्म है अर्थात् इस तरह की निष्ठा का व्यक्ति उसके आधारभूत कारणों को अविचारणीय मानता है । कारण स्पष्ट है कि जो मनुष्य सावजनिक जीवन में प्रवेश करता है उसे दूसरों के हिताय कुछ सिद्धान्त स्वीकार करने का धार होना चाहिये । हम यह निश्चिन रूप से विदित करना होगा कि ये लोग जनहित धर्म के विश्वस्त पालक हैं अथवा नहीं । इसका आशय यह है कि इन लोगों में उन प्रभावा का टुकुराने की क्षमता है अथवा नहीं जो इन्हें अपनी इस आस्था को त्यागने के लिए बाध्य करते हैं । ऐसी आस्था का अपहरण हो सकता है अर्थात् बौद्धिक प्रमादवश कालांतर में आस्था विसर्जन हो जाय अथवा किसी के सुझाव से उसका ध्यान छोड़ दिया जाये । यह भी सम्भव है कि दुःखभोग अथवा भ्रमजन्म मन्त्रणा के कारण विवश होकर उसे त्यागना पड़े । हो सकता है कि सुख या भय के घोड़े में पटककर हम अपनी आस्था को बैठ क्याकि सुख अथवा भय धर्म में डालकर या वस्तुओं की तरफ गलत निगाह बनाकर हम ठग लेते हैं । अतएव जिन्हें हम शिक्षित कर रहे हैं उनका चरित्रगठन के सभी स्तरों पर इन प्रभावों से उन्हें परजत जाना पड़ेगा । यह जाँच बतायेगी कि ये स्वयं रक्षा में समर्थ हुए हैं अथवा नहीं और जिस संगीत (जीवन संगीत) का अभ्यास उन्होंने किया है उसका ताल स्वर धर्म के समान उनकी निष्ठा का अंग बन पाया या नहीं । जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण हों केवल उन्हें ही राज्य संचालन का भार सौंपा जाय । सत्पथ में यही सिद्धान्त है जिसका आधार पर सत्ताधिकार के योग्य व्यक्तियों का चयन किया जाय—इस सिद्धान्त की विस्तृत वर्णना आगे होगी । यही लोग अब तक इस परीक्षा में टिके रहने से आगे बढ़ने पर सच्चे अभिभावक बनने लगे जो युवावस्था में हाथ व अभिभावकों के सहकारी रहेंगे और उनके निर्देश का अनुसरण करेंगे ।

इस परिच्छेद में दो सग्ल सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं जिनके कार्यान्वयन हेतु विशिष्ट तंत्र बनाने का प्रस्ताव भी है परंतु वह तंत्र कुछ विचित्र सा

लगता है। पहला सिद्धांत है कि मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुकूल जनमण्डल की सेवा में तत्पर होगा और अपने हित उसे समर्पित करेगा। दूसरा यह है कि जनसंख्या में निरन्तर व्यक्तियों की पदवृद्धि उसी अनुपात में होनी चाहिये जिसमें वह अपने दायित्ववहन का प्रमाण देते हैं। इनके अलावा एक पद्धति की कल्पना भी मिलती है जिसके अनुसार बाल्यकाल की शिक्षा का विलसिला बराबर जाय वृद्धि के साथ जारी रखा जाय और हर अवस्था में प्रगति की जाय होती रहे। यह कल्पना सामान्यतः आधुनिक धारणाओं के प्रतिबिम्ब है और शायद आर्य सत्ताधिकार की विशेष रूप से अटपटी न होगी। इसमें मिलता जुलती पद्धति जेजिवट सम्प्रदाय में मौजूद है।

अब इस प्रकार उच्चवर्ग के तर्जुन नागरिकों की सत्ताधिकारयुक्त उचित धन दे दिया गया है। तदनन्तर यह समस्या है कि मनुष्य जनमण्डल में उसके लिए ग्राह्य सत्ताधिकार का कैसे प्रतिष्ठित किया जाय? इस निमित्त दो सार भूत बातों का निर्वाह आवश्यक है—पहली, समग्र समाज की एकरता तथा दूसरी सामाजिक कर्तव्य हेतु उनके अन्तर्गत वर्गभेद। जिस आधारभूमि पर देश भक्ति (एक जनमण्डल का अंगीकार के अर्थ में) तथा सत्ताधिकार के प्रति सम-पण भावना जनमण्डल के नेपथ्य सम्पूर्ण मनुष्य के मन में स्थित होगी? प्लेटो के उत्तर की तर्कवद्ध करें तो यह आसन्न होता है कि जनता का बहुत बड़ा समुदाय इन सिद्धांतों का भूत तर्क को ग्रहण करने में असमर्थ हैं, इसलिए उन्हें पुरातन घटनाओं की कथा में अनुरक्त करके इन सिद्धांतों का उत्तम निर्वाह कराया जा सकता है। उन्हें पुराणकथा में विश्वास करना सिखाया जाये जिसके पल्लवस्वरूप वे अपने देश को भाग्य समर्थ और अपने देश के अर्थ नागरिकों को अपने भाई मानें। इसके साथ ही उनकी यह आस्था भी बने कि वर्गभेद सहित समाज व्यवस्था दली समस्या है। प्लेटो बतलाता है कि समाज में ऐसे व्यक्ति सदा रहें जो इस पुराणकथा को सत्य नहीं मानेंगे। उनकी यह मायना भी होगी कि देशभक्ति तथा राज्याधानता किसी ऐतिहासिक परम्परा में सम्भूत नहीं है बल्कि मानव स्वभाव की रचना में यह मायना अनन्तमुक्त है। किन्तु इन प्रबुद्ध जनों को छोड़कर शेष जनता का समाज व्यवस्था में हृदय विश्वास बनाम रखने के लिए पुराणकथा का प्रसार करना होगा और यह विश्वास राजा के दली अधिकार के प्रति निष्ठा के समान सुग्राह्य करना होगा।

प्लेटो जिस समाज-व्यवस्था में दली गुण का समावेश करना चाहता है उसकी तुलना वर्ण-व्यवस्था से की जा सकती है। किन्तु वर्ण-व्यवस्था में जन्म

ही जाति का नियामक है जबकि प्लेटो की व्यवस्था जन्म पर नहीं योग्यता तथा उपलब्धि पर आधारित है। वह अच्छी तरह जानता है कि सत्तान का चरित्र तथा योग्यता सदैव माता पिता के अनुरूप नहीं हुआ करती, यद्यपि उनकी सामान्य प्रवृत्ति इसी अनुसरण की ओर हाती है। वह इसी बात पर ज़ार देता है कि प्रत्येक मनुष्य को विनिष्ट पदभार सौंपना चाहिये तथा उसे अपनी योग्यता और चरित्र के अनुकूल वस्तुयों निभाना चाहिये चाहे उसका माता पिता की भूमिका भिन्न हो। इसीलिए वह ऐसा प्रबंध चाहता है जिसके द्वारा बच्चे सामाजिक वस्तुओं को निभाने में समर्थ बनें चाहे ये वस्तुएँ उनके माता पिता के कार्यों से बड़े हो या छोटी। अस्तु और प्लेटो वशजता के सिद्धांत को सामान्य नियम समझते थे किंतु प्लेटो चाहता है कि इस नियम के विपरीत परिणाम की सम्भावना का ध्यान रखकर अवसर के अनुरूप व्यवस्था भी रखनी चाहिये।

पुराणवत्त के उपयोग का जो प्रस्ताव प्लेटो रखता है, निश्चयेन उसके अनुसरण से भयावह दुष्परिणाम हो सकते हैं। ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा करके कल्पनाजनित सत्य को सिद्धांत मानना काफी खतरनाक है। परंतु प्लेटो के प्रस्ताव को प्रेरित करनेवाले मूलतत्त्व को हम भुलाना नहीं चाहिये। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जितने लोग हैं सत्य उतने ही प्रकार का माना जाता है। अनपठ या अविकसित और विद्वान या विकसित मस्तिष्क धार्मिक राजनीतिक सामाजिक और वैज्ञानिक सत्यरूपों की बिलकुल अलग अलग धारणाएं रखते हैं। प्लेटो ने इस तथ्य को पहचाना है। उसकी आलोचना में हम भले यह कहते जायें कि समाज इस अवश्यम्भावी तथ्य को समझने के बाद भी प्रयत्न करता रहे कि उसके अन्तर्गत पिछड़े वर्ग का बौद्धिक स्तर ऊंचा उठे और इस मौलिक तथ्य का प्रभाव मिट जाय। नियम रूप से इस वस्तु को आज मान लिया गया है। लेकिन यह मूल तथ्य जैसा का तसा बना हुआ है यद्यपि उसे समाप्त करने की निशा में क्या नहीं किया गया? और सचमुच कोई मतभेद इस बात में दिखायी नहीं पड़ता कि जनता को ऐसे विश्वास रखने की छूट देनी चाहिये जिनमें सत्य का साराश तो है चाह उसके प्रकट रूप में शुद्ध सत्य दिखायी न दे। असल में सत्य के व्यक्तिगत स्वरूप की भिन्नताओं को हमें स्वीकार कर लेना चाहिये। साथ ही, हम यह यत्न भी करना चाहिये कि उसका स्वरूप यथासम्भव पर्याप्त हो ताकि सत्य की अधिकतम सच्चाई प्रत्येक व्यक्ति के लिए सही जान पड़े। शिक्षा का वास्तविक अभीष्ट यही है।

हम देख चुके हैं कि समूचे सांख्यिक जीवन में राज्य के अभिभावक या रक्षक तथा उनके सहकारी जनो पर चौकसी रखनी होगी और उन्हें परखते रहना पड़ेगा। देखना यह है कि वहाँ तक उन नियमों का अवलम्बन करते हैं जिनका ज्ञान उन्हें सिद्धांत से प्राप्त हुआ है। उनकी यदोवृत्ति इसी के परिणामों पर निर्भर होगी। उनके विषयों में दूसरा महत्वपूर्ण तरफ यह है कि उनके जीवन की बाहरी व्यवस्था उनके शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों के लिए हितकारी हो। इसके बाद जीवन प्रणाली का वर्णन किया गया है जो शिक्षा-मदति का पूरक है। जनिम लक्ष्य तो एक ही है, मनुष्य का यह प्रतीति करने का उचित अवसर मिलना चाहिए कि वह सबसे पहलू और सप्रस आगे जनमण्डल का सवक है। इसी ढंग से प्लेटो अपनी कल्पना के साम्यवाद का प्रथमतः प्रस्तुत करता है जिस पाँचवें अध्याय में विस्तार दिया गया है और आगे चलकर हम इसकी पूरी चर्चा करेंगे। वह अपने सिद्धांत को इस प्रकार व्यक्त करता है अपनी शक्ति भर अपना निश्चित कार्य करने से ही मनुष्य को मुक्त मिलता है। आगे यह हुआ कि ऐसी कठोर व्यवस्था करना चाहिए ताकि मनुष्य इसके विपरीत कार्य कर ही न सके। अतएव सांख्यिक जीवन में प्रवेश करने पर युवक नागरिक किसी भी प्रलोभन में पड़कर जनहित की उपेक्षा न करने पाय। निवासगृह भूमि अथवा निजी धन आदि का कोई अधिकार उन्हें नहीं मिलना चाहिये बल्कि एक प्रकार के सत्य समासतंत्र के अन्तर्गत उन्हें जीवन बिताना चाहिये। मध्ययुगीन समासतंत्र का मयाथ आगम इस प्रकार व्यक्त हो सकता है आपका धर्म ईश्वर सेवा है। इसे अपने जीवन के पारिवर्गिक गठन में व्यक्त होने दो। जो ईश्वर-सेवा में सचमुच जेहरी नहीं है, ऐसी हर वस्तु के बिना रहा। प्लेटो भी इसी मत का है, सिर्फ ईश्वर के स्थान पर जनमण्डल रख देना है। दोनों मना का विश्वास मूलतः एक है कि अपरिग्रह अथवा भौतिक सुविधाओं से वंचित रहने पर मनुष्य का चरित्र की दुराचारवृत्ति का हनन किया जा सकता है, इस तरह उसे एक विनिष्ट प्रकार की बाहरी जीवन पद्धति के लिए बाध्य करना जरूरी है। लेकिन इस प्रसंग में एक प्रश्न, किसी न किसी रूप में और विभिन्न प्रकार की प्रचुर मात्रा में सतत सजाव हुआ करता है। उपरोक्त प्रणाली वहाँ तक सचमुच व्यवहार में लायी जा सकती है जहाँ समाज के लिए यह अधिक हितवाहक न दृष्टा कि समुचित शिक्षा मुलभ वरान के बाद अपने सदस्यजनों का मयासम्भव स्वच्छन्द रहने दिया जाये ? इस परिच्छेद में प्लेटो जो कुछ प्रस्तावित करता है उस याग्यीय इतिहास में अनेक सदियों तक अक्षरों अमल में लाया जा चुका है। इस पद्धति में जो भी

हानि हुई यह निश्चित है कि उससे बड़े पमाने पर जनकल्याण भी हुआ और लगता है कि अगर तत्कालीन परिस्थितियाँ में इस पद्धति का आश्रय न लिया गया होता तो क्या अर्थ किसी ढंग से यही लाभ मिल सकता था ? प्लेटो के ही युग में स्पार्टा सरीखे कुछ ग्रीक राज्य उसकी कल्पना के अशत उदाहरण थे । इससे प्लेटो के पाठक यह दोष नहीं निकाल सकते कि उसके विचार परस्पर विरोधी हैं । 'रिपब्लिक' में आदि से अंत तक हम स्पार्टा के अखण्ड अनुशासन सिद्धांत तथा एथेन्स के संसृतिपरक सिद्धांत का सम्मिश्रण मिलता है ।

प्रस्तुत प्रस्ताव में हम शासकों के मुख सन्तोष की व्यवस्था पर ध्यान देने के लिए उत्सुक करता है । यह जनसमूह बुद्धि तथा सत्ता से सम्पन्न है । क्या इन लोगों की दृष्टि में जो साधन सामग्री इनके जीवन की सामान्यतः साधक करती है उससे इन्हें वंचित करने का विचार विवकलममत्त होगा ? अभी तक प्लेटो के विवरण में यही मिलता है कि इन लोगों की यात्रा पर प्रतिबंध है इन्हें गृहणी नहीं रखना चाहिये मित्रों का आतिथ्य वंचित है निजी घर्माचार करना मना है इन्हें धन नहीं दिया जाये सिर्फ जरूरी चीजें मिलने का प्रबंध रखा जाये । इस विषय में प्लेटो यह समाधान करता है कि अभी हम उस अवस्था में नहीं पहुँचे हैं जब यह प्रश्न विचारणीय होगा । फिलहाल इस नियम का हम पालन करके चलना है जिससे हमन व्यवस्था आरम्भ की है और जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य सम्पूर्ण जनमण्डल का एक अंग है और इस तथ्य को साधक जानने का कोई उपाय नहीं है । समष्टि के विचार का त्यागकर हम उसके एक अंग या 'यष्टि' को कस सुखी बना सकते हैं—ऐसा निरर्थक प्रश्न नहीं उठाना चाहिये । अपने आशय को स्पष्ट करने के लिए वह एक दृष्टान्त लेता है यदि आप एक मूर्ति में रंग भर रहे हैं तो सिर्फ इसीलिये आँख में गहरा लाल रंग नहीं भरेंगे कि उस आप सुंदर रंग मानते हैं । और इसका कारण क्या है ? बात यह है कि सौंदर्य भावात्मक वस्तु नहीं है वह मदक वस्तु का निश्चित गुण है जो दूसरी वस्तु के सात्त्विक में ही साधक होती है । इसी कारण चित्र बनाने में रंग की भावात्मक सुंदरता का मानकर नहीं चला जा सकता क्योंकि कुछ सम्बंध सत्ता के योग से कोई भी रंग बीभत्स दिखायी देने लगता । तो आँख के विषय में समूचे शरीर से उसका मयोग की दृष्टि से विचार किया जायेगा । इसी के साथ सुखसन्तोष का मिलान करके साक्षात् होगा । योग इस तरह बोलत है जिस सुंदर निवास सरीखी कुछ चीज जीवन की साधकता के अनिवार्य उपकरण है । कि तु सचमुच इह इतना परिपूर्ण नहीं समझ लेना चाहिये । इन वस्तुओं के अच्छे

या बुरे होन का गुण उस मनुष्य पर निर्भर है जो इसका अधिकारी है। अतः जहाँ तक हमारे अभिभावक का सम्बन्ध है यह कथन व्यर्थ है कि श्रेष्ठ मनुष्य हैं इसलिए उन्हें उत्तम वस्तुएँ जरूर मिलना चाहिये। आश्चर्य की बात नहीं समझना अगर सबसे सुखी मनुष्य यही लोग निकलें। (जैसा पंचम अध्याय में है) लेकिन हम वक्त विचारणीय यह है कि जनमण्डल के हितार्थ इन्हें किस प्रकार योग्य या सुदृढ बनाया जाये। असल में अपने कर्तव्य के मानण्ड से ही इन व्यक्तियों की प्रतिष्ठा बनी है जिस तरह उचित काय के निमित्त ही शरीर में आँस की रचना हुई है। अतएव हमारा लक्ष्य अभिभावक को नहीं बल्कि सम्पू्ण जनमण्डल को यथासम्भव अधिकाधिक सुखी बनाना है। प्रत्येक वर्ग का सुख हम प्रवृत्ति को सौंप देना चाहिये जो हर वर्ग की योग्यतानुसार इसका षंढकारा करेगी। अर्थात् प्नेटो मानता है कि प्रत्येक वर्ग का सुखसंतोष उन नियमों से उपलब्ध होता है जो मानवात्मा में निहित हैं और जिनका व्यक्तरूप ही उसकी निजी दत्ता है। इस वर्ग या उस वर्ग के मुख की बात उठाना निरपेक्ष है जब तक आप राज्य में प्रत्येक वर्ग के कर्तव्यों का उचित निर्धारण नहीं करते। अगर आप सेतिहर, मजदूर या कुम्हार को मुँदर पोशाक पहना दें और उनसे कहें कि अब कामकाज बन्द कर दो तो आप उन्हें सम्पुष्प नहीं बना रहे हैं बल्कि जनमण्डल की सायक सदस्यता से उन्हें पदप्युत कर रहे हैं। फिर यह दशा न तो उनको सुखद होगी और न जनमण्डल को ही उनमें लाभ मिलेगा। सभी वर्गों के लिए यह लागू है।

यहाँ पहुँचकर हम अभिभावक के कुछ अनिवार्य कर्तव्यों पर विचार आरम्भ करेंगे। उसी वर्ग के लिए जो नियम अभी-अभी स्थिर किया गया है उससे हम सजग हो जाना चाहिये कि उनको अत्यधिक या अत्यल्प धन का स्वामी बनाना उनके कर्तव्यपालन में व्याघात उपस्थित करना है। पहली स्थिति में वे असमर्थ हो जायेंगे और दूसरी उनकी कामकुशलता का हनन करेगी। इसलिए यह नियम बना दिया गया है कि अभिभावक का कर्तव्य मानकर राज्य में धनाढ्यता और दरिद्रता दोनों को दूर ही रखना पड़ेगा।

हममें एक कठिनाई सामन आती है। क्या सम्पत्ति जनमण्डल की शक्ति नहीं है जिन अपने अस्तित्व की रक्षा के हितार्थ अन्य राज्या से जूझना पड़ेगा? प्नेटो हम मुझाव को निपटाते हुए ग्रीक राज्या की सत्त्वानीन दशा पर बहुत ध्यान करता है। इन राज्या के समूलकाय धनिक तन्त्रवादिया से प्नेटो की कल्पना के अनुसार प्रणिहित बनिष्ठकाय नागरिक अद्वय। इस मितान में उगे याद आती

है कि प्रोग के धनिक सग्न मुष्टिप्रहार और मलविविद्या के दूसरे कुछ हुनर जानन ही हैं अर्थात् उनकी शारीरिक शक्ति का सामान्यन ह्रास होना रहता है और ये युद्धकला में अधवचरे रहते हैं। सेरिंग दगस भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि यदि कोई मत्तमुच मुगठिन राज्य चाहें तो वह अथ ग्रीक राज्या में न किसी गन के एक बग की वस्तु दूसरे की देने का यात्रा करके उनमें विद्रोह जगा सकता है। उनमें से एक भी मत्तमुच नगर कहलाने लायक नहीं था उनमें यदि कोई बड़ा-सा नाम दूँदना पड़ेगा क्याकि प्रत्येक में कम से कम दो नगर—एक धमिन बग का और दूसरा दरिद्र बग का—होता ही था। धीक या बगर जाति का कोई राज्य ऐसा नहीं मिलेगा जिनके पास एक हजार घोड़ा हा और जो यथार्थत एक मूत्र में आबद्ध हा।

राज्य की अगण्डता के हित में अभिभावक यह ध्यान रखेंगे कि राज्य धन सम्पत्ति और दरिद्रता के बाहुल्य से बचा रहे साथ ही उसकी जनसंख्या एक निश्चित सीमा तक बनाये रखने में उन्हें सतक रहना पड़ेगा। जनसंख्या इतनी अधिक न बढ़े कि एकता प्रायः अगम्य हो जाय अथवा इतनी कम भी नहीं होना चाहिये कि वह अपनी जरूरत की सम्भव पूर्ति के योग्य ही न रह सके। इसमें भी कठिन काम यह है कि सजगतापूर्वक उन्हें समझ में बगों के विभाजन की निश्चित व्यवस्था कायम रखना है जिसका आधार जन्म नहीं योग्यता हो।

प्लेटो व्यंग्यपूर्वक कहता है कि ये सब काम अभिभावक बहुत सरलता से कर सकते हैं। फिर यह व्यंग्य का स्वर बल्लकर स्पष्ट करता है कि यदि शिवाजी भी मूलवस्तु का उचित निर्वाह किया जाये तो यह सब काम अपेक्षाकृत सरल हो जायेंगे। यदि जनमण्डल की भक्ति के सिद्धांत की शिक्षा एकबार घर घर गयी तो सहज भाव से उन्हें इस सिद्धांत के परिणामों का बोध हो जायेगा। इस मूलविषय का विस्तारपूर्वक समझाने के मिलसिल में प्लेटो ऐसी कल्पना व्यक्त करता है जिसमें हम उनके लेखन में क्वचित ही देखते हैं और वह है—प्रति प्रति सहजप्रवृत्ति सम्बन्धी कल्पना। यदि एक बार सविधान उचित आधार पर समुचित भावना से गतिशील बन जाये तो वह अग्रसर होने के साथ स्वयं शक्तिसमृद्ध करता जाता है जैसे पहिये की धूम के साथ उसकी चाल बढ़ती है। तो अभिभावकों के मानस में सौन्दर्यबोध अथवा आत्मबोध रूपी प्रहरीकद का निर्माण करना जरूरी है। इसके अभाव में कानूनी प्रबंध अनुपयोगी हैं। वह विरोधाभास के जोरदार दम से कन्ता है कि संगीत की माय शक्तियों को कभी कही भी नहीं बदला जा सकता क्योंकि ऐसा करने से राज्य के हित को घातक सिद्ध होनेवाले गम्भीर परिणाम

हुए बिना नहीं रह सकते। कानून के प्रति अपना भी भावना बहुत छोटी-सी शुष्कता से बड़ा रूप धारण किया करती है। जब यह आरम्भ संगीत में दीवता है तो गुरु में उससे हानि की शका नहीं होती। लेकिन धीरे धीरे यह प्रवृत्ति स्त्री पुरुष के मन में उत्तरन लगती है और समय बीतने पर उसका विघटनकारी चल असर करने लगता है। अतएव हमारे अभिभावकों व मनोरंजन की व्यवस्था तब की हमें अत्यधिक सावधानी रखनी पड़ेगी, उनमें मनोविनोद भी नियन्त्रित भावना में रगे होना चाहिये।

प्लेटो की यह मायता अनिर्गम्यता जान पड़ती है कि जनप्रिय संगीत की पद्धति में परिवर्तन बड़े राजनीतिक हेतुओं के विरुद्ध हैं यद्यपि उसने इस बात की बहुत सरल ढंग से कह दिया है। आधुनिक लेखक इस बात के आन्तरिक सम्बन्ध की काफी विस्तार से सिद्ध करना पसन्द करता, परन्तु आधुनिक चिन्तन में इस प्रकार की धारणाएँ विजातीय नहीं हैं। यह बात सन्देह से पर है कि व्यापक राजनीतिक उत्तरोत्तर के अग्रदूत स्वल्प परिवर्तन हुआ करते हैं मगर हम भ्रमदृष्टि से उन्हें पहचान सकें। महाक्रान्ति के अनन्तर बहुधा लोग इन पूर्वगामी तुच्छ लक्षणों का अध्ययन करते हैं जैसा फ्रांस की राज्यक्रान्ति और अंग्रेजी 'रिजिम' पुनर्कल्पितकर माकटवेन ने किया था। किन्तु थोड़ी-थोड़ी जनता की मानसिक तथा नैतिक दशा का जान ग्रीस के छोटे से स्वतंत्र जनमण्डल के मनोभाव की भाँति महज बोध्य नहीं है। यदि विश्वविद्यालय के छोटे जनमण्डल जसा कोई स्वतंत्र राज्य हो, तो आज की अपेक्षा यह बड़ी अधिक सच होता कि संगीत यदि जसी बातों का हर परिवर्तन विचारणीय होगा चाहिये। एथेंस जैसे राज्य में अतिरिवाइडीज के समान कतिपय प्रमुख व्यक्ति द्वारा संगीत में नवीन विचारों आरम्भ की गयी तो सबने उस पर ध्यान दिया और उसे बहुत महत्त्वपूर्ण माना।

अभी जा कुछ बड़ बड़ बुद्धिमान हैं उसने अनुसार राजनीतिक दशान्त के नाते उन विषयों में सम्बन्धित कानून बनाने की विद्या चर्चा उचित नहीं है जिनका निरूपण उसने अभी तक नहीं किया। कानून के उपयुक्त विषयों में वक्ता पुलिस शांति तथा राजनीतिक संगठन ही नहीं है बल्कि सामाजिक आवरण वेशभूषा विनयोचित व्यवहार और ऐसे अन्य मामलों का भी वह उल्लेख करता है। स्पार्टा जैसे राज्य में निश्चित कानून न होने हुए भी इन सभी बातों का पालन प्रथा प्रेरित या जिममें कानून अभी अस्तित्व में है। प्लेटो के कथनानुसार ये सभी प्रश्न अपने आप हल हो जायेंगे अगर अभिभावक निर्धारित गिराप्रणाली के नियमों

को कायाचित करत जायें। इसके विपरीत यदि शिक्षा के फलस्वरूप समुचित मनाभाव नहीं बनाता राज्य ब-छाट-छाटे दोष मिगने के लिए कानून बनाने में कुछ लाभ न हागा। केवल धार्मिक कमराण्ड का विषय ही ऐसा है जिसकी चर्चा प्लेटो नहीं करता यद्यपि शिक्षा से उसका गहरा सम्बन्ध है। असल में इस विषय में उसकी गति नहीं है। इस मामले में सारे सवाल का पैमला डेल्फी व प्रमाण पुरष को सोप देना चाहिये जो ग्रीक राष्ट्र की दृष्टि में नवी भाष्यकार था। यह उदाहरण सिद्ध करता है कि प्लेटो कितना अनुदार था यद्यपि धार्मिक विश्वास व विषय में वह निष्ठुर क्रांतिकारी समझा जाता था।

राजनीतिक कानून के उल्लेख से प्लेटो का कानूनी सुधारवादिया का उपहास करने की सुविधा मिल जाती है। सुधारवादिया का क्याल यह है कि सविधान के मूलसिद्धान्त की अभुण्ण रखना चाहिये परन्तु उसकी तफसील में हमेशा हेर फेर करते रहना हितकारी है। प्लेटो सोचता है कि अभी जो राजनीतिक समस्याएँ हैं उनके सिद्धान्त तथा भावना में आमूल परिवर्तन प्रमुख आवश्यकता है और एक बार यह परिवर्तन हो चुका तो फिर उन्हें जसा का तसा रखना चाहिये। उसका मत है कि राज्य बिशारद जिस कानूनी सुधार की बात करत है उसे बुवच की जीपधि के समान समक्षिय। यह विचार और यह रूपक बारलाइल प्रणीत पास्ट एण्ड प्रेन्ट (Past and Present) के एक अध्याय (मारीसम पिल्स) से बहुत मेल खाता है जिसमें वह अपने युग के सुधारकों की अच्छी धुन बनाना है।

यदि हम कानून विषयक सारी चर्चा के मूल में प्लेटो के सिद्धान्त का पता लगाना चाहें तो एकदम विरोधाभासी परिणाम हमारे हाथ लगता है। जिन बातों के लिए हम कानून बनाते हैं उन्हें वह छूता तक नहीं। जिन बातों के निमित्त कोई मनुष्य समद से कानून बनाने की कल्पना नहीं करेगा उनका वह कानूनी बल देना जरूरी मानता है क्योंकि उसकी राय में ऐसे कानून शिक्षा के महान् सिद्धान्तों से जुड़े हुए हैं कलाकृतियों को इनसे नियमबद्ध किया जा सकता है और ऐसी ही दूसरी बात है। उसके मतानुसार कानूनी व्यवस्था के अधिकार की दृष्टि से शासन का कत्त य यह है कि वह जीवन के कुछ सामान्य और प्रारम्भिक सिद्धान्तों को स्थिर कर दे और इस प्रकार एक सामाजिक व्यवस्था बना दे जिसे जनता सँस लेने के समान स्वभावतः स्वीकार करके चलती रहे। यदि इतना कर दिया तो कानून बनाने में दी जानेवाली तफसील निरयक है क्योंकि तब लोग जा बुद्ध सहज ढंग से स्वयं करते हैं उसको नाहक कामज पर टीपना ही कहलायेगा।

लेकिन यदि इतना नहीं किया तो कानून बेमतलब है क्योंकि वह तो जरूरत भावना को अछूता छोड़कर छोटी छान्नी ऊपरी बातों का ढरा फेरी भर हागी। अरस्तू भी प्लेटो से इस बात में एकमत है कि राज्यमण्डल की प्रधान समस्या नागरिकों में निश्चित चरित्रबोध की प्रतिष्ठा करना है। आधुनिक राज्य में इस धारणा को चरित्रार्थ नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि आधुनिक राज्य में कानून का प्रयोजन प्राचीन ग्रीस से भिन्न है उसका अर्थ सीमित है आज के युग में कानून और प्रथा, शासन और लोकमत को विभाजक रेखाओं से समान पुराने ग्रीस में कोई भेद नहीं था। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि राजनीति सम्बन्धी समस्याएँ चाहे जितनी महत्वपूर्ण हों, जीवन की निरन्तर उपाध्यक्ष वस्तुओं के विषय में सततनीय कार्यवाही तुलनात्मक दृष्टि से रचनात्मक भी ध्यान नहीं देती। हम इस सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर चुके हैं कि सामान्य का राष्ट्र जीवन के सारभूत महत्त्व की वस्तुएँ अपने हस्तक्षेप के पर रखता चाहिये। दूसरी बात यह है कि ग्रीस में जो सामान्य कानूनी व्यवस्था से होता था वह लोकमत द्वारा आज बहुत खूबी से हुआ करता है। प्लेटो और अरस्तू में हमारा मतभेद जनमण्डल के लिए मौलिक रूप में महत्त्वपूर्ण बातों में नहीं है बल्कि इसमें है कि राज्य का हस्तक्षेप किन मामलों में उपयोगी है और किन बातों को उसे हाथ नहीं लगाना चाहिये। इस प्रकार की भेदरेखा प्रत्येक युग और प्रत्येक देश अपने विवेक से स्वयं अलग-अलग बनाये। यह निश्चित है कि हम कानूनी व्यवस्था का ग्रीक जाति के समान कर्तव्य सौंपने का प्रयत्न कभी नहीं करेंगे हमीलिये जो लोग कानून से जीवन को नियमित करने का विरोध करते हैं और जो कानूनी व्यवस्था के अधिकतम उपयोग में जीवन की उन्नति करना चाहते हैं—इन दोनों में सनातन विरोध बना रहना। हमारी यह भावना सिद्धान्त रूप में व्यक्त होनी आयी है कि श्रेष्ठ कानून का ध्येय अतः अपने आपको निष्प्रयोजन बना देना है। या कहना चाहिये कि समाज की व्यवस्था जिनकी अधिक निपुण होती जायगी उतने ही कम कानून उसे जरूरी होंगे और उसी प्रमाण में पाठे से सहज सिद्धांत उसका जीवन को सुस्थिर और सुखी बना सकें। इसके विपरीत यह मत भी है कि स्वतंत्र जनमण्डल में जिनकी अधिक वस्तुएँ कानून से व्यवस्थित होकर मलीमती रहती हैं उससे सामान्य जीवन के सदाचरण का प्रमाण मिलता है। जनमण्डल में इसी से सदाचार के उत्कृष्ट स्तर का पता लगता है कि वह अपने विवेकी पुरुषों के बनाये कानूनों से अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग गमित करने में प्रसन्न है। प्लेटो के चिन्तन में इन दोनों सिद्धान्तों का युक्तिबद्ध स्वीकार किया गया है।

न्याय के मूलस्रोत का निर्देश

चतुर्थ अध्याय का नेपाश तीन खण्डों में बटा हुआ है (१) पहले खण्ड में प्लेटो राज्य के गुणों का स्वरूप स्थिर करता है। उसका विशेष ध्येय इन गुणों में न्याय-नैतिक की खोज करना है। (२) इसके बाद वह आत्मा के स्वभाव की छानबीन करता है और प्रतिपादित करता है कि आत्मा की भीतरी परिस्थितियों का व्यक्तरूप ही राज्य के गुण है। अन्त में (३) इस छानबीन के परिणामों का प्रयोग करके वह व्यक्ति के गुणों को निर्दिष्ट करता है जिनमें न्याय भी एक है।

(१) समय जनमण्डल की रूपरेखा बना चुकने के बाद प्रश्न उठता है कि जिस न्याय का खोज करने हम चले थे, उसे इस जनमण्डल में कहाँ देखा जाये और उसका आकार प्रकार क्या है? उत्तर में प्लेटो समय जनमण्डल की कल्पना का वही विवर्णन आगे जारी रखता है और समय जनमण्डल के प्रमुख तत्त्वों की समस्या को इस विविष्ट रूप में प्रस्तुत करता है। इस जनमण्डल के गुण क्या हैं? अथवा जमा उसका रखा रहा है यहाँ भी वह विश्वस्त धारणाओं को लेकर विचार शुरू करता है। समयता प्रमुख चार रूपों में प्रकट होती है जो ग्रीक जाति के चार नैतिक और धार्मिक गुण थे। प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक युग की गुण विषयक निजी धारणा रही है तथा उसे वह अपने खास ढंग से व्यक्त करता आया है। ग्रीक जाति ने भी समग्र गुणों की कल्पना के चार पहलू माने हैं विवेक साहस आत्मनिग्रह तथा न्याय। इस प्रकार प्लेटो धीरे धीरे जाचता है कि इन धार्मिक गुणों में प्रत्येक किस प्रकार राज्य के जीवन में स्वतः प्रदर्शित होता है।

यह चर्चा जननिक प्रणाली का उदाहरण है जिसका प्लेटो ने रिपब्लिक में आद्यान्त अनुसरण किया है अर्थात् जो धारणाएँ आरम्भ से ही बनी हुई हैं उन्हें

प्लेटो यथाशक्त विकसित करना चाहता है। राज्य व गुणा का अनुमान और कुछ नहीं है वह नागरिका की उन वाप्यद्वितीयों का महान विरूपणमात्र है जो राज्य के सिद्धान्त में पहले ही प्रतिष्ठित की जा चुकी हैं। जब हम ‘याम’ की परिभाषा करने लगते हैं तब असल में हम उस दृष्टिकोण का विशद निर्देश मर करने हैं जिसके अनुसार हमने राज्य के कल्याण पर आरम्भ में विचार किया है।

‘रिपब्लिक’ के विषय में बात करनेवाले तब वभी-वभी इस तरह चर्चा करते हैं माना राज्य की गुणवत्ता उसके घटक नागरिकों के गुण नहीं है बल्कि किसी अमानुषी यन्त्र के लक्षण हैं। परन्तु प्लेटो व्यक्तिप्रा के गुणा का ही राज्य की गुणराशि मानता है भुवि कतिपय व्यक्ति सार्वजनिक वस्तुओं के माध्यम से जिन गुणों को प्रकट करते हैं, इसीलिए उन्हीं का वह राज्य व गुण बतलाता है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक राज्य में गुणासन है, तब वास्तव में हमारा आशय उन व्यक्तियों के गुणा से है जो शासन का संचालन करते हैं। जब हम किसी राज्य की विवेकवान, पराक्रमी अथवा आरम्भमयी वस्तु हैं तब वही-सा गुण है और जिस व्यक्ति में वह गुण स्थित है ?

प्लेटो विवेक पर पहले विचार करना है। यह एक प्रकार का ज्ञान है, लेकिन किस तरह के ज्ञान से राज्य विवेकवान् होना है ? राज्य व लोग चतुर विमान हैं अथवा लकड़ी की बोर्जे बनान में कुशल हैं तबिन इसी कारण राज्य की विवेकवान नहीं कहा जा सकता। राज्य की विवेकवान् कहना तभी उचित है जब उसका ज्ञान जीवन के किसी यास क्षेत्र में ही प्रकट न हो बल्कि वह अपने आन्तरिक विषयों का कुशलतापूर्वक निभान में सफल हो जोर दूसरे राज्यों के साथ अच्छे सम्बन्ध रखे। विवेक का सारतत्त्व उचित मात्रणा अथवा विचारणा है। इसलिये यदि हम कहें कि विवेक किस में निवास करता है तो उत्तर एक ही है कि जो ज्ञान के मात्रणात्मक भाव का निर्वाह करते हैं उनमें विवेक का अविच्छिन्न भोजन चाहिये। विचारणा शक्ति विरल होती है। राज्य में बहुतेरे निपुण लोहार मिल सकते हैं परन्तु समय राज्य विचारद बर्द नहीं होने। अतः प्लेटो इस महत्वपूर्ण सिद्धांत की दृढ़तापूर्वक घोषित करता है कि राज्य के मात्रणात्मक काय में केवल थोड़े से व्यक्तियों को व्यवहार देना चाहिये। हमकी दृष्टि में यह प्रकृति का नियम है कि बहुत छोटे से मनुष्या की मानसिक रचना समूचे जनमण्डल के शुभवित्त का भार वहन करने में समर्थ होती है। प्रवीण अभिभावक में ही राज्य के विवेक विचार का वास रहेगा, यही मंत्रिपरिषद् है जो ‘यवस्थापिका तथा प्रबंधकारिणी’ के रूप में राज्यकार्यों का संचालन

करगी। हम देख चुके हैं कि अभिभावक के सम्पूर्ण आशय में यही व्यक्ति सारा गामन संभालेगा और तर्जुन अभिभावक इनके आदेशों का पालन करेंगे। सारा यह है कि जनमण्डल का हित परम नश्य है जिसकी उपलब्धि राज्य का दायित्व है। इस विचार में जो कुछ अभी विस्तार से बताया गया है वही यहाँ विवेक का आशय है जो हमें इसी को बाद में साहस के विषय में व्यक्त किया जायगा। तो विवेक अभिभावकों का गुण है अर्थात् सम्पूर्ण राज्य के हित का उन्हें जो ज्ञान है वही उनका गुण है।

इसके बाद साहस को लीजिये। (युत्पत्ति से इसका अर्थ पौरुष है) राज्य की रक्षा में ही उसका पौरुष या साहस का पता चलता है। यह मतलब नहीं है कि जनमण्डल के शीर्ष का ज्ञान केवल उसका सैनिकी से होता है अपितु केवल उनके आचरण में ही समूचे जनमण्डल के शीर्ष अथवा उसकी भीमता का आविर्भाव हो सकता है। लेकिन प्लेटो साहस के बाहरी प्रकट रूप की बात को तुरंत उसकी आंतरिक प्रकृति की ओर मोड़ देता है। फिर वह उसकी अजीब सी परिभाषा करता है। उसका विचार से साहस युद्धवेत्त में प्रकट बीरता नहीं है वरन् सभी अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में किससे भयभीत होने और किससे नहीं होने के विषय में अपना यथायथ सम्पत्ति की सतत सुरक्षा है। एक पूर्व परिच्छेद में ठीक इसी गुण का वर्णन वह कर चुका है जिस यहाँ वह साहस कहता है। वहाँ उसने उन प्रभावों का उल्लेख किया था जिनके कारण मनुष्य अपने विश्वास को खो सकता है। तर्जुन अभिभावक इसी कसौटी पर कस जायेंगे। जनमण्डल का मौख्य सर्वोपरि है—केवल यही आस्था है जिससे विदित होगा कि सार प्रभावों के बाद भी वह इस पर अटल रहने योग्य है अथवा नहीं। यहाँ एक बात और कहा गयी है जिस बात से भीरु या भयभीत होना—इस विषय में उन्हें सभी नवाबों के रहते हुए भी अपनी निश्चित धारणा में अविचलित रहना चाहिये। भीमता का आशय है—कोई ऐसी घटना या बात जो भय को उत्तेजित कर और मृत्यु इसका खास उदाहरण है। लेकिन बहुतेरी दूसरी वस्तुएँ हैं जिन्हें हम स्वभावतः डर रखना चाहते हैं। सभी प्रकार की पीड़ा अथवा सुख का अभाव हमें कुछ न कुछ भयप्रद लगता है। इसलिए युद्ध में जो गौरव प्रकट होती है साहस अथवा भयविरोधी शक्ति का वही एकमात्र रूप नहीं है। वह एक विनियमित सूचक रूप अवश्य है किन्तु यह शीर्ष भी अतन्त्र उचित के प्रति अपने विश्वास की दृढ़ता पर टिका रहता है। इसके साथ जो बातें हमें अपने वक्तव्य से विमुख कर सकती हैं उनका समुचित मूल्यांकन करने की क्षमता भी

होनी चाहिये । इसी को कहते हैं—साहम अथवा पराक्रम । ऐसे पराक्रमयुक्त मनुष्य का चयन करने में राज्य की अत्यन्त सावधान रहना होगा । जिस प्रकार रंग रोज का खूब ध्यान में ठीक रंग का चुनाव करना चाहिये और उसे बही मेह नत से रंगन के लिए तैयार करना चाहिये विलकुल इसी प्रकार हम अपने इष्ट की जरूरत के अनुसार बांछित स्वभाव के व्यक्तियों का चुनना होगा । फिर प्राग्भिक शिक्षा लेकर उनकी मनाममि की तयार करना पड़ेगा तबिन कानूना व्यवस्था के आलापालन का अम्माय मंज होन सग । इस तरह कानून के रूप में व्यक्त आम्मा का रंग उनके स्वभाव में ऐसा निद जाये कि घुलायी स कभी फीका न पड़े । प्लेटो नागरिका के इस साहम को अनम्म और गुलामा के साहस में भिन्न बतलाता है क्वाकि इन लोगा का चरित्र अभी ऊपर वर्णित गुणा को प्रकट नहीं करता । शिक्षा से इन लोगा का स्वभाव सरल नही हुआ और इसी लिए जानाघ और तकलूय हान के कारण कानून का अनुमरण नहीं कर सकन । विषय का यही छाडकर प्लेटो कहता है कि साहम का विवरण अभी समाप्त नहीं हुआ है और साहम की कल्पना को पूरण प्रस्तुत करने के लिए बहुतरी बानें अभी गप हैं । आगिर हमका आग्रय क्या हुआ ? वह साहम को उस सत्ता धिकार के अर्थ में प्रयुक्त करता है जो निश्चिन्त प्रकार की आम्मा को स्वीकार करा सकता है और इस तरह बनी धारणा को स्थिर रखने में सफल होता है । एक प्रकार का साहम ऐसा भी होना चाहिये जिसका प्रादुर्भाव अपन विवेक और विश्वास में होता है । इस सदगुण की चर्चा बान में और की गयी है । इस प्रकार साहम की मकुचित कल्पना में आरम्भ करके प्लेटो उसमें उन सार लक्षणा का समावेश करता है जिसे नैतिक साहस कहते हैं । वह नैतिक के साहस का इस ध्यापक नैतिक तत्व का एक विविध उदाहरण मानता है ।

यहाँ और आगे यह विवेक ध्यान में की बात है कि प्लेटो किम तरह सार गुणा को शक्ति-लक्षण के नाम में पुकारन गणता है । गुणा का भावात्मक वस्तु समझ लेना मगल है अथवा उहे मनुष्य के साथ बाहर में जाडी हुई अनुपपागी वस्तु समझा जा सकता है । परन्तु प्लेटो गुणा को शक्तिपञ्च के रूप में हटता पूर्वक प्रस्तुत करता है के किसी उपलब्धि के निमित्त शक्ति के उपकरण है । शीव भाषा में महान मनुषुणी पुष्प का अर्थ वह मनुष्य होना है जिसमें कुछ निश्चिन्त लक्ष्या का प्राप्त करने की विपुल सत्ता रहती है ।

आत्मसयम का गुण राज्य के सविधान में अन्तर्निहित है जिसमें उच्च और निम्न वर्गभेद का उल्लेख है और सामान्यतः नागरिक इस उचित भेद मानते हैं ।

आमतौर पर जिम अथ म इस शब्द का उपयोग हुआ करता है उस ध्यान में रखकर प्लेटो आत्मसयम का भावाय इस प्रकार करता है—अपन आप में अधिक शक्तिमान अथवा आत्मभाव का स्वामी। समता है कि इसमें एक परस्पर विरोधी भाव है जिसका स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि आत्मभाव सरल नहीं जटिल है और उगम उच्चस्तर तथा निम्नस्तर हात हैं। जब हम आत्मभाव का स्वामी कहते हैं तब यह आशय हो जाता है कि आत्मभाव का एक भाग दूसरे पर शासन करता है। समाज के प्रसंग में इस देखें तो क्या इस आत्मसयम के लक्षण व्यापक रूप से वही लिखायी दत्त है? हम देखते हैं कि आत्मा के महत्तर तत्त्वा का विकास प्रमुखतः राज्यशासन में सशम अल्पसंख्यक व्यक्तियों में होता है और निम्नतर लक्षण जनसाधारण में पनपते हैं। यन्त्रि किसी राज्य को आत्मसयमी कहलान का हक है ता स्वभावतः श्रेष्ठ और अधःश्रेष्ठ व्यक्तियों का भेद करना ही पड़गा और श्रेष्ठ व्यक्ति शासन के अधिकारों में मान जायग। इतना ही नहीं राज्य के सभी वर्गों को इस भेद के विषय में एकमत भी होना चाहिये और उन्हें इसी भावना में निर्मित संविधान को उचित समझना होगा। अधःश्रेष्ठ वर्ग बिना इस एकमत निर्णय के भी अधीन रख जा सकते हैं परन्तु यथायत्न आत्मसयमिन राज्य में सर्वसम्मति से यह निश्चय होगा कि शासक कौन हैं और कौन जादग का पालन करे? ऐसी स्थिति में ही हम आत्मसयम का एक स्वरसंगति अथवा एकरानता कह सकते हैं चाहे वह राज्य के नागरिक जीवन सम्बन्धी कार्यों में प्रकट हो अथवा अपन स्वभाव के विभिन्न अंगों का नियमित करनेवाले यन्त्रि पुरुष में। सारभूत सत्य है—विभिन्न तत्त्वा में एकता। इसी से यह नहीं कहा जा सकता कि यह एकता किसी एक वर्ग में दूसरे की अपेक्षा अधिक है जम यह कहना गलत होगा कि समस्त संगीत के किसी खास स्वर में दूसरे की अपेक्षा एकरानता अधिक है।

अन्त में याय का प्रश्न है। सुवरात चरितभाव से कहना है कि कब से याय हमारे परा के पास लुप्तवत्ता आ रहा है। समाज विषयक अध्ययन के आरम्भ में ही हम एक सिद्धांत को उभरते हुए देख चुके हैं। पहले वह आर्थिक रूप में था फिर वह अर्थिक सामाजिक रूप में दिखायी गिया। सिद्धांत यह है कि राज्य का प्रत्येक मनुष्य केवल उसी एक वस्तु में अपना सर्वस्व लगा दे जिसके लिए वह स्वभावतः परम दक्ष है। रूप चाहे जो हो याय ही यह सिद्धांत होना चाहिये। जनवादी में इस सच्चाई की पुष्टि होती है क्योंकि यायप्रिय मनुष्य की ————— जान के लिए लोग कहते हैं वह अपना काम करता है। लेकिन

इसे सिद्ध करने के लिए हमें पता लगाना पड़ेगा कि अ य ती० गुणा पर विचार करके उन्हें छोड़ देन क वा० राज्य की सामर्थ्य का कौन-सा तत्त्व गैर रह गया है और पाय ही व० गैर तत्त्व हो सकता है। य० ऐसा गैरतत्त्व है जिसके यन पर दूसरे गुण बन रहते हैं और जो उनके अस्तित्व का पोषण स्वयं करता है। अभी इसी सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है। प्लेटो क कथन का भावाय इस प्रकार समझ सकते हैं। ऐसा एक जनमण्डल की कल्पना की जा सकती है जो बुद्धिचातुर्य, साहसिकता और मायाय मन की भावना से युक्त हो। किंतु उस जनमण्डल क विभिन्न अंशों में म म और अन्य अलग व्यक्तियों में म प्रत्येक म अपने वस्तुस्थिति निर्वाह की क्षमता का अनिश्चित गुण न हो और अपने काम में एकाग्रचित्त हान की योग्यता न हो, तो बुद्धिचातुर्य का विकास विवेक अथवा सामर्थ्य सामर्थ्य में नहीं हो सकता, साहसिकता भी अनुशासित पराक्रम नहीं बनगी तथा मायाय मन भी कभी भावना र० जायाया क्या कि उससे स्वसम्मान राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। प्लेटो की दृष्टि में पाय अपने वस्तुस्थिति में व्यक्तिगत एकाग्रता की दृष्टि है। यदि हम अ य में म निर० पायी है तो वह सब कुछ गुरबीर पुरुष है। यदि अघानता में रहकर मनुष्य पायप्रिय है तो वह मत्ता धिक्कार को महजमाव में स्वीकार करता है और उसका पापण करता है अर्थात् वह धारममयमी है। इसी कारण राज्य के गुणा में पाय की भव गिनती की जा चुकी है और मने वह अन्य विशेष प्रकार क बावों में स्फुटित होता है जिह विनिष्ट अ य में पायचित्त कहा जाता है और जिह दूसरे गुणा क नाम लागू नहीं हान तथापि पाय वास्तव में सभी गुणा क अस्तित्व का निमित्त कारण है। अ य प्रत्येक गुण मत्तमुच पायभावना का विनोपत प्रकटित रूप है जो जन मण्डल में मनुष्य क वस्तुस्थिति क अनुरूप पृथक् पृथक् आकृति धारण करता है। आधुनिक ढंग में उस वस्तुस्थिति भावना का समानार्थी समझना चाहिये।

अभी बाल को धाग बढ़ाकर प्लेटो पाय की मूलप्रकृति मन्व० की अपनी धारणा का पुष्ट करना चाहता है। अभी अभी जिस पायगुण का वर्णन किया गया है उसमें जनमण्डल क अ य गुणा क समान ही हितावह पन मने की समता है। इस वर्णन का मत उस नियम क साथ होना है जिसके आधार पर यह माना जाता है कि पायाधीन को ही पाय करने का अधिकार सौंपना चाहिये। नियम यह है कि प्रत्येक मनुष्य को वही दायित्व मिलना चाहिये जो उसकी मूलभूत योग्यतानुसार हो। अतः इस नियम के प्रतिकूल व्यवस्था हान में राज्य क हित की जो गति होगी उसका वर्णन नहीं की जा सकती जथात प्रत्येक व्यक्ति

अपन निर्धारित कृत्य की अवज्ञा करने लग और दूसरा व काय में हस्तक्षेप करना शुरू करेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि हम साधारणजन के मामूली बोलचाल का सही मतलब लगाये अपने निर्धारित कृत्य में ही ध्यान दें तथा दूसरा व काम में मीनमग्न न निवाले तो जनता व इस आशय को गहरी दृष्टि से ग्रहण करेगी पर हम उसमें वही मिठातया नियम प्राप्त होगा जिसकी खोज हम कर रहे हैं।

२. तबकि प्लेटो अभी भी याय व सम्बन्ध में कोई अंतिम घोषणा नहीं करना चाहता। याय का जो स्वरूप अब तक बना है उसी का लेकर हम वैयक्तिक आत्मा का विश्लेषण करेंगे और देखेंगे कि याय की इस कल्पना का प्रयोग ठीक है अथवा नहीं। ठीक निवाला तो याय की यह कल्पना उचित माननी पड़ेगी। एक सुशामित राज्य में उसका प्रत्येक गुण का बहिरंग और अंतरंग स्वरूप हुआ करता है। प्रत्येक गुण जनमण्डल के सबजनों जीवन में प्रत्यक्ष दीपन वाले कुछ तथ्या की अभिव्यक्ति करता है। हम जान सकते हैं कि जनजीवन में शासनिक सामर्थ्य सैनिक सुशिक्षण सावजनिक मतस्य और सभी वर्गों की अपन सामाजिक कृत्यपालन की सुविधा का प्रबन्ध है या नहीं। इसका साथ साथ प्रत्येक गुण कुछ निश्चित जना में एक प्रकार की मनाशा या मनाभावना प्रकट करता है जो इन तथ्या की ओर विगल ध्यान दिलाती हैं और उनके प्रादुर्भाव में योग देती है। प्लेटो इसी बात में सबसे ज्यादा श्लिषस्पी रखता है और आत्मा में स्थित याय क्या है—इस प्रश्न का आशय भी यही है। बट समय जनमण्डल की छानबीन तब तक जारी रखना चाहता है जब तक उसे मानव स्वभाव में उसके मूलबोध का ज्ञान न हो जाय। इसी व द्वारा वह सिद्ध करता है कि जनमण्डल व मदस्या की कुछ मनावज्ञानिक स्थितियाँ पर ही सावजनिक गुण आश्रित हैं।

यह सम्बन्धसूत्र आत्मा व विश्लेषण से ही प्रकट हो सकता है। इसने लिए प्लेटो मनावज्ञानिक दृष्टिकोण का उपयोग करके उसी ढंग में विचार विमर्श करता है जिस तरह उसने भूवर्च में जिज्ञा का निरूपण किया है। छानबीन का गुरुआत इस जिज्ञासा से होती है कि आत्मा व विभिन्न रूप अथवा उसके भिन्न भिन्न अंग प्रत्येक व्यक्ति में कौन कौन से हैं? किस निश्चित मतबिन्दु से वह इस शाध का आरम्भ करता है और रिपब्लिक का तत्त्वपद्धति के विकास में उसका क्या योग है? समाज व विश्लेषण से स्पष्ट हो चुका है कि प्रमुख सामाजिक कर्तव्य तीन हैं—मन्त्रणात्मक अथवा शासनिक रक्षणायत्मक अथवा

व्यवस्थापक तथा उत्पादक। यह भी देख लिया है कि इन तीनों वस्तुओं को अपने विभिन्न रूप में ही रखने और इनमें से प्रत्येक को समुचित निर्वाह करने पर समाजहित निभर है। क्या समाज को इस संगठन का कोई अधिक सम्भीर कारण देना जा सकता है? क्या कृतव्य विभाजन मनुष्य-स्वभाव की रचना पर आधारित है? यदि यह ठीक है तो क्या हम यह नहीं जान सकते हैं कि एक मनुष्य को यथोचित कृतव्य-पालन पर ही समाज का कृतव्य निर्वाह मिला हुआ है? तब स्पष्ट है कि याय और अय गुण राज्य में बसे कुछ निश्चित मनुष्यों के बीच वास दण्ड के सम्बन्ध में रहते हैं। और ये सम्बन्ध भी मनुष्य की आत्मा में रहनवास कुछ तरिका के सम ही समान भूतों की अभिव्यक्ति है। इसीलिए प्लेटो का निश्चित मत है कि जहाँ तक याय के स्वल्प का सम्बन्ध है (अथवा उसमें निहित मिथ्याता का) वह एक ही वस्तु है चाहे वह राज्य में प्रकट हो अथवा एक मनुष्य में। दूसरी तरह वह तो आत्मा के उचित कृतव्य निर्वाह में हम सिद्धांत का प्रायः वही रूप पाते हैं जिसमें राज्य का सम्बन्ध कृतव्य-पालन नियमित होता है।

इस विवाद का आरम्भ करते हुए प्लेटो कहता है कि वह जिस पद्धति से याय को परिभाषा करना चाहता है उसमें वह मनुष्य नहीं है। 'रिपब्लिक' के आगामी भाग में वह इस परिच्छेद का फिर उत्तेज करता है। परन्तु इस ग्रन्थ के अन्तर्गत भाग में ऐसी ही पद्धति अपनाया गया है। कुछ दूर तक वह जनता की चलनी धारणाओं को ग्रहण करता है। उस मौखिकता है उसमें परिवर्धन करता है और कभी कभी अपनी पूर्वग्रहीत धारणा का प्रयोग करके इन जनप्रिय भाषणों के गुणात्मक का विवरण करता है। उसके मतानुसार यह स्वयंसिद्ध मर्यादा है कि राज्य या राज्य का चरित्र उसका निवासियों का व्यक्तिगत चरित्र है। उसने ग्रीक सीडियन प्रेमियन फाल्गियन तथा ईजिप्शियन जाति के लोग का अवलोकन किया था। इसलिए वह कहता है कि विविध राष्ट्राँ के नागरिक जिस स्वभाव और चरित्र का प्रदर्शन करते हैं वह उस राज्य में बसे अनन्त वर्गों के आचरण चिह्नों का संकलित रूप है। प्लेटो के समक्ष यह प्रश्न है कि आत्मा के जितने विभिन्न भाग हैं और जितने हम विशेष वर्गों अथवा विभिन्न राष्ट्राँ के चरित्र प्रतीक समझते हैं उनका द्वारा सम्पूर्ण आत्मा क्रियाशील होती है या उसका केवल एक रूप या भाग। जान क्या प्लेटो का यह प्रश्न इतना महत्वपूर्ण लगता है? यदि वही यही बात सब निश्चय आयी कि इन विविध भागों में से प्रत्येक में आत्मा समानरूपण पूरा तरह हवीं हवीं थी (इनमें से प्रत्येक भाग एक सामाजिक

वगैरे क वस्तु का विशेष लक्षण है) तो सवान होगा कि कोई भी एक आत्मा किसी भी एक सामाजिक कार्य में समान रूप से पूरी तरह दत्तचित्त हो सकती है या नहीं और कोई भी एक मनुष्य इसी प्रकार समानरूपेण पूरी तरह से गवर्नर या सैनिक या व्यापारी हो सकता है अथवा नहीं। प्लेटो की कल्पना के अनुसार समाज का समूचा नीचा इस तथ्य पर आधारित है कि उपरिलिखित वस्तु या आत्मा के विभिन्न अवयवों के कार्य हैं और प्रत्येक मनुष्य में इनमें से प्रत्येक अलग अलग रूप से रहता है तथापि अलग अलग मनुष्यों में अलग अलग रूप से इन विभिन्न अंगों का विकास हुआ करता है।

इस प्रश्न की अवधारणा का निश्चित वर्णन के लिए प्लेटो पहले एक सामान्य नियम बनाता है जिस के भी-बो-अस्मिता तथा छण्डन मिट्टा त कहते हैं और जिस वह इस रूप में प्रस्तुत करता है एक ही वस्तु अपने एक ही भाग में कार्यशील नहीं हो सकती और न उस पर अन्य वस्तु की प्रतिक्रिया सम्भव है बिनापत एक ही समय में परस्पर विरोधी तरीकों से ऐसा नहीं हो सकता। अब इसका प्रयोग आत्मा के लिए करके देखें क्या हम उसमें एक ही समय में एक ही वस्तु की ओर कोई निश्चित क्रिया अथवा प्रतिक्रिया देखते हैं जो परस्पर एकांतिक और एक दूसरे के विरोध हैं? उदाहरण देकर वह समझाना है कि मामूली तौर पर भूख किसी वस्तु की स्वीकृति का एक रूप है उसे अपनी पटुच में नान अथवा स्वयं उसके समीप पटुचने का प्रयत्न है। यदि आत्मा में इसका बिलकुल विपरीत किसी क्रिया की एक ही वस्तु के प्रति एक ही समय में प्रदर्शित पात है तो निष्कर्ष यह होगा कि भिन्न भिन्न दाकर्ता आत्मा के दो पृथक् पृथक् रूप में उपस्थित हैं। सच तो यह है कि इस प्रकार के व्यापार से हम परिचित हैं। उदाहरणार्थ हमने कई बार देखा है कि शराब पीने की इच्छा के साथ साथ यह विचार भी आता है कि नहीं पीना बेहतर है। फलतः जो इच्छातत्त्व अथवा बुभुक्षा हमें शराब की तरफ खींचती है और जो विवेकतत्त्व उससे पीछे हटने को मनेत करता है—दोनों ही आत्मा के दो पृथक् पृथक् अवयव या भाग अथवा रूप हैं।

यहाँ तक जाने माने तथ्यों के अवलोकन से हम आत्मिक व्यापार के दो रूप अर्थात् बुभुक्षा तथा विवेक के भेद पहचान सकते हैं। इसका अर्थ जिस हम भावना तत्त्व कह चुके हैं क्या उसे इन दोनों में भिन्न तीसरा रूप मान सकते हैं? प्लेटो का कथन है कि जब मनुष्य बुभुक्षा की चपेट में आकर विवेकपूर्ण निर्णय की अवहेलना के प्रति सजग होता है तब वह अपने आप से और पथभ्रष्ट करनेवाली बुभुक्षा से कुपित हो जाता है। ऐसा लागू के प्रमाण हैं जिन्होंने बुभुक्षा के सम्मुख

मुक्त की घड़ी में ही उसको मरणा त्याग देने की प्रतिष्ठा की है। इसमें उनका उस मनुष्य का उद्धारण है जो अपनी बुद्धि का अनुसरण करने पर भी अपनी काम का उचित समझता है और अपने इस आवरण पर उस स्वभाव काप नहीं जाता। जब मनुष्य यह सोचता है कि यह कुपय में था और यही कारण उस वस्तु का भागना पड़ रहा है तब वह जितना कुचीन होगा उस उतना ही कम राप का अनुभव होगा। इसमें विपरीत अंग यह मानता है कि उसका साथ अ वाय दिया गया है, तो जितनी कुचीन प्रकृति का मनुष्य वह है उतना ही कोपाकुल उम होना चाहिये। इन बातों में दाहना नवीजा निश्चयता है। प्रथम, जिस भावनातत्त्व में हम शोध का अनुभव करते हैं उसका बुद्धि का विरोध में बदला नहीं जा सकता। द्वितीय हमारे विवेकपूर्ण आन्तरिक भाग में और भावनातत्त्व का म एवं सम रचना है—(विवेकी भाग में कभी मनुष्य भूत नहीं हो सकता—ऐसा नहीं है) — लेकिन उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति विवेक की गति है, बुद्धि की वृद्धि। दूसरी बात यह है कि स्वच्छ भावनातत्त्व का स्थावर विवेक में नहीं हो सकता क्योंकि कभी कभी उगता है कि विवेक उस पर्याप्तता है। छोटे बच्चा और निम्न जाति का पशु भी यही भावनातत्त्व कारी यही माना मानी रहती है।

कभी-कभी इस पण्डित का प्लेटा व मनाविमान विषयक पूरा और प्राधिकृत वक्तव्य जगा उपाय किया जाता है। लेकिन यह जगा नहीं समझना चाहिये। यह तो उसकी नकल है जो एक मूल मान है और बसतः ही विचारितु का स्पष्ट करता है अर्थात् बुद्धि आत्मिक कायवत्ताप ही आन्तरिकनीयता का। मीन में कायवत्ताप है य—यही उत गुरी तरह नहीं बनाया गया है। परन्तु निम्निक के सम्पूर्ण विवेक में उह ध्यानहीन व एकत्र करना पड़ता। नवम अध्याय में अंत में ही यह विषय पर सुप्राप्त उम में और सब मिलाकर, गरम शतोपकारक वक्तव्य मिलता है। (घ) प्लेटो की भावनातत्त्व मन्त्राधी धारणा में तीन महत्त्व तथ्या का समावेश है जिसका उम एवं नी खीन निष्ठावी पड़ता है। पहला तथ्य है, मनुष्य का भीतर का पादातत्त्व जो उस आक्रमण का निवारण करने और स्वयं आक्रमक बनने का प्रेरणा देता है। दूसरा मनुष्य के अन्तर में कोई ऐसी वस्तु अवश्य है (मन व स्वतः तत्कालिक न लग परन्तु उसके विवेकवान् जग के साथ उसकी मलाई जान पड़ती है) जिसने कारण वह अनाचार का प्रति सरोप हो जाता है और जब वह कुपय में जाता है तो उस वह वस्तु भीर बना देता है। तीसरा, वह आन्तरिक वृत्ति जो उस प्रतियोगिता तथा महत्त्वार्थता बनाती है। (ध) आत्मा का विवेकपक्ष जिसके दा मरणा परस्पर विरोधी काय है। उस प्रज्ञा या मनीषा कहते

हैं जो मनुष्य को वस्तु का बोध करने योग्य बनाती है। किन्तु प्लेटो के मन में यह एक प्रकार के प्रेम का अविभाज्य सम्बन्ध है। दानतत्त्व मनुष्य का उस वस्तु में सुरचिम्न बनाता है जिस वह समझ लेता है और जिसके प्रति आकर्षित होता है उस समझने की अभिलाषा करता है। पहले-पहले यह दानतत्त्व दूसरे अध्याय में आया है। तदनुसार तीसरे अध्याय में यही तत्त्व मनुष्य को माहित्य और कला में सुविन बनाता है सुन्दर में प्रीति करने की प्रेरणा देता है बोध और आकर्षण संगति में चलते हैं। इसी के मूल में समाज व्यवस्था में बंधी रहती है मनुष्य मनुष्य से आकर्षित होता है और यही एक दूसरे का समझने में समय बनाता है। (हम भी इन दोनों बातों को साथ-साथ रखते हैं किसी व्यक्ति से स्नेह करना है तो उस समझना होगा और यदि किसी का समझना है तो उससे स्नेह करना पड़ेगा।) छठवें और सातवें अध्याय में मनुष्य के सभी तत्त्व से उसका विज्ञान तथा दान की रचि पड़ती है। उनका उद्गम इसलिए होता है क्योंकि मनुष्य के अन्तःकरण का कोई तत्त्व उसे प्रकृतिप्रिय बनाता है और उसे समझने के लिए उकसाता है। सारांश यह कि आत्मा और प्रकृति में कोई सम्बन्ध सूत्र है। प्रस्तुत परिच्छेद में दानतत्त्व अथवा विवेकतक का उल्लेख ऐसी वस्तु मानकर किया गया है जो कतिपय यत्तियों में विशेष प्रकार की बुभुक्षा का विरोध किया करती है। (ज) आत्मा के बुभुक्षात्मक भाग में दैहिक क्षुधाएं रहती हैं और विस्तृता भी जा दैहिक भूखा को सुष्ट करने का उपाय है।

प्लेटो मुझाता है कि इसमें एक कठिनाई हो सकती है। यदि भूख या लालसा का लक्ष्य कोई शुभ वस्तु है तो इच्छित वस्तु का आकर्षण कभी अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। इस तरह वह क्षुधा के सकीण अथवा जोड़कर उसके व्यापक आशय अभाव की चेतना को ग्रहण करता है। हम दूसरे आशय के अनुसार विवेक तथा लालसा में विरोध की सम्भावना मान लेना बहुत कठिन हो जाता है और इसी आधार पर प्लेटो के निष्कर्ष टिके हुए हैं। प्रत्येक लालसा या इच्छा का अंतरण में तकमुक्त क्रिया का कोई तत्त्व रहता है और हमारे कायकलाप की अत्यन्त तकसगत निशा में लालसा या कामना का तत्त्व निवास करता है। इसलिए हम ऐसा कह सकते हैं कि शुद्ध विवेक तथा शुद्ध कामना में कोई यथाथ संघर्ष नहीं है लेकिन संघर्ष है विभिन्न प्रकार की कामनाओं अथवा लालसाओं में। यही कारण है कि नवम अध्याय में आत्मा के तीन रूपा में से प्रत्येक की एक निजी विषय बुभुक्षा है। परन्तु सामान्यतः प्लेटो बुभुक्षा के इस सकीण

आशय का ही मानकर चलता है—जिस लालसा में सहन आवश्यकतत्त्व ही प्रमुख है और विवेक या विचारतत्त्व ‘यूनतम’ है। बुभुक्षा के इसी आशय की दृष्टि से लालसा तथा विवेक में जो विरोधजनता के आन्तर्गत में प्लटो अपनाता है, वह सुबोध हो जाता है। (आत्मा को आत्मिक क्रिया के तीन भागों तीन रूपों जयवा प्रकारों में बांटना सबल्य मति इत्यादि जसी समताओं के विभाजन का पूरक नही है बल्कि अस्तु के ईश्वर्य में वर्णित आत्मा के तीन भेदों का पूर्वाभास है।)

३ अब हम व्यक्तिक आत्मा के विश्लेषण का प्रयास इस ढंग से करना है ताकि ‘याम’ का प्रवृत्तिविषयक हमारा अनुमान पुष्ट हो जाये। जिस ढंग में हम प्रयुक्त किया जाता है वह काफी स्पष्ट है। लेकिन इसका क्या अभिप्राय है? राज्य के गुणों और व्यक्ति के गुणों में क्या भेद है तथा एक से दूसरे तक पहुँचने में क्या हम कोई प्रगति कर पाते हैं? जिस प्रकार विभिन्न वर्गों के व्यक्ति समाज में अपने निर्धारित कर्तव्यों का निर्वाह करते हैं, उन्हीं आचरण-नित्याम में समाज के गुण प्रकट होते हैं। समाज की व्यवस्था व्यक्तियों के कर्तव्यों का निमित्त कारण है। हम व्यवस्था का आधार यह है कि कुछ व्यक्तियों में कुछ चरित्र-लक्षण प्रधान थे। विभिन्न राष्ट्र भी समान चरित्र-लक्षणों में से एक या दूसरे गुण की प्रधानता के कारण एक दूसरे से भिन्न विभाजित हो जाते हैं। एक राष्ट्र में रणशक्ति प्रधान होती है, बणिज्य बल और भौतिक समृद्धि की लालसा दूसरे में प्रमुख रहती है। किन्तु मनुष्य के विभिन्न वर्ग और जाति में इतनी भिन्नता होती है कि कोई मनुष्य प्राणी ऐसा नहीं मिलता जिसमें केवल इतने ही चरित्रबोधक गुण रहते हैं। किसी एक मनुष्य में सम्पूर्ण बुभुक्षा जयवा समूचे भावनातत्त्व या दर्शन का सग्रह नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति द्वारा समाजगत कर्तव्यों के निर्वाह में परम्परा भी इसी तरह समन्वित। एक मुख्यव्यक्ति ‘याम’ में प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा का प्रमुख तत्त्व उस कुछ कर्तव्य गोपनी है। एक राज्य में परम्परा का आधार यह भी होता है कि व्यक्ति की आत्मिक क्रिया के भौतिक रूप कुछ वायव्यतया और कुछ परम्परा मन्त्रों में प्रकट हो। प्लटो का मत है कि मुख्यतः सहजबुद्धि के अभाव में ‘याम’ की खोज करने निकल पड़े थे। हमारा सपना था कि स्वतः अपना काम करने के नियम से हम अपने आधिक्य अभिप्राय में ग्रहण करने के ‘याम’ मान लेंगे। अब मित्र हो गया है कि वह कल्पनाप्रसून छविमात्र की ‘याम’ की मूर्त अभिव्यक्ति थी। यथाय

‘याय’ राज्य में केवल अपने कर्तव्य करने में ही नहीं है बल्कि वह ऐसा प्रकट कृतव्य होना चाहिये जो आत्मा की तन्मूर्त कर्मविधि को अभिव्यक्त कर सके। यदि हमारे कर्म का प्रकट रूप ‘यायोचित’ है तो जनरात्मा भी ‘यायोमुख’ कहलायी। एक ‘यायनिष्ठ’ राज्य में अनुरूप सम्पूर्ण आत्मा और उसके कतिपय भाग या अंग एक दूसरे के हित में मिलजुलकर अपने सम्यक् कर्मों का निर्वाह करते हैं। सुसंगठित राज्य के गुण सभी बातों में सिद्धांततः स्वस्थ व्यक्तित्व आत्मा के गुणों से अभिन्न हुआ करते हैं। जब हम किसी मनुष्य का गानी मानते हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि उसमें समग्र मानव की दृष्टि से अपने हित के बोध की क्षमता है। जब हम राज्य को सुदृढ़ कहते हैं तो हमारा प्रयोजन यही होना चाहिये कि जिन व्यक्तियों में शासन के दायित्ववहन की निपुणता है उ होने अपना समस्त धाद्यक्षमता पूरे राज्य के हितसाधन में जुटा दी है। वही वीर पुरुष है जिसमें अपनी सम्मति का साहस है अर्थात् जो व्यक्ति अपने सिद्धांतों को कार्यान्वित करता है चाहे वह सिद्धांत उसके निजी विवेक के फल हों अथवा हमारा सन्धार लिये गाने का। शक्तिमत्त राज्य भी वही कहलाता है जिसकी सुरक्षा का दायित्व सभालनवाले व्यक्तियों में सविधानसम्मत सत्ताधिकार के निर्देशित सिद्धांतों और कानूनों को कार्यान्वित करने की सामर्थ्य हो। आत्ममयमी मनुष्य से केवल उमी यक्ति का अर्थ नहीं होना जो अपनी बुभुक्षामात्र का ध्यान रखता हो बल्कि जिसकी आत्मा में स्वरक्त्य हो और जिसके स्वभाव के विभिन्न अवयवों में आन्तरिक सघर्ष का अभाव हो। इसी तरह आत्मनियन्त्रित राज्य उम कह सकते हैं जिसकी सामाजिक व्यवस्था केवल सेना और पुलिस के कारण सुरक्षित न हो अपितु जो जनसमुदाय के सामान्य मतकर्म पर निर्भर हो। अतः उसी मनुष्य को जीवन के सभी सम्यक् धर्मों में ‘यायनिष्ठ’ कहना चाहिये जिसमें स्वभाव के भिन्न भिन्न तत्त्व अपने अपने नियत कर्म में सलग्न हो कर्माणि असल में वह एक ही मनुष्य है अनेक नहीं और वही राज्य ‘यायाधारी’ है जो ऐक्यभाव में सम्पूर्णतः बद्ध है और जिसका प्रत्येक वग उसी निश्चित कर्म में ध्यान लगाये रहता है (सम्पूर्ण जनमण्डल के ‘यायक’ दृष्टि से) जिस वह उत्तम रीति से सफल कर सकता है। यदि हम मूलस्रोतों तक जायें तो राज्य के गुण नागरिकों की आत्मा के निश्चित स्वरूप की अभिव्यक्ति हैं क्योंकि असल में ये गुण नागरिकों की सावजनिक क्षमता में स्फूर्त कर्म शक्तियाँ हैं। प्लेटो इसी को आत्मा का ‘याय’ कहता है। आत्मा की यह अन्तरस्थ दशा और समाज-संगठन के रूप में उसकी बाह्य अभिव्यक्ति

सिद्धान्ततः एक ही है क्योंकि एक सम्पूर्ण वस्तु के विभिन्न अंगों द्वारा समुचित वायुपालन में ही प्रत्येक का अस्तित्व है।

‘रिपब्लिक’ के अगले अध्यायों में उपपद्धति की जो चालियाँ प्रकट होती हैं, उनमें में मुख्यतः आत्मा की स्वस्थ रचना विषमक कल्पना को प्लेटो मूलरूप देना चाहता है।



साम्यवाद और युद्धोपयोग-सम्बन्धी उत्क्रम

रिपब्लिक' के पंचम से सप्तम अध्यायों की विषयवस्तु अपनेआप एक स्पष्ट अलग खण्ड बन जाती है और इसमें पहलू और बातों की सामग्री से भी वह भिन्न है। इस अष्टम अध्याय के आरम्भ में विषयान्तरण कहा गया है। कतिपय आलोचक मानते हैं कि इन अध्यायों की रचना परवर्ती काल में की गयी थी और इन्हें मूल ग्रन्थ के बीच टाँपकर दिया गया। अपना राय के प्रमाण में कहा जाता है कि चतुर्थ अध्याय के अन्त में अष्टम के आरम्भ तक विषय वस्तु में कहीं असम्बद्धता नहीं मिलती जयवा दान या मनाविज्ञान सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय मतपाथक्य निलामी नहीं पड़ता। पंचम से सप्तम अध्यायों की प्रवृत्ति भी पूर्वगत अध्यायों से निरासी है। तुलनात्मक दृष्टि से इनमें कहा अधिक सीलापन मानवजाति का अस्त-वर्तनवान् दुष्टृत्यों की गम्भीरता प्रतीति और परिष्कार के कठिन प्रश्न का तीव्र भाव है। सुकरात का इस तरह निप्राणित किया गया है कि हर काम पर उस 'नोकमन' से सीधे प्रतिरोध से काम पड़ता है मानो जो उसे कहना है उसे कहने में बहुरता है, तथापि जानेमान सद्बुद्धि और बहु-युग्य को क्षलन का आरम्भविश्वास तथा तत्परता उसमें थी। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ की रचना किस योजना से की—इस जानने का कोई उपाय नहीं है। शायद इसमें कोई सार भी नहीं है क्योंकि जब तक ग्रन्थ के भिन्न भिन्न भागों की विषयवस्तु में ठीक-तकसूत्रता है तब तक अध्यायों के रचनाकाल या पद्धति का सवाल निरर्थक है। इतना समझ में आ सकता है कि आरम्भ के चार अध्याय पहले प्रकाशित हुए होंगे। इनमें उपर से साफ दाखने वाला परस्पर विरोधी मतव्यो पर जब समीक्षाएँ हुई तब प्लेटो को बाध्य होकर आदर्श राज्य-सम्बन्धी अपनी कल्पना के विस्तृत विवेचन की आवश्यकता जान पड़ी होगी। परन्तु सम्भव यह भी है कि प्लेटो के मन में आरम्भ में ग्रन्थ रचना

का यही स्वरूप रहा है जो आज हमें उपनन्द है। पूर्ववर्ती अध्यायो में कतिपय ऐसी बातें मिलती हैं जिससे उनके इस विचार का आभास मिलता है कि कुछ प्रसंगवश प्रस्तुत मत और अधिक विस्तार से समझाना पड़ेगा। आधुनिक ग्रन्थ रचना में लेखक अपने विषय का सामान्य और मनुष्यी निरूपण करने की सूचना देता है। उसे मालूम रहना है कि उनके प्रतिपादित सिद्धांतों के परिणाम क्या होंगे। परन्तु वह इन परिणामों की विवेक विवेचना उचित अवसर पर ही करना चाहता है पहले नहीं। प्लेटो अपने लेखन में नाटकीय पद्धति का अनुसरण करता है। चर्चा के इस छोर पर वह फिर कुछ सम्झानाही पात्र प्रस्तुत करता है जो सुकरात की तकप्रणाली की आलोचना करने हैं तथा यह आग्रह करने हैं कि सुकरात फिर से अपनी वही हुई बात को और स्पष्ट करे।

पंचम अध्याय के साथ पूर्ववर्ती भागों का सम्बन्ध बताने के लिए अभी तक की चर्चा में मिल परिणामों को देख लेना चाहिये। यदि वाद सिद्धांत सचमुच है तो प्लेटो उस योजना चाहता है ताकि उसका अनुसरण करके समाज में प्रत्येक मनुष्य श्रेष्ठ प्रकार का जीवन बिता सके। यह सिद्धांत इस रूप में है कि कोई भी आत्मा अनश्वर नहीं है। प्रत्येक का समाज का आश्रय जल्दी है। हमारे अनायास प्रत्येक आत्मा जिस समूचे समाज का एक घटक है उसकी उन्नति में वह कुछ न कुछ योग दे सकता है। इससे पतनस्वरूप मानव समाज का यह आदर्श स्थिर होना है कि वह आत्माओं का मुख्यस्थित समुच्चय है जिसका प्रत्येक व्यक्ति समूचे समाज के हित में कार्यरत होना और सारा समाज भी "पक्षि की आवश्यकताओं का ध्यान रखे। इस प्रकार के समाज में हम आत्माओं की काम करेगा जिसके लिए वह उत्तम रीति में समर्थ है। पतन प्रत्येक व्यक्ति अपने हित में सुयोग्य ढंग में कार्यरत होना और दूसरों के उत्तम हित में वस्तुव्यापक होना। प्लेटो के अनुसार इस समाज का मूलधार "यावत् का सिद्धान्त है। उनकी कल्पना में परिपूर्ण समाज सार्वत्रिक श्रेष्ठता के परिपूर्ण चक्र अथवा परिपूर्ण आध्यात्मिक जनमण्डल का समान है और इनमें प्रत्येक के आत्मा का चित्राकृत परिपूर्ण मानवदेह की भूमिका में किया गया है।

इस सिद्धांत के आधार पर बने हुए राज्य के वर्णन में जो मुख्य बातें चतुर्थ और पंचम अध्यायों का जोड़नी हैं वह पक्षि-समूह का प्रस्ताव है। उसके साथ ही पुण्या और मित्रता के लिए एक उद्योग समूह भी प्रस्तावित किया गया है। सरसरी तौर पर यह निर्देश भी है कि आदर्श जनमण्डल के अभिभावकों का परिवार तथा उनकी सम्पत्ति समाज की आरोग्यता। इसका यह आशय अभी प्रवृत्त

रूप में रहती है। प्लेटो इसे गम्भीर समस्या मानता है कि जिन लोगों में स्वभावतः इस प्रवृत्ति की प्रवृत्ति रहती है उनके मतिभ्रम से बहुतरे दुराचार जन्म लेते हैं। यदि इस प्रवृत्ति का विकास गलत ढंग से हो गया तो प्लेटो की मान्यता के अनुसार वह समाज में सबसे बड़ा नागरिकी साधन बन जाती है। अधिकांश समस्या उन्हीं लोगों की होती है जो ससार में तो बड़ी हानि कर सकते हैं और न बहुत बड़ा लाभ पहुँचाते हैं। जो सचमुच बहुत बड़ी क्षति पहुँचाते हैं वे अपने दान तत्त्व की कुटिलता के कारण ही ऐसा किया करते हैं। मनुष्य-स्वभाव में मूलतः श्रेष्ठ वस्तु यही दशानतत्त्व है। मानव जाति के हित की दृष्टि से इस नागरिकी शक्ति बनने से बचना चाहिये और मनुष्य के कल्याण में इस उपयोगी बनाना चाहिये। कलात्मक प्रवृत्ति तथा युद्धात्मक प्रवृत्ति को आत्म राज्य की सेवा में रखने का प्रयास किया जा चुका है। इनसे भी अधिकांश गतिशील और सम्भावना पूर्ण विचार बल को भी हम राज्य के उत्थान का अनुसर बनाय। (आ) क्षति ही नहीं दशानतत्त्व मनुष्य के अन्तर में बस अध्यात्मतत्त्व की प्रतिध्वनि है। दशान की अधीनता में जो शासन चलता है, उसकी कल्पना का उन्नाहरण मध्ययुग और आधुनिक समय में आध्यात्मिक राज्य के विचार से मेल पाता है। इसकी मानसिक हृदयरसा विभिन्न अर्थों में अनेक देखासकी बनाते रहते हैं। इस प्रकार के बौद्धिक प्रयोग का श्रेष्ठ परिणाम मध्ययुगीन ब्योलिक चर्च में मिलता है और सत्रहवीं सदी के इंग्लैण्ड में भी बहुतरे विचारक इसी प्रकार के राज्य का सफल लिए बैठे थे जिसका शासन धर्म के हाथ में पूरी तरह रहेगा।

राज्य की यथाय कल्पना अनेक परिणामों का सूत्रपात कर सकती है परन्तु प्लेटो जिस प्रकार के साम्यवाद का निरूपण करता है वह उनमें से बिल्कुल निराला है। इस मामले में हम गलत न समझ बैठ कि प्लेटो के साम्यवाद का आशय व्यक्ति स्वातन्त्र्य का हनन है। हम देख चुके हैं कि जनमण्डल का सही अर्थ में जो कल्पना निहित है उसका सहज और अनिवार्य परिणाम प्लेटो को यही जान पड़ता है कि जन या व्यक्ति अपने ही जैसे जना में बने मण्डल में या परिधि में समानता का जीवन पूर्णरूप से बिताकर बढ़ता चले। उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इस प्रकार की जीवन प्रणाली में व्यक्ति को जन मण्डल के लिए अपना अस्तित्व खपा देना चाहिये। इसके विपरीत जब प्लेटो जनमण्डल के हित में श्रेष्ठ यागदान करने का आग्रह करता है तब व्यक्तिजन को वह नगण्य नहीं करना चाहता बरन वह उसकी सामर्थ्य के उत्कृष्ट सहकार की आशा व्यक्त करता है। प्रत्येक व्यक्तिजन का उत्पत्तिकोटी का जीवन वही है

जिसमें अधिक स अधिक व्यक्तियों का निश्चित भाग रहे और निकृष्ट जीवन वह है जिसमें ग़ुनतम मनुष्य हाथ बँटा सके ।

साम्यवाद की हिमायत के बहूतरे अलग अलग दृष्टिकोण हैं । प्लेटो जिस साम्यवाद का पक्ष पोषण करता है उसमें वर्तमान शक्ती व साम्यवाद का गायद कोई लक्षण नहीं है । दरिद्रता की बुराईया के कारण उसका साम्यवाद जन्म नहीं नेता राज्य के केवल उन्नततम वर्गों के हितार्थ ही उसका प्रयोग होगा । साम्यवाद की सभी प्रणालियाँ म एक लक्षण समान हैं, मनुष्य जीवन के समस्त अवस्था आर्थिक भाग का नियमन करके बलिष्ठ बुराईयो का निवारण करना प्रायः सभी का एकमात्र उद्देश्य है । प्लेटो साम्यवाद को एक ग़ूरक व्यवस्था मानता है जो शिक्षाजनिक बौद्धिक गुण को सफल और सबल बनाने में सहायक होगी । जब मनुष्य का अन्तःकरण समुचित दगा में नहीं रहता तब कानूनी व्यवस्था प्रायः निरर्थक हो जाती है और इस बात का प्लेटो स अधिक दृष्टापूर्वक विमो ने नहीं कहा । परन्तु वह इसे सक्षमगत् आवश्यकता मानता है कि जीवन की बाह्यरी व्यवस्था इस प्रकार नियोजित होनी चाहिये जिसमें जनता की नतिक शिक्षा में उसका भरपूर लाभ मिल सके । पिछले अध्याय में प्लेटो जिस ढंग में सोचता आया है उससे विदित है कि इस नतिक शिक्षा की सम्पत्ति व निमित्त परिवार प्रणाली की समाप्ति अत्यधिक वांछनीय है । प्लेटो कलाओं का विवरण इस प्रकार करता है कि उसके फलस्वरूप मानव जीवन स कला सधवा नि रोप हो जायगी यद्यपि स्वयं वह कला के प्रति सम्बन्धनशील है । वह असमजस में है, एक ओर वह मानता है कि कला मनुष्य के विकास का उपयोगी साधन है और दूसरी ओर के अनिष्ट उसका ध्यान खींचते हैं जो कला के कारण आचरण में उतर आते हैं । इस अनिष्ट द्वय का फल यह होता है कि कला को नियमबद्ध करने में ही वह मसाल में उपादेय बनायी जा सकती है । सम्पत्ति तथा परिवार सम्बन्धी विषया पर भी इसी ढंग से विचार किया गया है । वह मानता है कि मनुष्य तैस जसे समुक्त जीवन में अग्रसर होगा सभी माना में उसका आचरण उच्चकोटि की ओर बढ़ता जायगा । फलतः इन समस्याओं के कारण जो अनुभ व्यापार मनुष्य में घिर आते हैं उनकी पतीति मनुष्य को होरे लगती है । तब इह वह स्वाधपरता व अभेद्य दुग समनता है । नि स गैह इन दोनों समस्याओं का अतिस्वाध का मूल कारण भने न माना जाय परन्तु इनमें स्वाधपरता का अत्यंत घातक स्वरूप प्रकट होता है । इसी तथ्य से यह सिद्ध होता है कि सम्मिश्रित जीवा को मूलरूप दन व लिए हम इन समस्याओं की ओर स्वाधपरता के दूसरे सहायक प्रलाभन को काटदटि

कर उपाय बना लेना चाहिये। सामाजिक सुधार के उत्कृष्ट समर्थक के नाते प्लेटो सभी घुन में यह बात निश्चिता है।

अतः रिपब्लिक का इस भाग में दा विनिष्ट विचार इकट्ठे हो गये हैं। उत्कृष्ट जीवन ही समुक्त जीवन है और आत्मविमर्जन में ही मनुष्य को आत्मबोध होना है। हमारे मनुष्य उन सारे प्रलोभना से बचि कर लिया जाये जा उच्च जीवन की गति में योग्य मानते हैं। दूसरा विचार हमारा अधिष्ठाता रहेगा। ऐसा लगता है कि दो विपरीत भाव मत रूप से समाज में सघर्ष करते जा रहे हैं। एक का नमूना प्लेटो है और उसका मतलब यह है कि यदि ज्ञान वस्तुस्थिति को स्पष्टतया व्यक्त करना है तो अगुम के सभी अवसर मिलना चाहिये। दूसरा यह है कि मानव जीवन का श्रेष्ठ उपलब्धि अगुम के अवसर से उसकी वचित करने से नहीं होगी बल्कि ज्ञान मिद्धात के निमित्त मनुष्य जीवन की प्रत्येक वस्तु के समर्पण से हो सकती है। हम इसका जा भी अर्थ समझें—यह अलग बात है। माट तीर पर हमारे भाव का प्रतिपादक अगुम है। लेकिन इसे आदर्शवाद का प्रतिद्वंद्वी नहीं कहा जा सकता। अरस्तू ने मानव जीवन के आदर्श की जा कल्पना की थी वह प्लेटो की धारणा से कहा बड़ी है। मानव जीवन की प्रत्येक वस्तु को उच्चतम प्राप्ति के निमित्त समर्पित कर देने का मिद्धात व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता। यह बहुत सरलता से अगुम के साथ समझौता करने का तरीका बन सकता है। फिर भी इस जीवन की उत्तम आत्मा कल्पना माननी चाहिये। प्लेटो के मतवाद की तुलना ईसाई ढंग के मर्यादा की कल्पना से की जा सकती है अर्थात् जा प्रलोभन मनुष्य की ईश्वर भक्ति में बाधा डाल सकता है उनसे बचकर चलने से ही ईश्वर परायणता सम्भव है। अतएव कभी कभी इसका भी कहा जा सकता है कि मनुष्य को इस ससार के भीतर जल में कमल के समान रहना चाहिये। जो लोग इस विषय में हैं वे कहेंगे कि ईश्वर सदा हँसी खेल नहीं है बहुत ही कठोर साधना है। यह तो मानना पड़ेगा कि ईश्वर भक्ति अत्यधिक दुस्तर बाय है। ससार में फसे मनुष्य का आचरण भी यही मिद्ध करता है कि ईसाई ढंग का वातप्रस्थ जीवन कहा अधिक वाछनीय है क्योंकि सासारिक परिस्थितियों का उपयोग करके ईश्वर भक्ति करना सम्भव नहीं है। महापुरुषों को कभी कभी यह विचारणीय लगा है कि अधिकांश मनुष्य जिस साधारण परिधि में घिरे रहते हैं वे उसका अत्यधिक दुरुपयोग करते हैं। साथ ही यह विचार भी उन्हें महत्वपूर्ण लगता है कि इस विषम स्थिति के सुधार का एकमात्र उपाय उससे पराजित में नहीं करने उसका यथाशक्ति सदुपयोग में है।

१ इस अध्याय के दूसरे कई खण्डों की ओर ध्यान देने पर स्पष्ट होता है कि पहले पन्टो शिक्षा के विषय में चर्चा करता है। प्रश्न यह है कि स्त्री और पुरुष की शिक्षा क्वि व विषय समान होना चाहिये अथवा नहीं। पन्टो कुछ में यही सिद्धांत प्रस्तुत करता है कि जनमण्डल में नारी जिन कृत्या व निर्वह के योग्य है उसी के अनुसार इस विषय का नियम किया जाना चाहिये। गायक की अभिभावक नाम में सम्बोधित करने का कारण उस प्रहरी—श्वेत की उपमा प्राप्त होती है। (और नारी शिक्षा से उसका प्रयोजन केवल शासनवर्ग की स्त्रियों से है।) कुत्त की पहरेदार का काम सीमित समय यह भेद नहीं किया जाता कि वह नर है या माता। तब क्या मानव प्राणी को प्रहरी की जिम्मेदारी देने में ऐसा भेद युक्तिमग्न होगा? यदि भेद अनावश्यक है तो पुरुष के समान स्त्रियाँ भी राज्य सेवा का प्रशिक्षण देना चाहिये। सम्भव है कुछ भ्रष्ट अटपटे और विविध परिणाम दिखायी दें परन्तु इस ध्यान से योग्य नहीं समझना चाहिये। प्रत्येक बात का एक ही मानदण्ड है कि जनमण्डल का वर्णन होता है या नहीं। रिपब्लिक का आरम्भ से अतः तक यही नियम सब कार्यों या विचारों की कसौटी है। इस दृष्टि में पन्टा उत्कट उपयोगितावादी है कि वह जनमण्डल का हित का सर्वोपरि सिद्धांत मानता है और इस परिच्छेद में उसके उपयोगितावाद की तीव्रतम अभिव्यक्ति हुई है।

इस सिद्धांत का मानकर हम पहले यह जान लेना चाहिये कि एक ही प्रकार के काम में स्त्री और पुरुष समान रूप में भाग ले सकते हैं अथवा नहीं। यदि यह सम्भव है तो पन्टो इस निष्कर्ष का लोपपुस्त मानता है। कहा ऐसा न हो कि वह अपनी बात को स्वयं सिद्धांत कहता हुआ दिखायी देव क्योंकि अभी तक वह राज्य में कार्यों की योग्यतानुसार विभिन्नता पर बल देता आया है और उस नियम का उत्पत्ति ही नारी सुरादया की ओर है—यह मानता रहा है। पन्टो कहता है कि स्त्री पुरुष के भेद का तकसमन नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह कवन सतही भेद है। यह शारीरिक तब की कृता का नमूना भर है, युक्ति बल इसमें नहीं है। शब्द से चिपककर सोचने में हममें शब्दगुण हृदय दिखायी देती है परन्तु सपाय भिन्नता पर ध्यान देने जाना। पुरुष और स्त्री में भिन्नता है और इसीलिए उनका सावजनिक कृत्य भी भिन्न होना चाहिये—यह इसी तरह का कथन होगा कि सम्भवतः पुरुष और गज आदमी जुड़ जुड़ हैं और इसी कारण दोनों को जूल बनाने का काम नहीं दिया जा सकता। अमल में भेद शब्द प्रशस्त और अनिश्चित अवधारणा है प्रस्तुत प्रश्न का मुद्दा यह नहीं है कि स्त्री पुरुष में

भिन्नता या भेद है किम खास बात या उनमें अंतर है—यह अधिक विचारणीय है और क्या इस भेद में उनके लिए निश्चित विये जानवाले वस्तुव्य की योग्यता प्रभावित होगी है ? यही सव्यग्न प्रश्न है । प्लेटो पूछता है क्या प्रकृति न पुरुष को पुरुष मानकर और स्त्री को स्त्री मानकर उन्हें अलग-अलग तरह की योग्यता प्रदान करी है ? बदावि नहीं—प्लेटो उत्तर देता है । सामान्य मनुष्य नारी की अपेक्षा प्रत्येक व्यवहार में महज श्रेष्ठ है सामान्य विगिष्टता उसका पक्ष में है कि तु निश्चित गुणा की स्वाभाविक दान एक में भा नहीं है । यदि यह ठीक है तो स्त्री स्त्री के बीच स्वाभाविक गुणयुक्तता के विये ही अनेक रूप होना चाहिये जस मनुष्य मनुष्य के बीच दिव्यायी देगे । बुद्ध स्त्रिया में दशान विषयक सामर्थ्य विशेष रूप से हावी है बुद्ध में बुद्ध सम्बन्धी और इसी प्रकार अयाय रुचियाँ । अतएव वस्तुस्थिति प्रवर्तित के विपरीत नहीं उसका अनुकूल ही है जबकि विद्यमान परिस्थितिया अप्राकृतिक हैं ।

तो नारीशिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव कहा तक सम्भव है—उस हम दल चुके हैं । जब उसकी वांछनीयता अथवा कालोपयुक्तता के पक्ष में प्लेटो का तर्क यह है कि राज्य के पुरुषों और नारियों दाना का उसका उत्पत्ति में यथाशक्ति समर्थ होना चाहिये । यदि शिक्षा की निश्चित प्रणाली सदाचारी पुरुष का निर्माण कर सकती है तो इसी से सदाचारिणी नारी भी बन सकती है । इसलिए गामकवग के लिए जिस अध्ययन और विशेष रुचिया का पाठ्यक्रम रखा गया है स्त्रिया को भी उसके अनुसरण का लाभ मिलना चाहिये । इस प्रसंग में प्लेटो ने जिस सिद्धांत से चर्चा शुरू की थी वह फिर उसे दोहराता है जिससे शुभ या कल्याण की उपलब्धि हो वही सुख है केवल वही वस्तु असुख या अभद्र है जिससे क्षति अथवा अपकार हो ।

इस चर्चा में स्त्रियों के अधिकार का विचार किया गया है परन्तु उसके आधुनिक स्वरूप का लक्ष्यमान भी समावेश नहीं है । जनमण्डल के प्रति स्त्रियों के जो वक्तव्य होना चाहिये, केवल उसी दृष्टि से इस बात का महत्त्व है । स्त्री वग के साथ अयाय किया गया है इसलिए प्लेटो उनकी शिक्षा का प्रस्ताव नहीं करता । उनकी दृष्टि में जनमण्डल का हित सर्वोपरि है और स्त्रिया की शिक्षा उन्हें इसी हित में समर्थ बनाने के लिए है । कौन जाने एथेसवामी स्त्री शिक्षा के प्रस्ताव को नारी समाज के लिए हितकारी मानता था या नहीं । अधिक सम्भव यही है कि उसकी दृष्टि में स्त्री की प्रतिष्ठा उस जहाँ का तहाँ बनाय रखने में है अथवा वह बड़े झझट में पड़ सकती है । प्लेटो की इस मायता का स्पष्टन

नहीं किया जा सकता कि जनमण्डल के मुख गन्ताव के समान अब कोई विषय महत्वपूर्ण नहीं है। जिन प्लेटो जनमण्डल का बन्धन मानता है उन बहुमन्यव मनुष्य स्वीकार कर देंगे। यह मानन य भी किसी को अडबल नहीं है कि जनमण्डल में जिनको अधिक प्रबल सहयोग भावना होगी और प्रत्येकजन जिनका अधिक योगदान करेगा उतना ही जनमण्डल का मुख मन्तोप बढ़ेगा। प्रश्न यह है कि स्त्री शिक्षा के द्वारा जनमण्डल के अष्टहिंसी बन्धन का गावार करने का उत्तम उपाय क्या है। स्त्री और पुरुष का सावजनिक सम्बन्ध के बाय में जिन दृश में सम्योग करना चाहिये वह प्लेटो की अपेक्षाकृत सकीण दृष्टि का दानक है। उमक अनुसार सन्ध्यात्मक शासनिक और मन्ता विषयक बाय ही प्रमुख सावजनिक वस्तु है। किन्तु यह बात अथ स्पष्ट कर दनी चाहिये कि मन्ता सम्बन्ध अथवा सन्ध्या के अतिरिक्त हजारों रीतियाँ स समाज की सेवा में योग दिया जा सकता है। हम यह समझना होगा कि प्लेटो के सिद्धान्त और हमारे विविष्ट प्रयोग में जो अन्तर है वह बहुत कुछ तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम है। निर्विवाद सत्य है कि स्त्रियाँ और पुरुषों में जिनका अधिक सहयोग होगा उतना ही अधिक मुख मन्तोप बढ़ेगा। परन्तु हम सिद्धान्त के प्रयोग करने के विषय में स्वयं प्लेटो ने इसकी आलाचना का मार्ग सुझाया है। हम उसका निष्कर्ष का पण्डित सिफ इतना कहकर नहीं कर सकते कि पुरुष और स्त्री भिन्न हैं हम पूरी तरह इस प्रश्न का समाधान करना पड़ेगा कि उनकी भिन्नता के पहलू कौन-से हैं। इस प्रश्न पर विचार करते हुए अरस्तू इस सिद्धान्त में आरम्भ करता है कि स्त्री और पुरुष के बीच का अन्तर या भेद है वह मूलतः उनके सामाजिक वस्तुओं पर प्रभाव डालता है। उन्हें समान बाय कदापि नहीं करना चाहिये, एक का दूसरे के वस्तुओं में पूरक होना चाहिये। इस दृष्टि से शुद्ध पद्युआ से तुलना करने प्लेटो का दान रखना चाहना है उसका कोई तथ्य प्रकट नहीं होना। मान भी लें कि कुछ दास पद्युआ के नर और मादा के चरित्र में बहुत बड़ी भिन्नता नहीं दिखायी देती तो इसका मुख्य कारण यह है कि वे मनुष्य के समान उच्चवर्ग की विकसित अवस्था में नहीं पहुँच सके। मनुष्य सर्वोपरि विकसित प्राणी है इसी कारण उसके जीवन भेदभाव भी चरम धेनो के हैं।

२ इस तत्त्वपद्धति की दूसरी 'तरंग' का विषय परिवार प्रथा को शासकवर्ग के लिए समाप्त करना है। उमक स्थान पर राज्य-परिवार का गठन किया जाना चाहिये जिसके द्वारा राज्य का सबसे महत्वपूर्ण जनसमुदाय एक महान्

मिनता या भेद है किम खास बात का उनमें अंतर है—यह अधिक विचारणीय है और क्या इस भेद में उनके लिए निश्चित दिये जानेवाले कत्तय की योग्यता प्रभावित होती है ? यही तथ्यगत प्रश्न है । प्लेटो पूछता है क्या प्रकृति ने पुरुष को पुरुष मानकर और स्त्री को स्त्री मानकर उन्हें अलग-अलग तरह की योग्यता प्रदान की है ? कदापि नहीं—प्लेटो उत्तर देता है । सामान्य मनुष्य नारी की अपेक्षा प्रत्यक्ष व्यवहार में सहज श्रेष्ठ है सामान्य विनिष्कृता उसका पक्ष में है किन्तु निश्चित गुणा की स्वाभाविक दान एक में भी नहीं है । यदि यह ठीक है तो स्त्री स्त्री के बीच स्वाभाविक गुणयुक्तता के वस ही अनेक रूप होना चाहिये अतः मनुष्य मनुष्य के बीच दिखायी देंगे । कुछ स्त्रियां भ्रम दशन विषयक सामान्य विशेष रूप से हाती हैं कुछ में युद्ध सम्बन्धी और इसी प्रकार अन्धाय रचियाँ । अतएव वस्तुस्थिति प्रकृति के विपरीत नहीं उसके अनुकूल ही है जबकि विद्यमान परिस्थितियां अप्राकृतिक हैं ।

तो नारीशिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव कहा तक सम्भव है—उस हम देख चुके हैं । अब उसकी वाद्नीयता अथवा कालोपयुक्तता के पक्ष में प्लेटो का तर्क यह है कि राज्य के पुरुषों और नारियों दोनों को उसकी उन्नति में यथाशक्ति समय होना चाहिये । यदि शिक्षा की निश्चित प्रणाली सदाचारी पुरुष का निमाण कर सकती है तो इसी से सदाचारिणी नारी भी बन सकती है । इसलिए शासकवर्ग के लिए जिस अध्ययन और विद्वेप रचियों का पाठ्यक्रम रखा गया है स्त्रियां को भी उसके अनुसरण का लाभ मिलना चाहिये । इस प्रसंग में प्लेटो ने जिन सिद्धांत से चर्चा शुरू की थी वह फिर उसे दोहराता है जिससे गुम या कल्याण की उपलब्धि हो रही सुन्दर है केवल वही वस्तु अगुन्दर या अभद्र है जिससे क्षति अथवा अपचार हो ।

इस चर्चा में स्त्रियां के अधिकार का विचार किया गया है परन्तु उसका आधुनिक स्वरूप का लेशमात्र भी समावेश नहीं है । जनमण्डल के प्रति स्त्रियों के जो कत्तव्य होना चाहिये केवल उसी दृष्टि से इस बात का महत्त्व है । स्त्री वर्ग के साथ अन्धाय किया गया है इसलिए प्लेटो उनकी शिक्षा का प्रस्ताव नहीं करता । उनकी दृष्टि में जनमण्डल का हित सर्वोपरि है और स्त्रियां की शिक्षा उन्हें इसी हित में समय बनाने के लिए है । कौन जाने एथेनवासी स्त्री शिक्षा के प्रस्ताव को नारी समाज के लिए हितकारी मानता था या नहीं । अधिक सम्भव यही है कि उसकी दृष्टि में स्त्री की प्रतिष्ठा उसे अहाँ का तहाँ बनाय रखने में है अथवा वह बड़े क्षण में पड़ सकती है । प्लेटो की इस मान्यता का सण्डन

नहीं किया जा सकता कि जनमण्डल के मुख्य उपाय के समान आप वार्ड विषय महत्वपूर्ण नहीं है। जिस प्लेटो जनमण्डल का कल्याण मानता है उसे बहुसंख्यक मनुष्य स्वीकार कर लगे। यह मानने में भी किसी को अडचन नहीं है कि जनमण्डल में जितनी अधिक प्रबल सहयोग भावना होगी और प्रत्येकजन जितना अधिक योगदान करेगा, उतना ही जनमण्डल का मुख्य मतोप बढ़ेगा। प्रश्न यह है कि स्त्री शिष्टा के द्वारा जनमण्डल के श्रेष्ठतम की कल्पना को साकार करने का उत्तम उपाय क्या है। स्त्री और पुरुष का सावजनिक कल्याण का वाय में जिस ढंग में सहयोग करना चाहिये वह प्लेटो की अपेक्षाकृत सखीण दृष्टि का द्योतक है। उसके अनुसार मन्त्रणात्मक शासनिक और सना विषयक वाय ही प्रमुख सावजनिक वस्तु हैं। किन्तु यह बात अब स्पष्ट करनी चाहिये कि समस्त सदस्य अथवा सैनिक का अनिरिक्त हजारा रीनिया से समाज की सेवा में योग दिया जा सकता है। हम यह समझना होगा कि प्लेटो के सिद्धान्त और उनके विशिष्ट प्रयोग में जो अन्तर है वह बहुत कुछ तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम है। निर्विवाद सत्य है कि स्त्रियाँ और पुरुषों में जितना अधिक सहयोग होगा उतना ही अधिक मुख्य मन्त्रण बढ़ेगा। परन्तु इस सिद्धान्त के प्रयोग करने के विषय में स्वयं प्लेटो ने अपनी आलाचना का मार्ग सुझाया है। हम उसके निष्कर्ष का अर्थ सिर्फ इतना कहकर नहीं कर सकते कि पुरुष और स्त्री भिन्न हैं हम पूरी तरह इस प्रश्न का समाधान करना पड़ेगा कि उनकी भिन्नता के पहलू कौन-से हैं। इस प्रश्न पर विचार करते हुए अरस्तू इस सिद्धान्त से आरम्भ करता है कि स्त्री और पुरुष का बीच का अन्तर या भेद है वह मूलतः उनके सामाजिक वस्तुओं पर प्रभाव डालता है। उन्हें समान कार्य कदापि नहीं करना चाहिये, एक को दूसरे के वस्तुओं में पूरक होना चाहिये। इस दृष्टि से धृष्ट पशुओं से तुलना करके प्लेटो जो बात रखना चाहता है उससे कोई तथ्य प्रकट नहीं होता। मान लें कि कुछ गाय पशुओं के नर और मादा के चरित्र में बहुत बड़ी भिन्नता नहीं दिग्यायी देती तो इसका मुख्य कारण यह है कि वे मनुष्य के समान उच्चजाति की विकसित अवस्था में नहीं पहुँच सके। मनुष्य सर्वोपरि विकसित प्राणी है इसी कारण उसके यौवन भेदभाज भी चरम श्रेणी के हैं।

२ हम तबपद्धति की दूसरी 'तरंग' का विषय परिवार प्रथा को ग्रासकवण के लिए समाप्त करना है। उसके स्थान पर राज्य-परिवार का गठन किया जाना चाहिये जिसके द्वारा राज्य का सबसे महत्वपूर्ण जनसमुदाय एक महान्

कृत्य म परिणत हो जायगा । प्रायः हर बात यही जाना है कि प्यटो क गितितिक मोर उत बादा-रिग करी की व्यवस्था म अमम्बडता रहती है । यही भी यमा हा है । उमया गितितिक मनुष्य की अस्थिम अभिमाया क बगबर है पन्तु उमक अनुमरण क लिए जो लग्न या अथवा यद गृहाणा है उमग गगता है कि धार गम्पता जितनी यदर था । फिर ना उमक कथा को हमो म नहीं उछाया जा सकता अथवा उमक प्रसार को अमम्बड बहुर गगन किया जा सकता है । भवे प्यटो गगत डग म माघ रहा है तो यगता सपाना हागा कि किस प्रकार गगती हुई है । उमने अता प्रगाव दा बाग्या पर भाषाति किया है । गहता आधार यह है कि जामण्य म गिगु ज म का गगता निर्धारित करत हनु एक प्रणाती हा ना दमग ना अधिग मरवपुण बाध गिगु गगोपत का भार गजग रह । हमरा आधार यह है कि जनमण्डल म विविध प्रकार की स्वायत्तरता कम करके उमक आत्मबल की वृद्धि की जाय क्यारि प्यटो क विचार म विद्यमान कृत्य प्रया क बाग्य अथवा उमग सम्बड हान म आत्मण्डल म स्वायत्तरता का बाग्य हाता है ।

(अ) यह धुन पगुभी क गाथ मितार करव अथवा दान ना आरम्भ करता है । उम कोई उचित कारण नी गिगाथो गता त्रिगवे अनुगाग हम घरनू जान करा क पाता पापण जगा गावधाना मनुष्य गगता का गगता म ग गगे । यति पातनू पगु की नहा और विवाग महत्वपुण है तो उमग कही अधिर महत्वपुण मनुष्यजाति प्राजिदा का पागा होना चाहिये । हमी उद्दय म प्यटो एक प्रगता प्रणाती का विवरण करता है त्रिगव द्वारा शासकवग की गगता का जम और सगान गाय तिया त्रिगव रह और यगानिग सिद्धांतो क अनुमरण ता उस त्रिगमित किया जाय । आधुनिक समय म अनर विद्वान् प्यटो क इसी विचार के समान इस प्रग पर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर रहे हैं । यह बात स्वयमिद्ध है कि जामण्य के गगत्यगण त्रिग परिस्थितियो म जम मते हैं व अत्यधिक महत्वपुण है और इस साधारण सत्य की अयचना क परिणाम बहुत व्यापक रूप म मानव है । सजिन समस्या यह है कि पुग्य तथा स्त्री की मान तित रचना का ध्या म गगबर यही सब विवाग की नियमबद्ध किया जा सकता है ? प्यटो यह स्वीकार करता है कि द्यन का याजनावद्ध प्रणाती क रूप म परिणत करव ही इस कियार्थित करना सम्भव है अथवा यह व्यवस्था त्रिगऊ नहीं होगी । पर तु जिन सोभा का दम निय त्रणउड व्यवस्था म रहता पडगा इसवे विपक्ष म उावे कारण सचमुच युक्तिपुण हैं । यह कभी सम्भव नहीं है कि

शेष सभी लोगों के अनिश्चित युद्ध परमप्रवीण मनुष्य विनी भी ज्ञानमय म
मिन जायें जिन पर यह विश्वास किया जा सके कि वे सचमुच इस प्रणाली के
कुशलतापूर्वक संचालन में दूसरा के जीवन का नियमबद्ध करने में सफल हो
सकेंगे। फिर इस दम में मनुष्यसमूह का नियम में जड़ता वह मनुष्य
व्यवहार के योग्य मानता है उनके विचारशीलत्व की अवगाह है। इसी को हमारे
दम से कहा जा सकता है परन्तु पशुआ का पालन निश्चित उद्देश्य की पूर्ति में
किया जाता है। मल पालन की व्यवस्था उन पशुआ के लिए बहुत अधिक हिता
कर न हो परन्तु उसका अस्तित्व मनुष्य के गुण सन्तोष की दृष्टि से ही साधक
होता है। अभी पद्धति का मनुष्य समाज के लिए उपयोगी समझने का आगम
यह हो जाता है कि कुछ छोटे से छोटे छोटे सभी व्यक्तियों के अर्थात् बहुसंख्यक
मनुष्यों के जीवन का साम्य निश्चित करने के अग्रिमो मान लिये गये हैं।
दासता को मानवता के प्रति अपमान दुष्टत्व माना गया है क्योंकि गुनामी में
मनुष्य के साम्य मनुष्य के समाज व्यवहार किया जाता है, अपने जीवन की
गतिविधि तय करने के उसके अधिकार की अवहत्या की जाती है। योजनाबद्ध
प्रणाली से गुनामी को पदा करता तो इस महित दुष्टत्व की परम सीमा हो
जायगा। जिन पद्धति से मनुष्य ज्ञान का एक समूह इतना सत्ताधिकार-सम्पन्न
कर दिया जाये कि वह दोष विनाश समूह का जीवन नियमित करने लगे, तो
उस गुनामी प्रथा जैसा ही असम्य अपराध माना जायगा।

(का) अपनी योजना के समर्थन में प्लेटो जो दूसरा तक प्रस्तुत करता है
उस पहले की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझता चाहिये। इस तत्त्वपद्धति में
प्लेटो ने नागरिक और राज्य के सम्बन्ध की अपनी कल्पना को अत्यन्त प्रभावी
रूप से निरूपित किया है। प्रायः कहा जाता है कि इस और इसके पूर्व के तक
का मूलनोप व्यक्तित्व की उपगा है अथवा वह समवाय (जनमण्डल) के नाम पर
व्यक्ति के अधिकारों का निदान है। किन्तु इन गणों में भी शायद का यथाय
सकते नहीं मिनता या इनमें प्लेटो के युग से आज तक जो प्रगति हुई है उसका
समुचित विचार प्रकट नहीं होता। हम और प्लेटो नगमय समानरूपेण अभी
तक यह मानने को तैयार नहीं हो सके हैं कि व्यक्ति को स्वयं अपने और अपनी
सम्पत्ति के विषय में स्वच्छानुसार कुछ भी करने का अधिकार है अथवा अपनी
सत्तान के निमित्त उसका यह हक है कि वह समवाय (जनमण्डल) के हिता को
तिलाजलि दे दे। व्यक्ति का प्रत्येक अधिकार दूसरा की स्वीकृति पर निर्भर है
और कुछ शर्तों के कारण उपभोग्य है। हम यह मानना चाहेंगे कि व्यक्तित्व तथा

जनमण्डल में परस्पर अथ विरोध नहीं है जसा व्यक्तित्व और जनमण्डल से ध्वनित होता है। इस प्रतिकूलता में जो व्यपश्य जान पड़ता है वास्तव में वह व्यक्तित्व का भिन्न रूपों की विषमता है। अथवा मनुष्य जितने व्यापक लक्ष्य या सीमित लक्ष्य के साथ अपना सादात्म्य मानता है वही उसने व्यक्तित्व का विभेद है। उलटकर वह तो कोई जनमण्डल ऐसा नहीं हो सकता जो व्यक्ति-समूह का जनमण्डल न हो अथवा उसने स्त्री पुंग्व सम्मिलित जीवन या हित के बराबर भागादार न हो। सम्मिलित जीवन में या हित में हाथ बटाने का कारण व्यक्तित्व का यथाथ रूप में किसी प्रकार की युनता नहीं आती। यदि जनसेवक यथाशक्ति जनसेवा में अनुरक्त रहता है तो हम वाय में उसके व्यक्तित्व पर कोई आँच नहीं आती। नितान्त कृपण का समान वह अपने आपको निर्धारित कृतव्य में समर्पित करता है। यहाँ तक कि जब मनुष्य अपना व्यक्तिगत सत्ता को सम्मिलित हित में पूर्णरूपेण डुबा देता है और उस दूसरे के हेतु जीवित माना जाता है तब भी वह अपना व्यक्तित्व खो नहीं देता। एक मनुष्य का व्यक्तित्व विनाश हो जाता है। इस अभिप्राय में प्लेटो व्यक्तित्व का उन्मूलन अथवा नाश की कल्पना नहीं करता प्रत्युत वह संयुक्त हित की भावना से व्यक्तित्व का यथा सम्भव धरम उत्कर्ष का विचार प्रस्तुत करता है।

इस प्रसंग में दो प्रचलित वक्तव्यों का अभिप्राय जान लेना लाभकारी होगा संयुक्त हित भावना तथा यह लोकोक्ति कि संस्थान विवेकहीन होना हैं जो संयुक्त हित भावना में निहित हमारे प्रयाजना का खण्डन करती जान पड़ती हैं। संयुक्त हित भावना का आशय यह है कि व्यक्तिजन में एक सम्बेदन की अनुभूति है जो उस यशीभूत कर लेती है। सना का एक सनिक जब उसके अभीष्ट से उत्तेजित होता है तो उस यह नहीं लगता कि यह उत्तेजना कोई विजातीय आवेग है। हम जानते हैं कि इस उत्तेजना के प्रभाव में रहकर कभी-कभी मनुष्य ऐसे काम कर दिखाता है जो हमका अभाव में उससे अपेक्षित नहीं थे किन्तु जब वह इस आश्चर्यकारक कृतृत्व का परिचय देता है तब उसके व्यक्तित्व की रचनाशक्ति नहीं होती। प्लेटो इसी बात को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करके चलता है। वस्तुतः वह कहता है कि यदि प्रत्येक मनुष्य निरंतर उसी भावावग में बना रहे जिससे प्रचलित राष्ट्रीय स्वयं में सभी मनुष्य आकाशित हुआ करते हैं तो मानव जीवन का आदर्श सुलभ हो जायगा। हम कहें कि यह असम्भव है पर तु प्रत्येक आदमी ऐसा ही है। फिर भी इसी कारण से आदर्श की श्रुति कदापि कम नहीं होती। अस्तु का मत है कि कुटुम्ब की भग करके उस बड़ पमाने पर फिर संगठित

करने का प्लेटो की योजना निरिष्ट ध्येय की प्रति कल्पि नहीं कर सकती। वह यथाय कीटुम्बिक भावना का निर्माण इसने बड़े पमाने पर नहीं करगी। जनमण्डल के सदस्या में परिवार प्रेम एक स्वाग मा रहेगा। इस आलोचना में काफी सार्थक है। यही उन अनव विचारों का स्मरण दिलाती है जिनका बल पर लोग सस्याना की विवेकहीन कहन को साधार हात हैं।

यह साररहित सत्य है कि जब बई मनुष्य एक साथ काम करते हैं तब उनका दायित्वबोध उत्कट होने के बजाय बहुधा नि सख हा जाता है। सनि इन दगा में भी दूगरा व साथ कामरत हान व कारण आदमी व व्यक्तित्व का नाग नहीं होगा। असल में इस प्रकार उस एक नप व्यक्तित्व का आभास मिल जाया करता है। कल्पना की दृष्टि में साधारण व्यक्तित्व में यह नया व्यक्तित्व घटिया सगता है जबकि पहले व प्रसगा में घणित व्यक्तित्व श्रमस्वर जान पड़ता है। 'मस्यान विवकहीन होते हैं' और 'गवका काम किसी का काम नहीं रहता' जैसे कथन एक महत्वपूर्ण तथ्य को सम्भुन रखन हैं। मनुष्य स्वभाव एक सीमा में बंधा होने व कारण घास्तव में उमी व भीतर सम्मिलित जीवन बिता सकता है। इतना ही नहीं यदि इस निगा में मानव प्रकृति पर अनावश्यक दयाव डाना जाये तो मचमुच एक हद तक यह समुक्त जीवन का निर्वाह तो कर लेगा किंतु इसके पनम्बरूप व्यक्तित्व विकास की उच्चता सा जायगी। जब यह कहा जाता है कि प्लेटो व्यक्ति क अधिकारा का अरपा करता है तो असल घात यह है कि यह सत्य के इस आध भाग को दृढ़तापूर्वक ग्रहण नहीं कर पाया।

अब हम इसी मतव्य को कुटुम्ब में प्रयुक्त करव देंगे। प्लेटो जिं बहुतरे दुष्टमों को कुटुम्ब व साथ सम्बद्ध करता है, नि सदेह के बहुत कुछ सच है। वह कुटुम्ब को नीच और शुद्र स्वाधता का कद्र मानता है। बहुधा ऐसा होता भी है। स्वजन पक्षपात का सारभूत प्रयोजन एक उदाहरण है। इतिहास साधी है कि उनके बड़े-बड़ कुत्सित कर्मों का मूत्रपात वशगत स्वाधों का परिणाम रहा है जो सचमुच बड़े पैमाने पर कुटुम्बगत हित ही है। कुटुम्ब सस्या व साम जुड़े हुए मामला से बढकर मनुष्य की स्वाधपरता का नम्र प्रदर्शन अ यत्र दग्ने नहीं मिलता। किंतु कुटुम्ब के अनिगित अयत्र कही भी स्वाध स्वाग व इतन गौरव शाली प्रमाण नहीं मिल सकत। जितने साराहनीय गरिमापूर्ण सत्यमों के उदाहरण मिलत हैं उनमें से अनव मनुष्य और नारी के प्रेम अथवा माता पिता तथा सस्यान के प्रेम के परिणाम हैं और इसी तरह नितात गहित आचरण भी इस कारण प्रयट हुआ है। सच सा यह है कि कुटुम्ब में ही मनुष्य के व्यक्तित्व का

परम उत्कृष्ट स्वप्न अपने आपमें प्रकाशित करता है चाहे वह शुभ हो अथवा अनुभूत । उस प्रकार वस्तुस्थिति स्पष्ट होने पर प्लेटो के प्रस्ताव में उत्पन्न समस्या यह है मानव स्वभाव में निश्चित मूलवर्तियाँ हैं जो जन्मजात हैं और उन्मूलन के पर हैं । इनमें स्वायत्तता और निस्वाय भाव की समान योग्यता निम्न है । ऐसी दशा में इनकी और इनके परस्परस्वरूप निमित्त समस्याओं की उत्तम प्रकार से नित्यवारी बनाने का क्या उपाय है ? प्लेटो के मतानुसार पहला तो इन मूलवर्तियों की ऐसे अवसरों से यथासम्भव दूर रहना चाहिये जिनके कारण वे स्वायत्तपरायण हो जाती हैं और दूसरा उन्हें ऐसी अनुकूल वातावरण में तथा व्यापक क्षेत्र में सुशिक्षित करना चाहिये ताकि उनमें निस्वायभाव कूट-कूट कर भर जाये । हमें बरबस कहना पड़ेगा कि दूसरी प्रक्रिया असम्भव है । यदि हम कार्यान्वित करने का यत्न भी किया जायगा तो उसका फल वही पनाला स्नेह होगा जिस अस्तित्व पहले बताया चुका है । उचित यही है कि जिन मूलवर्तियों में कुटुम्ब का निर्माण होता है उन्हें गलाकर किसी थोड़े साँचे में ढालने का यत्न न किया जाय, वे जसी हैं उन्हें उसी रूप में स्वीकार करके उत्तम लक्ष्य की दृष्टि से उनका सुशिक्षण तथा शिक्षा के लिए उपयोग किया जाय । राज्य की हम एक विराट कुटुम्ब नहीं बना सकते । परन्तु कुटुम्ब जीवन को हम इस तरह सुसंरक्षित अवश्य कर सकते हैं कि वह राज्य की सेवा में उत्तम साधन बन जाये । यह सम्भव है कि कुटुम्ब की संस्था में जीवन के आरम्भ में निस्वायता का ऐसा बीज बोया जा सकता है जो कुटुम्ब की सीमा से मरुचित न होकर वसुधैव कुटुम्बकम् में परिणत हो जाय ।

प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना में अस्तित्व का नित्य त स्पष्ट और व्यापक आशय यह है कि एकता के गुण की अतिरिक्तित्व स्वप्न ही प्लेटो की मौलिक धारणा है । इस आलोचना की ओर सही ढंग से या व्यक्त किया जा सकता है कि प्लेटो के मन में एकता की धारणा एकांगी और सदीप थी । उस ठीक तरह से यह भान ही नहीं हुआ कि मानव समाज में बबल भागात्वं के माध्यम से ही एकत्व की उपलब्धि हो सकती है । आदर्श राज्य वही कहला सकता है जिसमें व्यक्तिगत भिन्नता के लिए विनाश क्षेत्र खुला हो और इसके रहते हुए भी एकता का परम लाभ मिल सके ।

फिर से प्लेटो के इस प्रस्ताव पर विचार कर लेना चाहिये कि सन्तानोत्पत्ति मर्यादित की जाये । जिन बहुसंख्यक विद्वानों ने इस बात पर अध्ययन किया है वे प्लेटो के समान स्वीकार करते हैं कि सन्तानोत्पत्ति एक अत्यन्त महत्वपूर्ण

विषय है जो जामण्डल व वल्दाण में विचारणीय है। इसीलिए हम प्रक्रिया को तत्सम्वन्धी उत्तम गान से शासित करना जरूरी है। जनमण्डल व सभी सदस्य बहुनेरी दूसरी याना की अपेक्षा इस मामले में अपने दायित्व के प्रति अधिक सजग रहें। परन्तु प्लेटो अपने लक्ष्य की मिट्टि के लिए वर्णिय प्रगति और सचसत्ताधिकार सम्पन्न व्यक्तियों व हाथों में सत्तानोत्पत्ति का नियमन मौप देना चाहता है। इसमें विपरीत हम सब प्लेटो व उद्देश्य की पूर्ति का एक ही माग उचित समझते हैं। समूचे जनमण्डल में सत्तानोत्पत्ति से सम्बन्धित ज्ञान का प्रचार प्रसार किया जाना चाहिये। इसमें साथ जामानस में उस उत्तरदायित्व का समय बोध भी जगाना चाहिये जिसे प्लेटो कुछ थुन हुए सोचा के हाथों में रन देना चाहता है। ठीक है कि यह प्रक्रिया बहुतमद गति से अप्रसर हो सकेगी।

विवाद व इस छोर तक पहुँचने के बाद विषयांतर हो जाता है और युद्ध की रीतियों का प्रसंग खल पड़ता है। इसी के सहारे मुकरात इस सवाल से बचना रहता है कि जिस सामाजिक स्थिति का उसने चित्रण किया है वह व्यावहारिक है अथवा नहीं। आरम्भ में वह समझाता है कि बच्चों को किस विधि से पालन करके सजिव बनाया जा सकता है और फिर नागरिकों व परम्पर आचरण का निष्पन्न करता हुआ 'गणुओं' के साथ व्यवहार की रूपरेखा देता है। हम सारी चर्चा में मध्यमगुणी शीघ्र की कई विविध पूर्वधारणाएँ प्रकट हुई हैं। तरुणा की साम लपट ग्रहण करना चाहिये, स य की गल के सम्बन्ध में प्रेम की प्रेरणा आवश्यक है, बर्बना युद्ध की दासी के समान उपयोगी और इसी प्रकार से भावना तथा नीति का मिश्रण कई तरह व्यक्त हुआ है। बीर पूजा को प्रबल मायता देकर महान् पुरुषों को धार्मिक सन्ता की सूची में जोड़ देना एक नियमित क्रिया बना दी जाये। हम मण्डल में डेटफी व प्रमाण-गुण्य का आसन गिरजाघर के भीपस्य सत्ताधीश के समकक्ष कर दिया जाय। रिपब्लिक' में डेटफी के प्रमाण पुरुष की चर्चा प्रमुख है। प्लेटो मानता है कि यह ग्रीक जाति की एकता का केन्द्र है और उससे विघटन या विघ्नस को रोकने के अर्थ साधना में इसका भी स्थान है। इसी प्रसंग में उत्तम प्रमाण पुरुष युद्ध की रीतियों को कुछ न कुछ मर्यादित करने का साधन बना दिया गया है। प्लेटो का मत है कि किसी भी सैनिक को रणभेद में जीवित पकड़े जान का अवसर नहीं देना चाहिये और जो व्यक्ति युद्धभेद में लज्जास्पद हो जाये उसे समाज में निम्नतर श्रेणी में रखा जाय। 'गणुओं' के साथ बर्ताव के बारे में प्लेटो जोर देता है कि ग्रीकजन हमर ग्रीकवासी को सभी

गुलाम न बनाये। इन बातों से पता चलता है कि उसके मन में ग्रीकजाति की अखण्डता निरंतर भूलती रहती है और वह स्वभावतः बर जाति के आचरण का विपरीत उदाहरण मानकर ग्रीकजाति के व्यवहार को आकृता है। इसी भावना से वह युद्धजनित रीतियाँ को निर्धारित करता है। यही कारण है कि वह ग्रीकजाति के लागा की बचल दासता का विरोधी नहीं है बल्कि युद्धगत अथ दुष्कर्मों को भी निन्दनीय मानता है जिनसे ग्रीकजाति में वमनस्य की परम्परा बन और वह दृढ़ हो जाये। मदिना में नास्त्रापण भूमि का विध्वंस निवासगृहों को जलाना आदि की उसने भत्सना की है। वह चाहता है कि ग्रीक जनता के परस्पर युद्ध का गृहयुद्ध माना जाय। बंध युद्ध नहीं क्योंकि सभी ग्रीकजन एक ही जाति के सदस्य हैं। उसने कथन हम पेलोपानथियन युद्ध का स्मरण दिलाता है जहाँ थूसीडाइडस के लग्न में चित्रित है। जैसे जैसे वह युद्ध बढ़ता गया उस एक वग का दूसरे के विरुद्ध सामाजिक संग्राम का स्वरूप मिलता गया और इसके भयकर परिणाम हुए। लगता है कि स्पार्टाजाति ने प्लेटो के कुछ सिद्धांतों का अपना लिया था। मृतक सैनिक के शव को कितना और बलेश देना—इसकी मर्यादा बना दी गयी। इसी प्रकार प्लूटाक के अपाकथगमारा लकानिका में लाइकरगस के मुख से जो बात कहलायी गयी है वह प्लेटो के कथन से बहुत मेल खाती है। ग्रीस में स्पार्टा के लोग ही ऐसे थे जो मन्त्रि म अपने शस्त्र अर्पित नहीं करते थे जिस बली रोमनेस के द्वारा मृत करवाया गया है। पराजिता को अपने साथी मृतकों के दफनाने की इजाजत न देने के उदाहरण ग्रीस में बहुत बिरले ही हैं और यदि कभी इस तरह मनाही की गयी तो उसे घृणास्पद माना जाता था। द्वितीय पवित्र संग्राम में फोथियन जजों को मृतक सस्त्रों की जाना नहीं दी गयी थी। ईगोस पोनामी में अपने ऐसे सवासी मृतकों को बिना दफनाय छोड़े जाने पर लिसण्डर की कटु भत्सना की गयी थी।

युद्धकाल में ग्रीकजनों के परम्पर व्यवहार की चर्चा करने के बाद प्लेटो बर जाति को बिलकुल अलग थेली में रखकर अपनी बात खत्म करता है, उनके साथ ग्रीकजन चाहें तो, युद्ध में बही बलाव कर सकते हैं जो वे अपने बीच किया करते हैं। यह बात आश्चर्यजनक है कि कतिपय महान् विचारकों की दृष्टि मानवाधिकारों के विषय में कितनी सकुचित रही है।

दर्शन तथा राज्य

इस मध्याह्न के पश्चात् मुकरात नहीं चाहता कि विवाद की सबसे महत्वपूर्ण तृतीय 'तरंग' का विचार अब अधिक समय तक रुका रहे। आदर्श राज्य के विषय में जो कुछ अभी तक कहा जा चुका है वह बहुत बर्निया है और हम भी इसमें बहुत कुछ और जोड़ सकते हैं परन्तु क्या यह सम्भव है ?

सामान्यत आदर्श का यथायथा के साथ जो सम्बन्ध है उसके बारे में मुकरात कुछ आरम्भिक बातें कहता है। इसके बाद ही अपने वाकमण्डार में सुरक्षित विरोधान्तासी रहस्य का वह उद्घाटन करना चाहता है। वह बताता है कि अप्राप्य होने के कारण ही आदर्श का गौरव घटता नहीं है। हमने गुरु में 'याय क्या है ?' प्रश्न उठाया था और उसका आशय होता है 'यायस्वत अथवा न्याय का स्वरूप क्या है ?' अब हम यह आशा नहीं करनी चाहिये कि यदि कोई मनुष्य 'यायी है तो एक प्रकार से वह स्वयं सूर्तिमान् 'याय हो गया। इतने में ही सतोष रखना ठीक है कि हम 'याय को एक अनुकरणीय शाली के रूप में मानें जिसके अनुकूल 'यायी से 'यायी मनुष्य, केवल निरुद्धतम सच्चाई के साथ विचार और निष्पत्ति कर सकता है। दूसरी तरह ध्येयों की भाषा में यह कहना पड़ेगा कि वस्तुस्थिति स्वतः जैसी है और जैसी वह हमारे अनुभव में मूत होती है—इन दोनों अवस्थाओं में एक निश्चित भेद या अंतर है। ठीक यही अंतर आदर्श तथा यथायथा के बीच का अंतर कहा जा सकता है। मानवी क्रम के लिए 'याय की प्रवृत्ति एवं सचि के समान मान लेने पर हम निर्भीक होकर कह सकते हैं कि आदर्श जनमण्डल के विषय में जो निष्कर्ष हमने पाया है वही मानव-जीवन का सत्य है। सच्चा मनुष्य-जीवन अभी तक दिये गये वर्णन के अनुरूप ही होगा। मनुष्य-जीवन के सभी विद्यमान रूप या शक्तियाँ कुछ सीमा

गुलाम न बनाये। इन बातों से पता चलता है कि उसक मन में ग्रीकजाति की अखण्डता निरन्तर झूलती रहती है और वह स्वभावतः बबर जाति के आचरण का विपरीत उदाहरण मानकर ग्रीकजाति के व्यवहार को आकृता है। इसी भावना से वह युद्धजनित रीतियाँ को निर्धारित करता है। यही कारण है कि वह ग्रीकजाति के लोग की केवल दासता का विरोधी नहीं है बल्कि युद्धगत अथ दुष्कर्मों का भी निन्दनीय मानता है जिनसे ग्रीकजना में वमनस्य की परम्परा बन और वह दृढ़ हो जाय। यदि दरा में शास्त्राण भूमि का विध्वंस, निवासगृह का जलाना आदि की उसने भत्सना की है। वह चाहता है कि ग्रीक-जनता में परस्पर युद्ध को गृहयुद्ध माना जाय बल्कि युद्ध नहीं क्योंकि सभी ग्रीकजन एक ही जाति के सन्तत्य हैं। उसका कथन हम पेलोपानेशियन युद्ध का स्मरण दिलाता है जसा घूसीडाइडीज के लगन में चित्रित है। जस जमे वह युद्ध बढ़ता गया उस एक बग का दूसरे के विरुद्ध सामाजिक संग्राम का स्वरूप मिलता गया और इसके भयकर परिणाम हुए। लगता है कि स्पार्टाजाति ने प्लेटो क कुछ सिद्धांतों को अपना लिया था। मृतक सैनिक क शव को कितना और वनेश देना—इसकी मर्यादा बना दी गयी। इसी प्रकार शूटाक क अपोफथगमारा लकोनिवा में लाइकरगस के मुख से जो बात कहलायी गयी है वह प्लेटो के कथन से बहुत मेल खाती है। ग्रीस में स्पार्टा के लोग ही ऐसे थे जो मर्तिरा में अपने शस्त्र अर्पित नहीं करते थे जिसे क्लीओमेनेस के द्वारा यत्न कराया गया है। पराजितों को अपने साथी मृतकों क दफनाने की इजाजत न देने के उदाहरण ग्रीस में बहुत बिरले ही हैं और यदि कभी इस तरह मनाही की गयी तो उसे घृणास्पद माना जाता था। द्वितीय पवित्र संग्राम में फाशियन जजा को मृतक सम्कार की आना नहीं दी गयी थी। ईगोस पोटासी में अपने एथेनवासी मृतकों को बिना दफनाय छोड़े जाने पर लिमण्डर की कटु भत्सना की गयी थी।

युद्धकाल में ग्रीकजना के परस्पर व्यवहार की चर्चा करने के बाद प्लेटो बबर जाति को विलकुल अलग श्रेणी में रखकर अपनी बात खत्म करता है, उनके साथ ग्रीकजन चाहें तो युद्ध में वही बताव कर सकते हैं जो वे अपने बीच किया करते हैं। यह बात आश्चर्यजनक है कि कतिपय महान् विचारका की दृष्टि मानवाधिकारा के विषय में कितनी सकुचित रही है।

इस मध्यांतर के पश्चात् मुकरात नदी चाहता कि विवाद की सबसे महत्वपूर्ण तृतीय 'तरंग' का विचार अब अधिक समय तक रुका रहे। आदर्श राज्य के विषय में जो कुछ अभी तक कहा जा चुका है वह बहुत बड़िया है और हम भी इसमें बहुत कुछ और जोड़ सकते हैं परन्तु क्या यह सम्भव है ?

सामान्यत आदर्श का यथायता के साथ जो सम्बन्ध है, उसके बारे में मुकरात कुछ आरम्भिक बातें कहना है। इसके बाद ही अपने चारमण्डल में सुरक्षित विरोधभासी रहस्य का वह उद्घाटन करना चाहता है। वह बताता है कि अप्राप्य होने के कारण ही आदर्श का गौरव घटना नहीं है। हमने शुरू में 'याय क्या है ?' प्रश्न उठाया था और उसका आशय होता है 'यायस्वत अथवा श्याय का स्वरूप क्या है ?' अब हमें यह आशा नहीं करनी चाहिये कि यदि कोई मनुष्य 'यायी' है तो एक प्रकार से वह स्वयं मूर्तिमान 'याय' हो गया। इनने में ही सतोष रखना ठीक है कि हम 'याय' को एक अनुकरणीय दैवी के रूप में मानें जिसके अनुकूल 'यायी' से 'यायी' मनुष्य केवल निकटतम सवाई के साथ विचार और निष्पत्ति पर सबता है। दूसरी तरह प्लेटो की भाषा में यह कहना पड़ेगा कि वस्तुस्थिति स्वतः जैसी है और जैसी वह हमारे अनुभव में मूल होती है—इन दोनों अवस्थाओं में एक निश्चित भेद या अंतर है। ठीक यही अंतर आदर्श तथा यथायता के बीच का अंतर कहा जा सकता है। मानवीय कम के लिए 'याय' की प्रवृत्ति एक सच्चे व सभाल मान लेने पर हम निर्भीक होकर कह सकते हैं कि आदर्श जनमण्डल के विषय में जो निष्कर्ष हमने पाया है, वही मानव-जीवन का सत्य है। सच्चा मनुष्य-जीवन अभी तक दिये गये वर्णन के अनुरूप ही होगा। मनुष्य-जीवन के सभी विद्यमान रूप या शैलियाँ कुछ सीमा

तक सत्य के मिथ्या प्रदर्शन है। वे सत्य से ओछे हात हैं। यदि हमसे यह माँग की जाये कि हम आदर्श की दाययता को सिद्ध करके बतायें तो हम निश्चय ही यह कहेंगे कि कोई आदर्श यथातथ्य सम्भाव्य नहीं है। और उसे सम्भव मानना उससे सम्बंध में नासम्यही होगी। वस्तु की प्राकृतिक प्रवृत्ति ही ऐसी होती है कि काय में सत्य को धारण करने की क्षमता नहीं अथवा विचार की अपेक्षा कम हुआ करती है। समस्त आदर्शों को यह सामान्य सिद्धांत प्रयुक्त होता है। तदनुसार रिपब्लिक के विषयवर्णन का फिर से ध्यान करके प्लेटो लाज (Laws) में पुनः आश्रय करता है कि उसमें उल्लिखित गली या रूप ही वास्तविक है परन्तु केवल दवर्णन अथवा देवपुत्र उसका व्यवहार कर सकते हैं। वह 'रिपब्लिक' में अपने कल्पित आदर्श की किसी तरह काट छाँट नहीं करता। इसी में उस सन्तोष है कि उसने आदर्श का प्रदर्शन करके उस आदर्श सिद्ध कर दिया। जब दूसरी व्यावहारिकता का चुनौती दी जाती है, तब लाचार होकर वह बतलाता है कि मानव स्वभाव उसकी निकटतम उपलब्धि का प्रयास किस प्रकार कर सकता है। परन्तु वह इस नहीं समझा पाता कि मानव स्वभाव उस आदर्श को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है।

आदर्श का व्यवहारगम्य बनाने का काय स्वतः प्रश्नवाचक चिह्न बन जाता है जिस मूलरूप में मानव जीवन है उसमें कौन सा तत्त्व है जो आदर्श की प्राप्ति में बाधा डालता है और वस्तुस्थिति मूलतः जैसी है उसमें कौन सा गूँथतम परिवर्तन हो सकता है जिससे मनुष्य आदर्श की उपलब्धि में समर्थ हो जाय ? (इसमें निहित अभिप्राय यह है कि मनुष्य का आदर्श शुभ और उसकी प्रकृति में अशुभ का उद्गम वास्तव में एक ही चीज है।) एक ही परिवर्तन है जो शुद्ध नहीं है परन्तु शक्य है और जो मानव-जीवन के आदर्श को आविर्भूत कर सकेगा तथा केवल एक ही स्रोत है जिससे मानव जीवन में अशुभ प्रस्फुटित होता है। दर्शन को सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न बनाना ही एक परिवर्तन है अथवा दूसरे शब्दों में, राजनीतिक सत्ता तथा दार्शनिक अन्तर्दृष्टि की सहति या संयोग होना चाहिये और इन दोनों उपादानों का विच्छेद या पायबन्द मनुष्य जाति के समस्त दुःखों का मूलस्रोत है। इस तरह राजनीतिक सत्ता तथा दार्शनिक अन्तर्दृष्टि की सहति का फल यह होगा कि अभी जितने राज सत्ताधीन हैं उनमें से अधिकांश पदच्युत हो जायेंगे तथा दर्शनशास्त्र में अनुरक्त बहुसंख्यक मनुष्य उससे वंचित कर दिये जायेंगे।

स्वाभाविक है कि इस निषेधमुखी प्रतिफल के कारण अ प्रतिक्रिया ज़िरोर और कोताहूत उत्पन्न होगा। किन्ती भी युग के अग्रगण्य विचारवान व्यक्तियाँ में से बहूनेने इसमें समर्पित हाँगे चाहें वे राजनीतिज्ञ हों अथवा मनीषी। इसी ने स्पष्ट होता है कि प्लेटो आगे की चर्चा में अपने पक्ष समर्थन का इतना गम्भीर प्रयास क्या करता है। समर्थन के निमित्त वह राजनीतिक नताओं की अपेक्षा बिना तीन तीन विद्वानों को सम्बोधित करने का प्रयास अधिक आवश्यक समझता है। शासकों व अज्ञानजनित अनाचार की अपना चिंतनशील मेधा के दुष्प्रयोग या अपाय से फलित दुर्गचार प्लेटो के चिंत का अधिक व्याकुल करते हैं। चतुर्थ अध्याय अत्यंत प्रतिभावान व्यक्तियों की निरर्थकता अथवा उनके हास की सतत व्यथामयी घटना में ओतप्रोत है। हम दंगनन शास्त्र का प्रयोग सीमित अर्थ में करते हैं किन्तु प्लेटो की दृष्टि में दंगनन सबसेतोमुखी मध्यावी व्यति है। हमारे विचार से दंगनन को विशेष प्रकार की प्रतिभा मिला है किन्तु प्लेटो दंगनन के बगल में उन समग्र गुणा का गिना देता है जो महापुरुषों में अपेक्षित हैं।

विवाद के इस दौर से संपन्न अध्याय के अन्त तक पद्धति में कहीं व्याघात नहीं होता। अभी विषयवस्तु की जिम अवस्था या उत्पन्न हुआ है उसी का अविराम विकास उस खण्ड में स्थित किया गया है। (१) पहले खण्ड में दंगनना की व्याख्या की गयी है। (२) यदि हम दंगनन व साम्प्रतिक अर्थ को ग्रहण कर चुके हैं तो केवल इन व्यक्तियों का शासन राज्य में निरुपमान बना सकसंग है क्योंकि पूरा पुरुष में अपेक्षित समस्त धर्मगुण और श्रेष्ठताएँ दंगननिक प्रकृति की कल्पना में प्रवहमान होती हैं। इन लक्षणों को मित्राकर समझने पर हमारे सम्मुख दंगननिक प्रकृति का आन्त प्रकट हुआ है और यह प्रमाणित होता है कि दंगननात्मक का धर्माथ प्रमाणन क्या है। तदनुसार (३) अगले खण्ड में दंगनन का स्वरूप सम्बन्धी विचार स्थित किया गया है और बताया गया है कि धम्मुन दंगन का अभिप्राय क्या है। यहाँ प्लेटो दंगननिक प्रकृति के आन्त और तद्विषयक यथार्थ सत्यों में जो जाना माना तथा प्रत्यक्ष वस्तु है उस सिम्बार्स समझाता है। फलन यह सिद्ध किया जाना है कि इन सत्यों का कारण दंगननिक प्रकृति तथा उसके परिवेश में समावेश का अभाव है, इन सत्यों के लिए स्वयं समाज दोषी है, समाज उत्कृष्ट स्वभावीजना का भ्रष्ट और व्यय बना बना है। (४) इससे बान यह बनाना जरूरी हो जाता है कि समाज किस प्रकार दंगनन के अनुकूल अपने आपको मोड़े और किस प्रकार दंगननिक प्रकृति के परिदृश का उनके निमित्त हितावह बनाये। अन्त में धूमधाम कर हम फिर (५) स्थिति की समस्या को ठीक

सामुग्य पाते हैं। अपने परिवेश के साथ आत्मा का गमजन तथा परिवर्ण की उसके साथ अनुभूतता शिक्षा के व्यापक प्रयोजन का विषय है अतएव दार्शनिक प्रकृति की गयी तथा परिवर्णित कल्पना से आगे बढ़कर हमारी जिज्ञासा है कि जिस सोन्यादशन का विचार हम पहले कर चुके हैं, उसके अनिरिक्त और उन्नत आशय में शिक्षा का स्वरूप कैसा होना चाहिये। विज्ञान विषयों में प्रशिक्षण द्वारा दार्शनिक प्रकृति का परिपोषण अतएव हम दशन के अध्ययन में अग्रसर कर रहे हैं। पष्ठ अध्याय से सप्तम अध्याय के एक खण्ड में इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य के अन्तःकरण में दार्शनिक प्रकृति का सारभूत तत्त्व उसे वस्तुस्थिति के अन्तरंग ज्ञान की ओर प्रेरित करता है उस चतुर्विध दृश्यमान जगत् के सम्बन्ध में जिज्ञासा बनाता है और ऐसे सुयोग्य विषयों में स्वयं आकर्षित होकर वह निवास करता है। विज्ञान विषय मनुष्य के उन प्रयत्नों के प्रतिबिम्ब हैं जिनसे वह विश्व बोध में अनुरक्त होता आया है। इसीलिए उन प्रयत्नों के प्रतिनिधित्व होने से आत्मा विश्व का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकती है। ये विषय दशनतत्त्व के फल हैं जिस प्रकार कला भी इसी तत्त्व की एक अवस्था या परिणाम है। पिछले परिच्छेदों में जिन प्रकार शिक्षा विषयों के खण्डों में कला को आत्मा की पोषक सामग्री कहा गया है इसी तरह भिन्न अवस्था में विज्ञान विषयों का उपयोग आत्मा की सुयोग्य बनाना है (६) विवाद के अंतिम खण्ड में सप्तम अध्याय के अन्त तक इसी कल्पना के व्यावहारिक प्रयोग का निरूपण किया गया है और अन्तिम भावकों के शैक्षणिक जीवन का यथाक्रम विभाजन अध्ययन की क्रमानुगत व्यवस्था तथा प्रत्येक अवस्था में कालव्यय का समुचित विवरण है।

(१) सबप्रथम प्लेटो दार्शनिक प्रकृति का विश्लेषण अपनी दृष्टि से करता है जिसका लक्ष्य इस मत की पुष्टि है कि केवल दार्शनिक प्रबुद्धता ही राज्य संचालन में कुशल हो सकती है। इस परिच्छेद में हम सावधानी से प्लेटो के मत को जैसा वास्तव में मानने में आया-भीटा न करें और अज्ञान को कोई निष्पक्ष निकासने की उपायवाली न दिवायें। पहले वह दार्शनिक तत्त्व को जातिगत विषय के रूप में प्रतिपादित करता है और फिर उसका विलक्षण भेदक स्वरूप को मिलते जुलते अन्य विषयों से भिन्न सिद्ध करता है।

दशनज्ञ शब्द का सरल अर्थ को स्पष्ट करके पहले वह उसका जातिगत लक्षण प्रस्तुत करता है। दशनज्ञ प्रानुरागी होता है। इस शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ अंग्रेजी भाषा में नष्टप्राय हो चुका है। दार्शनिक की अपेक्षा चिन्ताशील का सामान्य आशय ग्रीकभाषा में शब्द के बहुत समीप है यद्यपि ग्रीक शब्द की

व्यापकता पूरी तरह उससे व्यक्त नहीं होती। प्लेटो ने युग में सामान्य उपयोग करते समय इस शब्द से एक प्रकार की स्पष्ट सम्बृति का आशय समझा जाता था। यह भी शामिल था कि साधारणजन की अपेक्षा कुछ लोग विशेष रुचि से कतिपय विषयों की ओर अनुरक्त होने का दावा करते थे। फलतः राज्यविभारद्वारा, विज्ञानविद् जैसे बहुसंख्यक विभिन्न मनुष्य दशावेत्ता कहलाने लगते थे। किंतु इस दानप्रियता का यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि ये लोग अपने चुन हुए विषय में चिंतनशील रहा करते थे कोई चिंतनजगत् में स्थिर करते थे— केवल इतना ही था कि अपनी रुचि के विषय में उच्चाशय से प्रवृत्त हुआ करते थे। आज भी इसी तरह के अर्थ में कभी-कभी हम इस शब्द का व्यवहार करते हैं। हम कह देते हैं दार्शनिक डाक्टर या कभी-कभी वह व्यक्ति जो अपने विषय का अनुरागी है उससे कोई और आवागमन नहीं करता और न उस विषय के सम्बन्ध में असाधारण खोजबीन करना चाहता है। दानन का प्रयोग करते समय हम उसमें निहित भाववेश के तत्त्व का भुला दिया करते हैं। दानन का अर्थ है, वह मनुष्य जो किसी वस्तु का असाधारण ढंग से अनुरागी हो। क्या आशय है इस अनुराग का? जब हम किसी मनुष्य को मूलतः किसी वस्तु का अनुरागी समझते हैं या उस सौन्दर्यासक्त वस्तु हैं या उसमें जन्मजात यशस्विता मानते हैं अथवा वह मनुष्य स्वभावतः सुराग्रिय है अथवा वह इसी प्रकार की अन्य रुचि का व्यक्ति हो, तब हम उसमें एक प्रकार का विवेकपूर्ण उत्साह या बुभुक्षा उस वस्तु के प्रति मानते हैं जिसकी ओर वह अत्यंत ग्रहणशील है। मौल्यग्राही पुरुष सहज ही निरंतर आसक्तमायी होता है। इसने कारण सौन्दर्यासक्त के वृत्तन की सम्पूर्ण शक्तवली का आविष्कार हुआ ताकि सौन्दर्यासक्त की अभिव्यक्ति में सुन्दरता का एक भी लक्षण छूट न जाये। ऐसे लोगों के चित्त में जीवन के प्रति सहज मुग्धता रहती है जिस से सबकुछ निछावर करके भावना में रक्तन में मजबूत रहते हैं। सुराग्रिय मनुष्य का भी यही हाल है वह सम्मान सत्कार की अथवा स्थित नूतन सन्निध्य पीडित रहता है, मनागति न हो सके, तो उस सनानी घनन को वह छत्रपटाता है, किसी भी प्रकार का पद मिले जाते उसके साथ का उपाधि प्राप्त है। (यह मान बैठना ठीक न होगा कि इस वृत्तन में जो व्यक्त नहीं है उस प्लटा जानता नहीं है। उसने किसी निश्चित वस्तु के प्रति उत्साह के एक पट्टन पर बहुत जोर दिया है और पूरी सचाई के साथ। लेकिन यह उल्लेख करने में यह धूक गया कि इस प्रकार के व्यक्तिगत चरित्र विचित्र ढंग में दार्शनिकों तथा अविवेकीय होते हैं। यह अद्भुत और निराशय तथ्य है कि जब कोई मनुष्य

किसी वस्तु के प्रति उत्कण्ठापूर्वक रुचिमान होना है तब वह अनोखे ढंग में उसका दोषग्राही भी हुआ करता है। वारुणी और प्रभावनिष्ठा के सम्बन्ध में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। फिर भी त्रिजिह्वालोचक आलोच्यवस्तु के प्रति उत्साहमय हुए बिना नहीं रह सकता। जब हम किसी मनुष्य को ऐसा नाम में सम्बोधित करते हैं जो उसकी किसी वस्तुप्रियता के कारण उसके व्यक्तित्व का भार सूचित करता है तो हमारा यही अभिप्राय होना चाहिये कि उसकी रुचि शुरू शुरू में विवेकसूय युष्मानामात्र है। ऐसा मनुष्य की तुलना को यक्त करें तो कहना होगा कि वह नितांत अविष्ट या आदिम रुचि का है उस मनुष्य की जठराग्नि प्रबल होनी चाहिये और वह दुष्प्रोष्य व्यक्ति का विपरीत उदाहरण होगा।)

जब इसे दार्शनिक प्रवृत्ति में प्रयुक्त करें। हम उसे दार्शनिक प्रवृत्ति का मनुष्य नहीं कह सकते जो सौन्दर्यानुभूति के लिए विवकहीन ढंग में युष्मक्षित नहीं है। यहाँ फिर उपयुक्त शब्द की कठिनाई है क्या कि अग्रजी का ज्ञान (Knowledge) शब्द व्यापक अर्थबोध में मग्न नहीं है। प्लेटो सौन्दर्योपासक के अतगत उद्देशे गिनता है जिन्हें हम ज्ञानाकांक्षी शब्द से सम्बोधित नहीं करना चाहेंगे। वह नाटक दशक कलाप्रेमी कोई अन्य व्यक्ति जिस नेत्र और कान के माध्यम से सौत्र सुख की अनुभूति होती है—इन सभी की गणना वह सौन्दर्योपासक में करता है। प्राक् शब्द से उभरा आशय है—विसर्वाति का ऐसा प्रयोग जो नवीन अनुभव में सफल हो।

हम हम निष्कप तर्क पट्टे हैं कि दानन वह व्यक्ति है जिसमें नवीन अनुभव की जसीम जिज्ञासा रहती है और वह उसका जातिगत लक्षण है। किन्तु यह नहीं ममज्ञ लेना चाहिये कि जिनमें इन लक्षणों का संकेत मिलता है वे जन्मजात दशनज्ञ हैं। इस चरित्र के बन्धुतेरे हमारे लोग भी हैं जिन्हें दशनन नहीं कहा जा सकता, जैसे नाट्यदर्शी सगातमर्मी तथा अन्य बुद्धिमान शिल्पी। इन व्यक्तियों के आचरण दानन से बहुत कुछ मिलते हैं, कम से कम इनमें भी विवकसूय सुखलक्षणा के प्रति मानसिक चंचलता रहती है। परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे जानि गत लक्षणा की समानता के अतिरिक्त कौन सी विशेषता है जो दशनन की इन सभी व्यक्तियों से भिन्न करती है। यथार्थ दशनज्ञ वही है जो सत्य की शोध में निरन्तर अनुरक्त है वह नहीं जो प्रत्यक्ष नवीन वस्तु की ओर दृष्टि लगाय रहे।

किन्तु दशनज्ञ जिस निश्चित वस्तु सत्य की झांकी देखने में लीन रहता है उससे हमारा आशय क्या है और हम सत्य को किस वक्षिष्ट्य से पहचानेंगे ?

प्लेटो इस प्रश्न का प्रारम्भिक और सामान्य समाधान करके अपनी कल्पना के कुछ रूपा अथवा प्रयोजनों को प्रस्तुत करता है। इस तरह केवल सक्षिप्त विवरण देता है जिससे उसका ध्योता परिचित है।

उसकी भाष्यता का आरम्भ इस वचन से होता है कि प्रकृति तत्त्व के निदिष्ट रूप या प्रकार हैं, उदाहरणार्थ अयाय स याय अशुभ से शुभ, असुन्दरता स सौन्दर्य सवधा भिन्न है। जब हम किसी वस्तु का 'रूप या प्रकार' कहते हैं जैसे 'याय अथवा सौ दय, तब हमारा तात्पर्य यह है कि वह एक है अर्थात् इस रूप या प्रकार का सादृश्य जिन सभी वस्तुओं में है वे इसी रूप या प्रकार के कुल या वर्ग में सम्मिलित हैं, जस, चाह जितनी वस्तुओं में याय घटित हो वह याय का याय बना रहेगा। तो प्रत्येक रूप या प्रकार भले भेद जैसा दीखे वह सचमुच सद्विष्ट वस्तु या एकता प्रकट करनेवाली वस्तु है। परन्तु हर विनिष्ट रूप या प्रकार अनगिनती वस्तुओं जसा प्रकट हुआ करता है। अथवा प्लेटो अपने दग स इस तरह कहता है कि ये रूप या प्रकार एक दूसरे से मूल वस्तुओं स और कार्यों में सम्वाद करते हैं तथा यही पद्धति स प्रत्येक वस्तु हम विविध रूपा में शिवायी देती है जिन्हें हम रूपों का नाम देते हैं व अनगिनत वस्तुओं या पदार्थों में प्रकट एकरूप के अनेक तत्त्व हैं जिनको हम इन्द्रिया स ग्रहण करते हैं। अब उन लोगो की ओर ध्यान दें जो आप और कान के उपयोग में सुखानुभूति समझते हैं तथा जिसमें हम दगनन का विशिष्ट भिन्न व्यक्ति बतलाना चाहते हैं। हम देखते हैं कि जिन वस्तुओं से इन लोगो का चित्त क्रियाशील होता है वे यही विविध पदार्थ हैं—ध्वनि, रंग आकृति सौन्दर्य यथायत नहीं है बल्कि यह, वह तथा अयाय सुन्दर वस्तु है। इसके विपरीत दगनन मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि प्रकार या रूप के भेद का वह पहचान सकता है और इस पहचान की क्रिया में उस ज्ञान मिलता है।

चित्त की इन अवस्थाओं का अविन करन के दगद स प्लेटो यह बतलाना चाहता है कि दगनन ज्ञाननिष्ठ है जबकि दूसरे लोग सिर्फ सम्मतिपटु हैं। जब हम कहते हैं कि हम वस्तु का ज्ञान है तब आशय यह होता है कि उस वस्तु का भाव अथवा है-पन अर्थात् उसका अस्तित्व है और वस्तु का भाव उसकी ज्ञातव्यता का टीक सहविम्बारी है। यदि यह पृथक् ज्ञेय कि सचमुच वस्तु क्या है तो उत्तर हागा कि जितना उसके सम्बन्ध में ज्ञात है उतनी वह वस्तु है। वस्तु के निषेध का आशय भी यही है कि उसकी ज्ञातव्यता निषेधात्मक है। वह दृश्य या अवस्तु है—असरूप या अविद्यमानता है—हमारे ज्ञान के परे कोई

रहस्यात्मक वस्तु नहीं है किन्तु शुद्ध अभाव है जिसके विषय में हम कुछ कह या जान नहीं सकते। इसके सम्बन्ध में चित्त नितांत निर्बोध है जबकि भाव के प्रति ज्ञान गतिमान होना है। (अज्ञान या अबोधता का परिपूर्ण आगम है मस्तिष्क का कोरापन। प्लेटो अबोधता को शक्ति के अर्थ में नहीं मानता जिसमें अभाव नामक पदार्थ कहा जा सके अबोधता सही भावने में शक्ति का निषेध है और वह किसी पदार्थ का वाचक नहीं है।) बोलचाल में हम बोध को सोचने या मन में जलाने के लिए मानते हैं जो पूर्ण ज्ञान या अन्तर्गर्भित तथा नितांत अज्ञान अथवा अघकार जमी दो चरम सीमाओं का मध्य बिंदु है। और ज्ञान तथा मत दोनों सत्ता या शक्ति कहलाती हैं। तो एक शक्ति को हम दूसरे से किस भिन्न समझें? यह नष्ट ग्राह्य नहीं है। रंग अथवा रूप से उसे नहीं जान सकते। उसे हम केवल उसकी क्रिया से उसके कार्यान्वयन से और उसके व्यापार से पहचानते हैं। माना कि ज्ञान और मत दो भिन्न शक्तियाँ हैं इसीलिए उनके कम या व्यापार भिन्न होना चाहिये अथवा उनके परिणाम भिन्न होंगे। ज्ञान का विषय है सत् अर्थात् जो है जो अस्तित्ववान है, दूसरे शब्दों में ज्ञान का व्यापार सत् की चेतना का उद्घेक करता है। मत भी विषय की अपेक्षा स्वतंत्र है अभाव के बारे में हम सोच नहीं सकते। परन्तु मत का विषय वही नहीं हो सकता जो ज्ञान का विषय है। फलतः मत के विषय का अस्तित्व हो सकता नहीं भी हो सकता। यह कहना कठिन है कि वह पूर्णतः है अथवा पूर्णतः नहीं है क्योंकि यदि हम ऐसा कह सकें तब मत ज्ञान और अज्ञान दोनों से भिन्न नहीं रहेगा।

इन निष्पत्तियों के बाद अब हम उस भेद का विचार करें जो सहज प्रति बोध या प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण विविध पदार्थों में और उनके मूल में एकत्व के निश्चित रूप अथवा अशक्य तत्त्वा में हम देख चुके हैं। जैसा हमने देखा है ऐसे लोग हैं जो अपने मस्तिष्क का उपयोग शब्दों, दृश्य, स्पर्श जगत तथा उसके विविध रूप तक ही सीमित रखते हैं। इसी को वे यथायथा मानते हैं और केवल इसी यथायथा में उनका विश्वास है। इनसे भिन्न वे व्यक्ति हैं जो उन यथायथा को मानते हैं जो अनेकानेक रूपा में भूत हैं जिसमें विविध पदार्थ योगदान करते हैं किन्तु इन सारे पदार्थों में से वह स्वतः कोई पदार्थ नहीं है। (ये एक मूलतत्त्व के रूप हैं जो स्वतः सौन्दर्य अथवा स्वतः याव बनता है।) प्रथम वर्ग के व्यक्तियों से पूछा जाय कि सौन्दर्य याव कहाँ बना है तो वे सुन्दर पदार्थ, यावसंगत कम और भारी चीजों की ओर हमारा ध्यान दिलायेंगे। परन्तु यदि हम इनमें से किसी एक पदार्थ को भिन्न दशा में या सौन्दर्य में देखें तो प्लेटो की भाषा में

वह विविध या विपरीत लक्षण प्रकट करता है। एक सुन्दर पदार्थ को भिन्न परिवेश में रख दीजिय और वह सहज ही कुरूप या अमुन्दर लगेगा। रंग के मामले में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। न्यायोचित वस्तु कम या विधि का उदाहरण लीजिय और उस कम की विभिन्न परिस्थिति में बरके अथवा उस विधि को अन्य परिवेश में प्रयुक्त बरके देखिय तो एकदम वह अयायपूर्ण लगेगा। भारी वस्तु का भी यही हाल है क्योंकि उससे अधिक बजतार चीज के सन्दर्भ में वह हलकी हो जायगी। इस प्रकार प्लेटो अपने मतव्य को बला, नीतिशास्त्र तथा प्रकृति का दृष्टांता से प्रमाणित करता है। चाहे जिस श्रेणी की वस्तु हो, उसमें विपरीत लक्षण मिलते हैं। तब भुक्तिपूर्वक यह नहीं कह सकते कि एक पदार्थ को ऐसा बहें कि दसा। सरस तो यही बयन होगा कि उसका प्रकृति दोनों प्रकार से व्यक्त है। वह दोनों है और दोनों नहीं है अर्थात् वह सुन्दर है, वह सुन्दर नहीं है, भारी है भारी नहीं है। इस तरह मत की विषयवस्तु के सम्बन्ध में जो कुछ पहले कहा गया है उसका समाधान होना है। इन नाना रूपों को ही प्रायः समस्त मानवजाति एकमात्र यथायथा मानती है क्योंकि अमुक पदार्थ क्या है, हमने उत्तर में इन्हीं रूपों की ओर सबन किया जाना है। अब मत या सम्मति बहुसंख्यक व्यक्तियों की बहुतेरी वस्तुओं के सम्बन्ध में मानसिक दशा मात्र है। तथापि यह स्पष्ट है कि यह मानसिक दशा उससे नहीं मेल खाती जिसे हम ज्ञान की सजा देना चाहते हैं और इसका विषय वह नहीं है जिस हम यथायथा से सम्बोधित करने के इच्छु हैं। इसलिए सामान्यतः हम कहेंगे कि साधारण जना को बहुतेरी वस्तुओं के बारे में उनका साधारण ढंग से प्राप्त मतों के अनुसार जो यथायथा जान पड़ती है, वह सत (परिपूर्ण यथायथा) और असत (यथायथा शून्य) के बीच की एक दुर्लभ दशा है।

हम इस चर्चा के आरम्भ बिन्दु की ओर लौटकर देखते हैं कि सत्य के अब लोकन में दत्तचित्त रहने की स्थिति को दार्शनिक प्रकृति कहते हैं और अब हमें विदित हुआ है कि दार्शनिक प्रकृति उस नित्य एकत्व की शोध में निरत है जो साधारणतया अनुभव में विविध रूपों की सहति से फलित हुआ जान पड़ता है। स्पष्टतः हमारा साधारण अनुभव पृथक्-पृथक् दृश्यमान अगणित पदार्थों में ही दृष्टी भूत होता है। किन्तु चिन्तन के फलस्वरूप हम विवेक होकर देखते हैं कि परिपूर्ण यथायथा का बोध को इन नाना रूपों से मत्तुष्ट नहीं किया जा सकता। अतः हम ऐसे सिद्धान्त, विधि अथवा एकत्व की खोज के लिए विचिन हो जाते हैं जो हम नानात्व के भूल में है। हम समझते हैं कि अत्येक व्यक्ति किसी न किसी दृष्ट

तक इस स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ हम मानना होगा कि 'याय' किसी कानून के कारण प्रकट नहीं हुआ है और उस कानून के नष्टप्राय होने पर 'याय' निमूल नहीं हो जायगा। इसी के साथ यह धारणा स्पष्ट होनी है कि कोई अमाधारण स्थायी 'याय' सिद्धांत अवश्य है जो समाज के कानूनों और रीति नीति का मूलोपासक है। भौतिक विज्ञान इस सच्चाई का बहुत बड़ा साक्षी है। भौतिक घटनाओं में सबसे पहले हम यही समझना जरूरी है कि भार या वजन जसी वस्तुएँ सापेक्ष हैं। जिस सत्य के स्पष्ट और समग्र बोध को हम सब सहज स्वीकार करते हैं उसी को प्लेटो दग्न की संज्ञा देता है। प्लेटो के अनुसार दान्तिक भस्तिष्ण की कल्पना को सत्य में वह प्रणाम करेंगे जो निरंतर उन तत्त्वों अथवा मूलभूत नियमों या ऐनयभावों के साथ निरंतर रहती है जिसे हम अपनी अनुभव की विविधता का व्यापार समझते हैं।

हम अपने चित्त की जिस वृत्ति का विज्ञान के नियम और नीति सिद्धांत का नाम देकर प्रकट करते हैं उसी के समान प्लेटो के रूपों की कल्पना है। उसका विवरण को नैतिक सौंदर्यात्मक और भौतिक कल्पनाओं में समानरूपेण प्रयुक्त किया जा सकता है। प्रत्येक प्रकार का रूप-अविराम गति से माना आकृतियों में प्रकट होता रहता है और विज्ञानविद इसी विविध्य के बोध की निरंतर गति में अनुरक्त है। साधारण बुद्धि को ईद्रियग्राह्य ससार जितना सत्य जान पड़ता है उससे बहुत कम अथवा अमर्य उसको विज्ञानविद की वस्तु रिषयक यथायथा लगती है। किंतु विज्ञान की दृष्टि में उभरनवाला जगत जिस प्लेटो रूपसदृश का नाम देता है वास्तव में अधिक सुबोध ढंग से पहचाना हुआ वही ससार है वह कोई दूसरा भूठा और बनावटी ससार नहीं है।

इस परिच्छेद में प्लेटो रूपों के पाय और देह के परस्पर आदान प्रदान की बात उठाता है। उसके इस ध्यान को सरल ढंग में इस प्रकार रख सकते हैं यदि न्यायकर्मजम किसी काय का उदाहरण लें तो सहज ही समझ में आ जायगा कि वह सम्पूर्ण 'याय' नहीं है। वह अ-याय कर्मों की सगति में 'याय' का एक अंशमात्र है। 'याय' एक संचरणशील तत्त्व समक्षिय जिसमें अनेक प्रकार के कर्म और 'यत्ति' प्रवृत्त होते हैं और जिनके नम प्रकार कायगत होने पर भी याय 'यूनाधिक' नहीं होता अथवा उसकी मूलवृत्ति संशोधित या मर्यादित नहीं होती। इसे ठीक उसी तरह की क्रिया मानना चाहिये जिस तरह जनमण्डल के सवहित कारी काय में उसके सभी जन हाथ बटाते हैं परंतु वह काय इस प्रकार के सहयोग से कम बढ़ नहीं होता संकुचित नहीं होता और समस्त जना में उस हितावह

काय की रूपरेखा तथा ध्येय समरस बना रहता है। जिस अभिप्राय से रूपों के परस्पर सम्बादनीय होने की बात कही गयी है। इस सन्दर्भ में उसका अर्थ अलग है। किसी भी निश्चित क्रम, व्यक्ति अथवा वस्तु का लीजिये तो विज्ञान जानता है कि वह अनेक विभिन्न मिश्रणों अथवा रूपों या विधाओं का संगम है। कोई विशिष्ट क्रम, शुद्ध यापशील वही नहीं होता, इसके अतिरिक्त उसमें दूसरे गुण सर्वत्र विद्यमान होते हैं यहाँ तक कि वह अतन्त अपायमूलक हो सकता है। अब हमी क्रम के स्वरूप में 'याय, अयाय और दूमरे रूप एकत्रित होते हैं और परस्पर संचार करते हैं। प्लेटो 'सोफिस्ट' (Sophist) में बताना है कि वसा निरूपण उपलब्धि अपने आपका जिस प्रभावी ढंग से प्रतिष्ठित करती है उससे यही धारणा पुष्ट होती है कि कुछ रूप इसी प्रकार परस्पर सम्बादनीय होते हैं और कुछ ऐसे रूप हैं जिनमें सम्बाद का संव्यास अभाव है।

प्लेटो जागृतावस्था से स्वप्नावस्था के वैपम्य का उदाहरण देकर सत्य की स्पष्ट और सम्पूर्ण इन्द्रियग्राह्यता (रूप की इन्द्रियग्राह्यता) तथा इससे विपरीत अवस्थित इन्द्रियता का भेद समझाता है। साधारणजन की 'याय स्वप्न के समान है—और कई वस्तुएँ भी उसे इसी तरह समझती हैं। स्वप्नदशा में मनुष्य जो देखता है, वह यथाय वस्तु के सदृश होने के कारण उस समझता है कि उसने यथायत वह वस्तु ही देखी है अथवा वह एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आभास मात्र होता है क्योंकि स्वप्नदशा में उसे सत्य का भ्रम सृजना गयी है। प्लेटो के मतानुसार साधारणजन विशेष प्रकार के 'याय-मूलक कानूनों और कार्यों की ही याय मिश्रण समझ बैठता है। तबिन इस कथन से प्लेटो का अभिप्राय क्या है? यदि हमसे पूछा जाये कि 'याय क्या है तो हम एकाएक परिचित कार्यों उपदेशों अथवा संस्थाओं के दृष्टान्त देने लगेंगे। जैसे इन प्रकार के हमारा साक्षात्कारी ही है क्योंकि इन्हीं में हमारी दृष्टि 'याय का प्रकट रूप देखती है। लेकिन यदि इसी उदाहरण को मानकर चलें तो जो मनुष्य कुछ निश्चित कानूनों की ही 'याय समझ लें उन कानूनों के निरर्थक या अपायमूलक मिश्रण हो जाते हैं वह दुर्निवार संकट में फँस जायेगा। यही कारण है कि मनुष्य जाति सदैव एक सिद्धांत की गोज में रही है जो सांसारिक परिवर्तना से अलग रहकर अलग बन रहने हैं। विद्वान से जनमानस इसी विश्वास की दोहरीता आया है कि कानून भले बदलते रहें परन्तु 'याय बराबर 'याय ही बना रहेगा। इसलिए यदि मनुष्य का आचरण इस सिद्धांत के अनुसार हुआ कि सुपरिचित कार्यों की ही याय है तो एक विविध स्थिति हो जाती है। जब उसे मालूम होता है कि अमुक क्रम

‘याययुक्त है सविन वह न्याययुक्त कम स भिन्न नियायी देता है तब वह उसको ‘यायसगत नहीं समझता क्योंकि उसने नित्त म ‘याय-भूचन’ कम की धारणा बिलकुल अलग है। इस मामले म वह ऐसी मनादगा का मनुष्य है जो ध्यायात्मक, सतहा तौर की समानता को ही समग्र यथायता मान बैठता है। इसीलिए प्लेटो का यह आपह सायक है कि ‘यायोचित कम याय नहीं है बरन् ‘यायाभास है।

२ इस विवाद का अगला भाग पूर्ववर्ती चर्चा की कमी को पूरा करता है। इसम नतिक आधार पर अधिक बल दवर दानिक प्रकृति की कल्पना को विव पित किया गया है। अभी तक प्लेटो न इस प्रकृति का सामान्य विवरण दिया है। यही वह उन सक्षणा की व्याख्या करने का यत्न करता है जो नतिक आधार के कारण इस प्रकृति म उसे अतनिहित जान पड़त हैं। यदि प्लेटो का अनुमान सही है और उसके अनुसार दानिक प्रकृति का स्वरूप निश्चित मान लिया जाये तो प्लेटो दृढतापूर्वक कहना चाहता है कि दानिक प्रकृति को समाज म सर्वोपरि आसन निया जाना चाहिये।

हम इस निष्प पर पट्टक हैं प्रथम, दानिक प्रकृति म वस्तु जगत का ज्ञान पान की अनगल बुभुक्षा है, द्वितीय, ज्ञान की खाज के अयाय सजातीय रूपा से इसम विगयता यह है कि इन्द्रियाँ जिन भासमान विविधतायुक्त और परिवर्तनशील रूपा का अनुभव करती हैं उनम दानिक प्रकृति निरन्तर अन्त सूत्र या सिद्धांत को पहचानने का प्रयास करती है। इसके साथ यह प्रश्न उठता है कि हम निष्प स दानिक प्रकृति की शासकीय योग्यता किस प्रकार प्रमा वित होती है? यह प्रश्न हम फिर सद्गुणी या कुगन शासक अथवा अभिभावक क लक्षणा की व्याख्या पर विचार करने क लिए बाध्य करता है।

किसी वस्तु को रखने या उसकी रक्षा करन क लिए हमें उसकी स्पष्ट धारणा होनी चाहिये। इसी कारण जो मनुष्य बानून और सस्थाआ की रक्षा और आवश्यकतानुसार उनम परिमाजन करन के लिए उत्तरदायी हो उसे अधा नहीं होना चाहिये। उसके ज्ञानचक्षु किसी निश्चिन् प्रणाली या सिद्धांत को स्पष्ट देखने म समथ हा तानि वह यथायत याय और कालोचित कतव्य का निणय कर सके तथा विद्यमान सस्थाआ म परिवर्तन की आवश्यकता हाने पर उस सिद्धांत का उपयोग किया जा सक। प्लेटो क कथन को धाडे विस्तार म समझ लेना चाहिये। जब तप राज्य विस्तार के मन म अपन अभीष्ट क आधार भूत सिद्धांत का स्पष्ट बोध नहीं हागा तब तक वह विद्यमान व्यवस्था की विफलता पहचानने और उसका पुनरुद्धार करने म असमथ रहेगा। अतएव शासक म

रूपों या मिथ्यान्तों की स्पष्ट ग्रहणक्षमता मूलतः महत्त्वपूर्ण है। जिस मनुष्य में यह सिद्धांतबोध रहता है वह अनुभव के सतत लाभ से वृद्धाल गायन की आवश्यक गुणराशि में सम्पन्न होता रहेगा। अनुभव वह ज्ञान है जो किसी प्रयोजन या काम के निरन्तर अभ्यास से अर्जित किया जाता है चाहे वह उचित हो अथवा अनुचित। वह अत्यधिक मूल्यवान् हो सकता है अत्यधिक निरर्थक भी हो सकता है। कभी-कभी अनुभव विमोक्षस्तु या काम के सन्तुष्टि या उपजे ज्ञान का श्रोतक होता है और उसे सिद्धान्तों के ज्ञान से उसी प्रकार भिन्न समझना चाहिये जिस तरह वाचा वाक्य प्रमाणम्, विज्ञान के नियमास विपरीत है। कभी कभी अनुभव का मतत्वं अभ्यासजनित यथाय परिचय भी सम्पन्न होता है। इन्हीं तरीकों से सिद्धांतज्ञान की सभी जरूरी बातों का व्यापार मिलता है क्योंकि जब तक मनुष्य जीवन के अटट व्यापार में सिद्धांत के सूत्रों का ग्रहण नहीं करता और उसे इस विस्तृत वस्तु सत्तार में प्रयुक्त नहीं करता तब तक कोई मनुष्य सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं कर सकता। सिद्धान्तों का सम्पूर्ण ज्ञान वस्तुओं के सविस्तार ज्ञान की मूलभूत अवस्था है। प्लेटो इस सत्य से अभिभूत है और सतत अध्याय में उसने दार्शनिक शिक्षा की अपनी योजना को निरूपित किया है। जिन्हें प्रमुख राज्य विचारक बनना है उनका पतीस में पचास वर्ष की आयु के पंद्रह वर्ष केवल अनुभव प्राप्ति के इस विनिष्ट प्रयाजन में समाना चाहिये। किन्तु यहाँ भी प्रबल आग्रह इसी पर है कि राज्य विचारक निरन्तर सिद्धांतों को ध्यान में बनाये रखे। इस सर्वोपरि चिन्तन के अभाव में अनुभव निरर्थक है।

अब केवल इस बात का साफ और करना है कि दार्शनिक प्रकृति में नैतिक और बौद्धिक जस दूसरे गुणों का सम्भावना रहता है अथवा नहीं जिनसे प्रज्ञान तथा महान् चरित्र गढ़ा जाता है। इस द्वितीय अध्याय में उल्लिखित प्रश्न के समान ही मानना होगा कि भावनातत्त्व का विनियोगितना के साथ निवाह सम्भव है या नहीं—यह प्रश्न विचारणीय था। प्लेटो ने कहा निषेध किया था कि यदि एक गुण वास्तविक है तो दूसरे का आशय उसमें निहित है। यहाँ भी उसका उत्तर इसी के समान है। प्लेटो मानता है कि यदि सत्य के प्रति सहज स्नेह है, तो इसी में उन समस्त सदगुणों का आविर्भाव होता है जो उसकी धारणा के अनुसार मानव-स्वभाव की पूर्णता के अंग हैं। वह दार्शनिक प्रकृति के सारभूत तत्त्व का नये निरे से वर्णन करता है। दार्शनिक प्रकृति में यथायथा की कामना, उसका सामीप्य का आवेश तथा स्थायी नियमों अथवा वस्तु-जगत के सिद्धान्तों के साथ समरस होने की उत्कट आकांक्षा रहती है। ऐसी प्रकृति के मनुष्य की

‘याययुक्त है सविन वह ‘याययुक्त ब्रह्म से भिन्न स्थायी देता है तब वह उसको ‘यायसंगत नहीं समझता क्योंकि उसने चित्त में ‘याय-मूचक ब्रह्म की धारणा बिलगुल अलग है। इस मामले में वह ऐसी मनोऽन्गा का मनुष्य है जो ध्यायात्मक, सतही तोर की समानता को ही समग्र यथायता मान बैठता है। इसीलिए प्लेटो का यह आग्रह सार्थक है कि ‘यायोचित ब्रह्म ‘याय नहीं है परन्तु ‘यायाभास है।

२ इस विवाद का अगला भाग गूढवर्ती चर्चा की बर्मी को पूरा करता है। इसमें नतिव आधार पर अधिव दस दशर दानिक प्रकृति की कल्पना को विव सित किया गया है। अभी तक प्लेटो ने इस प्रकृति का सामान्य विवरण दिया है। यही वह उन लक्षणा की व्याख्या करने का यत्न करता है जो नतिव आधार के कारण इस प्रकृति में उसे अतनिहित जान पड़त है। यदि प्लेटो का अनुमान सही है और उसने अनुगार दानिक प्रकृति का स्वरूप निश्चित मान लिया जाये तो प्लेटो दृढतापूर्वक कहना चाहता है कि दानिक प्रकृति को समाज में सर्वोपरि आसन दिया जाना चाहिये।

हम इस निष्पत्ति पर पहुँच हैं प्रथम दानिक प्रकृति में वस्तु जगत का ज्ञान पाने की अनगल बुभुक्षा है, द्वितीय ज्ञान की खोज में अयाय सजातीय रूपों से इसमें विनयता यह है कि इन्द्रियाँ जिन भासमान विविधतायुक्त और परिवर्तनशील रूपा का अनुभव करती हैं उनमें दानिक प्रकृति निरन्तर अत सूत्र या सिद्धांत को पहचानने का प्रयास करती है। इसके साथ यह प्रश्न उठता है कि इस निष्पत्ति से दानिक प्रकृति की शासकीय योग्यता किस प्रकार प्रभा वित होती है? यह प्रश्न हम फिर सदगुणी या कुगुन शासक अथवा अभिभावक के लक्षणा की व्याख्या पर विचार करने के लिए बाध्य करता है।

किसी वस्तु को रखने या उसकी रक्षा करने के लिए हम उसकी स्पष्ट धारणा होनी चाहिये। इसी कारण जो मनुष्य कानून और संस्थाओं की रक्षा और आवश्यकतानुसार उनमें परिमाणन करने के लिए उत्तरदायी हो उसे अधा नहीं होना चाहिये। उनके ज्ञानचक्षु किसी निश्चित प्रणाली या सिद्धांत को स्पष्ट देखने में समर्थ हो ताकि वह यथायत ‘याय और फालोचित वस्तु का निणय कर सके तथा विद्यमान संस्थाओं में परिवर्तन की आवश्यकता हान पर उस सिद्धांत का उपयोग किया जा सके। प्लेटो के कथन को थोड़े विस्तार में समझ लेना चाहिये। जब तक राज्य विचारों के मन में अपने अभीष्ट के आधार भूत सिद्धांत का स्पष्ट बोध नहीं होगा तब तक वह विद्यमान व्यवस्था की विफलता पहचानने और उसका पुनर्र्धार करने में असमर्थ रहेगा। अतएव शासक में

रूपों या सिद्धान्तों की स्पष्ट ग्रहणक्षमता मूलतः महत्त्वपूर्ण है। जिस मनुष्य में यह सिद्धान्तबोध रहता है वह अनुभव के सतत लाभ से कुशल दास्य की आवश्यक गुणराशि में सम्पन्न होता रहेगा। अनुभव वह ज्ञान है जो किसी प्रयोजन या काम के निरन्तर अभ्यास से अर्जित किया जाता है चाहे वह उचित हो अथवा अनुचित। वह अत्यधिक मूल्यवान् हो सकता है अत्यधिक निरर्थक भी हो सकता है। कभी-कभी अनुभव किसी वस्तु या काम के सतही या उथले ज्ञान का धोखा होना है और उस सिद्धान्त के ज्ञान से उभी प्रसार भिन्न समझना चाहिये जिस तरह वायु वाक्य प्रमाणों विज्ञान के नियमों से विपरीत है। कभी कभी अनुभव का मतलब अभ्यासजनित पचाप परिचय भी समझा जाता है। इसी तरीके से सिद्धान्तज्ञान की सभी जरूरी चीजों का ध्योरा मिलता है क्योंकि जब तक मनुष्य जीवन के अटट ध्यारे में सिद्धान्त के सूत्र को ग्रहण नहीं करता और उसे इस विस्तृत वस्तु संसार में प्रयुक्त नहीं करता तब तक कोई मनुष्य सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं कर सकता। सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान धनुषों के सन्निहित ज्ञान की मूलभूत अवस्था है। प्लेटो इन सत्य से अभिभूत है और सतत अध्याय में उनका दार्शनिक शिक्षा की अपनी याजना को निरूपित किया है। जिन्हें प्रमुख राज्य विचारद प्रेरणा है उनको पतीम में पचाप वय की आयु के पन्द्रह वर्ष केवल अनुभव प्राप्ति के इस विनिष्ट प्रयोजन में लगाना चाहिये। किन्तु यहाँ भी प्रवल आग्रह इसी पर है कि राज्य विचारद निरन्तर सिद्धान्तों को ध्यान में बनाये रखे। इस सर्वोपरि चिन्तन के अभाव में अनुभव निरर्थक है।

अब केवल इन बातों को साफ और करता है कि दार्शनिक प्रकृति में नैतिक और बौद्धिक जैसे दूसरे गुणों का समावेश रहता है अथवा नहीं जिनसे प्रशस्त तथा महान् धरिय गढ़ा जाता है। इस द्वितीय अध्याय में उत्तिखित प्रश्न के समान ही भावना होगी जहाँ भावनातत्त्व का विनयशीलता के साथ निर्वाह सम्भव है या नहीं—यह प्रश्न विचारणीय था। प्लेटो ने यहाँ निम्न किया था कि यदि एक गुण वास्तविक है तो दूसरे का आशय उसमें निहित है। यहाँ भी उसका उत्तर इसी के समान है। प्लेटो मानता है कि यदि सत्य के प्रति सहज स्नेह है, तो इसी से उन समस्त सदगुणों का आविर्भाव होता है जो उसकी धारणा के अनुसार मानव स्वभाव की पूरता के अंग हैं। यह दार्शनिक प्रकृति के सारभूत तत्त्व का नये सिरे से वर्णन करता है। दार्शनिक प्रकृति में यथायता की कामना, समक मायीय का आवेश तथा स्थायी नियमों अथवा वस्तु जगत् के सिद्धान्तों के साथ समरस होने की उत्कट आकांक्षा रहती है। ऐसी प्रकृति के मनुष्य की

दृष्टि में कोई वस्तु पट्टन के परे बना नहीं है और न कोई वस्तु अत्यन्त तुच्छ है क्योंकि प्रत्येक वस्तु साथ का पथ-संकेत करने में समर्थ है। उस स्वभाव में मिथ्या के प्रति सहज घृणा हुआ करती है। आत्ममय में अपन-आप टूट होता है क्योंकि सत्य की प्रीति में एक विचित्र मन्ती रहती है। यह एक प्रकार की क्षुधा है। जब मनुष्य की बुभुक्षा शिमी दिना में उत्कट भाव से गतिशाल हो जाती है, तब दूसरी इच्छा उस क्षण के समान अशक्त हो जाती है जिसका प्रवाह अन्य दिशा में मोड़ लिया गया हो। इस प्रवृत्ति के साथ किसी प्रकार की अधमता ईर्ष्यालुता अथवा मुद्रता का कार्य भेन नहीं हो सकता क्योंकि उसके मूलभाव में मदव व्यापक प्रमाण मानवी और दबी विस्तार की प्रवृत्ति सचेत रहा करती है। धन अथवा साहस तो उसमें होता ही है क्योंकि मृत्यु भय उसे छूता तक नहीं। वह ऐसा मस्तिष्क है जो मानव जीवन का विराटता का एक स्वल्पांश मानता है और जिसकी दृष्टि ममग्र काल तथा सम्पूर्ण सत्ता की ओर लगी है। तब माय की सहज प्रतीति में बाधा हो क्या रही क्योंकि जिसे भय तृष्णा अथवा इन्द्रियभोग प्रभावित नहीं कर सकते उसको भला कौन मायच्युत कर सकता है? ऐसी प्रवृत्ति की रचना में बौद्धिक गुणा का भी बहुत हाथ हाता है। वह आशुमध और स्थिर बुद्धि हाता है क्योंकि जिस त्रिद्याभ्यास निरन्तर चलकर हो वह पानप्रेमी कमे हो सकता है? उसमें एक प्रकार का मानसिक संतुलन रहता है अथवा वह नियतमानस हुआ करता है। इस गुण के कारण वह सहजभाव से वस्तुजगत की प्रकृति के अनुरूप आचरण करना जानता है। (प्लेटो) ज्ञान के क्षेत्र में कर्त्ता और कर्म के सम्बन्ध का दा वस्तुओं के सजातीय साम्य की भाँति अंकित करना पसन्द करता है। वह बराबर इसी ढंग से कहता है कि जो आत्मा सरलतापूर्वक ज्ञान सचय कर सकती है वह वस्तुजगत के साथ प्रबलत ओर स्वभावतः समरस होती है। जानाजन, अपने मस्तिष्क को वस्तुसमार्थ के अनुकूल करना ही तो है। जानाजन में प्रत्येक व्यक्ति को विदित होता है कि मस्तिष्क कुछ बातें तुलनात्मक दृष्टि से सरलतापूर्वक अनुकूल पाता है यद्यपि अधिक वस्तुएँ कष्टसाध्य होती हैं। जो मस्तिष्क समानुपातिक होता है उसमें अधिकतम वस्तुओं के साथ मेल या अनुकूलना की तत्परता हुआ करती है। सोफिस्ट (Sophist) में बताया गया है कि आत्मा दो प्रकार के दोषों या दुगुणों से ग्रस्त हो सकती है जो दहिक रोग और दहिक विकृति के समान हैं। पहला दुःयसन या पाप है दूसरा अनान। इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह आत्मा की एक दशा है जिसमें विचार का आवेश तो है परन्तु विचार लक्ष्यभ्रष्ट हो जाया करता है क्योंकि आत्मा

और सत्य के बीच मानसिक स तुलन या मुड़ीलपन का अभाव है, अज्ञान मानसिक अनुपातरहित द्वा है। परन्तु दार्शनिक प्रकृति की सज्जप्रवृत्ति वस्तुओं को ग्रहण करना है और उनके रूप तथा मूलभाव के साथ मगति है। इस व्याख्या के पश्चात् प्लेटो विद्वत्समूहक अपनी धारणा का व्यक्त करता है कि ऐसी दार्शनिक प्रकृति स सम्पूर्ण व्यक्ति को कौन राज्य-संचालन का भार सौंपने में आगापीछा करेगा अतः एव प्रकृति में ऊपर गिनाये सभी गुण लक्षणों का अनिवार्य समावेश हो।

प्लेटो ने दार्शनिक प्रकृति की अपनी धारणा के अनुसार उसका मागोपाग वर्णन किया है। यह सदात्मपूर्ण आदर्श प्रकृति का चित्र है अर्थात् मानव स्वभाव का ऐसा विवरण है जो सम्पूर्ण गुणसम्पन्न और उन गुणों का व्यावहारिक रूप देने में स्वच्छ है। माना कि हम दार्शनिक राज्य के उपयोग में जो आशय समझते हैं उससे प्लेटो की दार्शनिक प्रकृति विषयक कल्पना भिन्न है। परन्तु 'रिपब्लिक' में आरम्भ से ही आत्मा में दार्शनिक तत्त्व तक क्रमिक विकास का जो वर्णन दिया गया है वह प्लेटो की दार्शनिक प्रकृति के लक्षणों से बराबर मेल खाता है। प्लेटो के अनुसार इस तत्त्व की कल्पना का मूलभाव आत्मा में निहित है जो उस अपनी सीमा से परे जाने की और उस वस्तुतत्त्व में युक्त होने की प्रेरणा देता है जिसका वह मगोत्री है। अतएव वह मनुष्य के अन्तःकरण में स्थित गता स्रोत है जिसमें विभिन्न प्रकार के गुण प्रस्फुरित होते हैं। यह विनम्रता और समाजप्रियता का स्रोत है जिससे मनुष्य का मनुष्य से परिचय होना है और उनमें परस्पर एकता की भावना बनती है। सौम्य प्रेम का स्रोत भी यही है जिसमें साहित्यिक तथा कलात्मक गुरुत्व का भी समावेश है। जो सुन्दर है आत्मा उसमें अपने ही स्वरूप की छलक देखती है और उसका सम्मुख वह आत्मीयता पाती है। अतः वह गत्य प्रेम का स्रोत है जिसका अर्थ बाधकृति और दृश्यमान जगत से समरसता है। यद्यपि साधारण ज्ञान मनोविज्ञान प्लेटो में महत्त्व नहीं होगा कि एक स्रोत से इन तीन विभिन्न वस्तुओं का स्फूर्तन हो सकता है तथापि बन्नेरे सुपरिचित तथ्य प्लेटो के कथन का स्पष्ट और प्रमाणित करते हैं। उदाहरणार्थ यदि हम दूसरे मनुष्य की सप्रेमता चाहते हैं अथवा चाहते हैं कि मनुष्य स्वभाव का बोध हो सके तो इसके लिए उसका प्रति हमारी सहानुभूति ही प्रमुख वस्तु है। सहानुभूतिरहित मनुष्य भूद मनुष्य है। मनुष्य-स्वभाव के महान पाता वही व्यक्ति हुए हैं जिनका समूची मानव जाति के साथ स्वैक्य था जो उनके प्रति सम्बेदनशील था। इसी तरह वस्तुओं के अध्ययन में चाहे व

नितांत भावात्मक ही क्या न हो हम सभी प्रगति कर सकते हैं जब उनकी ओर हमारा लगाव हो, उनमें रुचि हो और यह रुचि भी सहानुभूति का ही एक प्रकार है ।

सारांश यह है कि मनुष्य के भीतर का दार्शनिक तत्त्व प्रमुखतः मानवी तत्त्व है । इसी व कारण मनुष्य को मनुष्य कहते हैं । अतः उसका आशय है—पूण मनुष्यत्व या पूण मानवता, सबगुण सम्पन्न मनुष्य स्वभाव । इस कल्पना के समान उदाहरण धार्मिक विचारों में मिलते हैं । यूटेस्टामण्ट में ईश्वर प्रेम और मनुष्य प्रेम का चित्रण किया गया है जिसके फलस्वरूप समस्त गुणों का प्रादुर्भाव होता है और पूण मानव विवर्तित होता है । दशन में समस्त गुणों की निष्पत्ति प्लेटो की कल्पना है जिसके समक्ष स त पाल दया या करुणा के द्वारा समस्त गुणों के प्रकट होने की धारणा व्यक्त करता है । सच तो यह है कि दशन की कल्पना में वैज्ञानिक और धार्मिक दोनों भावों के अपने उत्कृष्ट रूप में सन्निहित हो जाते हैं । प्रकृति के नियमों से समस्त होने की कामना और प्रकृति के अनुकूल जीवनयापन की इच्छा इसका मूलभाव है । प्लेटो की दृष्टि में मान्यता है कि ईश्वरीय प्रेमा ने विश्व का सृजन किया है । इसलिए प्रकृति के साथ एकरस होने का आशय है—ईश्वर से एकरस होना । यही कारण है कि वह इस बात को धार्मिक भावना की भाँपा में व्यक्त करता है ।

३ दार्शनिक प्रकृति में शासन की योग्यता है—इस प्रामाणिक तथ्य का विरोध एडीमण्ट्स ने ठीक उसी तरह किया है जिस तरह 'रिपब्लिक' का प्रत्येक पाठक करना चाहेगा । वह कहता है कि यह बात काफी तकसगत जान पड़ती है परन्तु सभी तथ्य इसके विपरीत हैं । यदि आप दशना में रहनेवाले व्यक्तियों को ध्यानपूर्वक देखें जो शिक्षा के उद्देश्य के अतिरिक्त दशनशास्त्र का अध्ययन किया करते हैं तो इस अध्ययन के कारण श्रेष्ठ दशनना भी सबका अनुपयोगी सिद्ध होते हैं और बहुसंख्यक दशनना सनकी या बदनाम हो जाते हैं । यही बात धार्मिक भावना के विषय में भी इतनी ही सच्चाई के साथ कही जा सकती है । कुछ लोग कहना चाहेंगे कि ईश्वरीय प्रेम के नाम पर जो सत्तपन पनपता है, उससे मानवजाति को कोई लाभ नहीं होता अथवा ईश्वर भक्ति के उद्देश्य में महत्वाकांक्षा क्रूरता घमाघात या निकृष्ट रूप में पाखण्ड और प्रवचना का समावेश हो जाता है ।

मुकरात दशनना के बारे में कथित आरोपों का खण्डन करने के बजाय उन्हें सहज स्वीकार कर लेता है । इसी बातों की सत्यता से प्रेरित होकर वह कहता

दान तथा राज्य

है कि वम और वित्त (विचार विमर्श) के सम्बन्ध विन्देद्र के फलस्वरूप मानव जाति को सारे दुष्कर्म या पाप भोगने पड़ने हैं। वह उनके विषय में स्पष्टीकरण देने का प्रयत्न करता है। बहुत थोड़े से मनुष्य दानार्थ अनुपयोगी होते हैं दान निक प्रकृति के मौमाग्यशाली अधिकांश दानार्थ अष्टाचारी हुआ करत हैं और प्रपची लोग दानार्थ का नाम धारण कर ठगा करत हैं।

प्लेटो शुरू में हमारे समक्ष थोड़े से सच्चे दानार्थों की दशा का चित्र जहाज के रूपक में प्रस्तुत करता है। इस रूपक में ऐसे-सवासी—जनजहाज का स्वामी है, बहो नाविक है और राज्यसत्ता उमरी है—तथा बहो सर्वेसर्वा है। प्लेटो का ध्यान देना योग्य है, जहाज में वह सबसे बड़ा और बलशाली मनुष्य है परन्तु वह बड़ा और अदूरदर्शी है नौविद्या में वह अनभिज्ञ है। फिर भी वह सम्पूर्ण व्यक्ति है उसका हृदय निमल है। आगे वह जनता के सम्बन्ध में जो कुछ कहना है, उसमें इसका मिलान पर लेना चाहिये 'उनके साथ बठोरता का बर्ताव मत करो। यह उनका दोष नहीं है कि वे दान की बुराई करते हैं क्योंकि उन्हें इसका सच्चा अर्थ बताने का कभी यत्न नहीं किया गया।' जन्म और बुद्धि से स्वयं अभिजात्य होने के कारण प्लेटो जनता के प्रति कुछ दयाभाव कुछ सहानुभूति का प्रदर्शन करता है। वह राजनीति और दशनशास्त्र के दुष्टताधिकारी से घृणा करता है। लोकमन के नेता और राज्य विचार ही उस जहाज के नाविक हैं। उनका सिद्धान्त यही है कि जहाज खेन के लिए नाविक-कला सीखने की बाई जरूरत नहीं है बल्कि वे मानते हैं कि नाविक-कला सबकुछ में है जो सैद्धांतिक ज्ञान और आदेश-दयता दोनों प्रकार की योग्यता रखता है और यही व्यक्ति सच्चे दानार्थ का प्रतीक है। जहाज में दूसरे यात्री उसे आकाश में तारे गिननेवाला समझते हैं। दानार्थ की अनुपयोगिता का यही सरल स्पष्टीकरण है। वह इसीलिए अनुपयोगी है क्योंकि समार उसका उपयोग नहीं करना चाहता। प्लेटो कभी इसे स्वाभाविक नहीं समझता कि चिकित्सक अपने नागरिक बन्धुओं के पास जाकर कहता कि 'मुझे तुम्हारी चिकित्सा करने दो। स्वाभाविक सम्बन्ध तो यह है कि जिन्हें कुछ जरूरत है वे उसके पास जायें जो कुछ दे सकता है।

किन्तु सच्चे दानार्थ की यह अनुपयोगिता राज्य के नष्ट भ्रष्ट होने के कारणों में सबसे शीघ्र है। अत्यन्त गम्भीर कारण उन बहूनेरे मनुष्यों का नतिक पतन है जिन्हें दान विद्या की सहज देन है। इसका वर्णन करने के पहले प्लेटो फिर

दागनिक प्रवृत्ति विषयक अपनी धारणा का आधार होता है। पूर्ववर्ती चर्चा में इसके सम्बन्ध में जो कुछ कह चुका है उसी का अधिक ओजस्वी भाषा में फिर रखता है। दागनिक प्रवृत्ति का सारभूत प्रयाजन यही है कि उसमें दृश्यमान विविधता के अन्तरंग में झाँकने का अदृश्य आवरण रहता है और इस प्रकार वस्तुतत्त्व तक पहुँचने का वह प्रयास है। आत्मा और वस्तुतत्त्व में निश्चित प्रकार की सजातीयता है और दागनिक प्रवृत्ति तब तक चैन नहीं लेता जब तक आत्मा अपनी मूलवस्तु के साथ एकाकार नहीं हो जाता। फिर क्या कारण है कि दागनिक प्रवृत्ति के बहुततर तान पथ भ्रष्ट हो जाते हैं ? उसका स्वभावगत गुण ही उसके विनाश में सहायक होता है क्योंकि य उसका वास्तविक जीवन दान से हटाकर पार्थिव वस्तुओं में ही उस भटकता और अन्धता लेने है। सोन्दर्य, शक्ति, सम्पदा तथा सत्तात्मक सम्बन्ध सूत्रों जमी जीवन की वृद्धिमुष्ण वस्तुएँ उसके सहारा में योग देती हैं। अगर हम इस घटना का सामान्य प्राणिजगत के व्यापार का एक अंग मानकर समझें और अन्धकार जीवों के समान आत्मा की भी मानें तो इस प्रक्रिया का ठीक अनुमान हो सकता है। समार की सभी वस्तुएँ जीवन धारण के लिए एक परिवर्ण में रहने की विवर्ण हैं और उसी के अनुरूप उनका सम्बन्ध होता है। अशक्त जीवों की अपना प्रतिकूल जाहार से बलिष्ठ जीव अधिक गम्भीर दुष्परिणाम के भागी हुआ करत हैं। अन्ध नरह प्रकृतिवत् उत्कृष्ट गुणगाली आत्माएँ दूषित वातावरण में अत्यधिक आहत होती हैं। समार के भीषण अपराधी व्यक्ति निबल अथवा शुद्ध प्रवृत्ति के लोग नहीं थे, वे महान प्रकृति के भ्रष्ट रूप थे। इस स्थिति का मान तब के बाद हम यह जानना होगा कि हमारी कल्पना की दागनिक आत्मा का जन्म किस प्रकार के परिवेश में हुआ। उसका जन्म लोकमत के वातावरण में हुआ और यह लोकमत उसे विधान सभा में "यायान्या में नाथ्यगृहो में सेना में—प्रत्येक स्थान में जहाँ मनुष्य एकत्र होते वहाँ हैं मिलता रहता है। यह लोकमत अजय और अनुत्तरदायी है। कोई व्यक्तिगत आत्मा लोकमत में अपनी स्वतन्त्रमति को प्रतिष्ठित नहीं कर सकती जब तक उस प्रवृत्ति की कोई अलौकिक ऐन न हो। यह लोकमत कानून का मूलस्रोत है, ध्यावहारिक दृष्टि से इससे बड़ा शिक्षादाता दूसरा नहीं हो सकता और कहने योग्य कोई दूसरी शिक्षा है भी नहीं। लोकमत ही एकमात्र महान कुतक पण्डित है और जिन नौसिखिय लावा पर तरणा का पथभ्रष्ट करने का दोष लोकमत मढ़ता है वे वास्तव में उसी समाज के मूल आदेशों को सूत्रबद्ध करते और दोहराते हैं जो उन्हें इस प्रकार लांछित करता है। इस प्रसंग में प्येता

दुष्टतांत्रिक के प्रति घृणास्पद कण्ठा के स्वर में बोलना है, उन्हें वह आतङ्कवादी जननता मानना है। इसमें पढ़ने वह जनममुग्ध की अज्ञान के स्वामी का प्रतीक बनना चुका है। वह उन्हें अब एक नीचकाय और विनिष्ट पशु के समान अंकित करता है जिसमें सत्प्रकृति की भाषा बहुत कम है परन्तु जिसको वह मनुष्य अस्वीकार नहीं मानना। अपने पालन को वह पशु तब तक हाथ रखने देता है जब तक कि उसकी तुल्यकामिता का ध्यान रखने हैं और उसे बहुलाने का हर तरह यत्न करने रहते हैं।

जनमत के सत्यार्थिन नेता इस प्रकार के मन की कवच मूलवद्ध करने हैं। जो कुछ वे बोलते हैं, उसका उन्हें कोई गान नहीं रहता। यद्यपि वे अच्छाई और बुराई, पाप और अपाप का भेदना करने हैं तथापि इस जनता की पक्षद्वी और नापक्षद्वी के दूसरे नाम में अधिक सावक नहीं समझना चाहिये। जनता सभी दशमता का भ्रष्ट नहीं हो सकती बरिष्ठ वह हमेशा दार्शनिक मिथ्याता को अविश्वसनीय मानेगी और उनका विश्वास करेगी। इस वातावरण में जन्म लेने के बाद दार्शनिक प्रकृति का क्या भविष्य हो सकता है चाहे उसे प्रकृतित्त सभी गुण भले ही प्राप्त हों।

इस प्रश्न का समाधान प्लेटो जिस परिच्छेद में करता है उसका संकेत अलकी बियासीड (Alcibiades) की ओर माना जाता है। निश्चित ही वह किसी मनुष्य की बात करता जान पड़ता है। हम जानते हैं कि सुकरात के विनिष्ट मित्रों में अलकीबियासीड भी एक था। सुकरात के लिए यह एक कलह की बात मानी जाती है कि उसके परम मित्र बुरी तरह पतित निकले। ऐसे के सामाजिक वातावरण में जन्म लेनेवाले व्यक्ति का विवरण दूर सुकरात कहता है। मान नीजिय कोई मनुष्य प्रकृति के वरदाता और वैभवशाली पुत्र के पाम जाकर यह सत्य प्रस्तुत करना है कि उसमें विवेकबुद्धि नहीं है उसे उपलब्ध करना उसके हित में है और इस प्राप्ति के लिए उसे सतत् परिश्रम करते रहना चाहिये। अब क्या होगा? यदि वह पुरुष ध्यान देकर इस परामर्श को सुनता है तो समाज के नेता तत्काल विद्रोह करने पर उद्यत हो जायेंगे और इस परामर्शदाता के प्रभाव को नष्ट करने के लिए प्रत्येक उपाय करने में कसर न रखेंगे क्योंकि उन्हें भय है कि वही इस 'गुमचिन्तक' के कारण वह गुणवत् पुत्र मर्यादित यत्नवान न हो जाय। समाजनायक इस सद्गुणी पुरुष का अपनी इच्छाओं की वृत्तपुनता बनाना चाहते हैं। इसी तरीके से जो मनुष्य प्रकृतित्त गुणों के कारण समाज के हितचिन्तक बन सकते थे वे सामान्यतः अपने महारक बन

जाते हैं। समाज अपने भावी श्रेष्ठ गुणों की कुछ अचेतभाव से और कुछ योजना पूर्वक पथभ्रष्ट किया करता है।

तीसरी बात यह है कि वही लोग दशन में विमुख हो जाते हैं जिन्हें उसके अनुयायी होना चाहिये। तथापि उसकी यश-पताका आज भी पहना रही है और दशनन की कीर्ति अनेक यक्तियों की महत्वाकांक्षा तथा प्रतियोगिता का विषय बनी हुई है। इस कथन से यह विदित होता है जसा आइसोक्रेटस (Isocrates) के विचारों से भी जाना जा सकता है कि एक युग था जब दशन विद्या के नाम पर मनुष्य समुदाय में युद्ध हुआ है। विभिन्न वर्गों के मनुष्य दशनन की उपाधि के लिए आतुरभाव से आकांक्षी हुए हैं क्योंकि इस उपाधि से मनुष्य का श्रेष्ठत्व चरितार्थ हुआ करता था। (अंग्रेजी भाषा में इसका पर्यायवाची नाम तो नहीं है परन्तु सस्कृति (Culture) के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का उत्तेजनापूर्ण आग्रह रहा है यद्यपि दशन के समान उस सम्भवशः सम्बन्धों का सौभाग्य नहीं मिला।) उन लोगों में प्लेटो का भी नाम है जो दशनन की उपाधि से विभूषित होने के अभिलाषी रहे हैं। दशन की सम्यक धारणा की प्रदर्शित करने के उद्देश्य से और उसे विकसित रूप देने के लक्ष्य से अभिभूत होने के कारण प्लेटो को दूसरे दशनशो का कोपभाजन बनना पड़ा था। भले सरकारी साहित्य में उसे दुष्ट साक्षिक (Sophist) कहा गया था और दशनन का नाम उसे वर्जित था परन्तु सचमुच प्लेटो ही के अटूट प्रयास का यह फल है कि दशनन शब्द में श्रेष्ठतम भावना का समावेश हो सका है। इसके बाद वह बहुत जोरदार विनात्मक शक्ती में अपात्र अभिलाषियों के द्वारा दशन शब्द के अपहरण का वर्णन करता है। रिपब्लिक में यह अत्यन्त व्यक्तिगत परिच्छेद है। हम ठीक तरह से यह नहीं मानूँ कि वह किस खास लोग की बात कर रहा है लेकिन उसके पाठकों को शायद उन यक्तियों की जानकारी होगी जिनके विषय में वह विचार कर रहा था। अनुमानतः वे लोग हल्के किस्म के बकीन और धितव्यवादी रहे होंगे जो अपने धर्म के रंग में बुरा तरह रंग हुए थे। प्लेटो के वर्णनानुसार उन लोगों की आत्मा उनके धर्म के कारण मुन्न पड़ गयी थी। (प्लेटो इन लोगों को 'दुकान का रंग' नामक दुर्गुण से ग्रस्त बतलाता है। आरम्भ में इस वाक्यांश का प्रयोग उस विकृतांगता के लिए किया जाता था जो किसी यंत्र के निरन्तर संचालन से शरीर के किसी भाग में उत्पन्न हो जाती थी। इसलिये यांत्रिक कलाजा के प्रति ग्रीक जाति घृणा करने लगी थी। यहाँ मनुष्य की आत्मा की जड़ता का मिलान 'दुकान के रंग' से किया गया है जसा थियेटेटस (Theaetetus) में उल्लेख

है। उसमें बनाया गया है कि अदालत की गुलामी के फलस्वरूप धीरे धीरे मनुष्य की आत्मा क्षुद्र और कुत्तिल हो जाती है।) इस प्रकार के लोग अपने धर्म में बराबर चुस्त चालाक होने के कारण ज्ञान-शास्त्र में घुस पड़ते हैं। दूसरे रूपक में कहें तो ये क्षुद्र जीव दशम से विवाह कर लेते हैं क्योंकि इस दीन का हाथ और कोई पकड़ना नहीं चाहता। इसी अनमेल विवाह की सन्तान उठा अटपट मनवादा और कल्पनाओं के रूप में जन्म लेती है जो समाज में दाग-निब मिटाती के नाम से चकर लगाते रहते हैं। इसी कारण से दशम की साधना भागनी पड़ती है और वह अनुपयोगी हो नहीं बरिघ छल-माताण्ड कहलान लगती है।

उन नैतिक कारणों का उल्लेख गाय है जो मच्छी दाग-निब प्रवृत्ति के अब सिष्ट भाग को आज तक सेंतकर रक्ख हुए हैं जिसमें दशम का हित-साधन होता है। कभी कभी सम्बृत्त-स्वभाव के सुगन्धित पुष्प की निर्वाणित कर दिया जाता है और इस कारण वह नैतिक पतन के सतरे से बच जाता है। कभी कभी प्रतिभावान् मस्तिष्क का जन्म छोटे से राज्य में होता है जो वहाँ के राजनीतिक जीवन की घुगित ममकता है। कुछ व्यक्ति दशम की ओर इसलिए आकर्षित होते हैं क्योंकि किन्हाल जिस कसा या पेने में उग ह उससे उन्हें जरबि हो जाती है। कुछ लोग दण्डनाशन राजनीति के चकर में फँस नहीं पाते और गायन कुछ ऐसी भी है जिन्हें एक प्रकार की दैवी प्रेरणा, नैवी बोधबिह्व के समान राजनीति से दूर रखती है जैसे सुकरात स्वतः उससे दूर रहा। इन सारी असाधारण परिस्थितियाँ के निर्माण (अंतिम परिस्थिति का छोड़कर) का अवसर ही नहीं आयेगा यदि ससार अपक्षित गति से चलता रह। चूँकि प्रतिकूल वातावरण के बावजूद भी दशमन बन रहते हैं इसलिए जो मच्छे दशमन हैं उन्हें अपने चरित्र को निष्कलक और पवित्र रखने में ही लग रहना चाहिये। तभी उनके गायत्री क्षण की प्रतीक्षा भयान होगी। एडोमण्टस कहता है कि जो मनुष्य इस ढंग का जीवन बिताता है वह मृत्यु के पूर्व महान पुण्याय का उगाहरण बन जाता है। सुकरात इससे सहमत है परन्तु इसे श्रेष्ठतम उपलब्धि नहीं मान लेता चाहिये क्योंकि जब उस गायतानुबून नगर में स्थान मिलता है तभी वह अपना और सामान्य जन जीवन का हित करके माधव हो सकता है।

४ इसमें पश्चान साधारण शीर पर यह बताया गया है कि ससार और ज्ञान के बीच असंगति किस प्रकार लोना के लिए अनिष्टकर है और किस प्रकार इसका निवारण किया जा सकता है। इसके पूर्व चर्चा में यह दिखाया गया है

कि यथायत दशन क्या वस्तु है अर्थात् वह मानवजीवन की पूर्णता है और मानव समाज की यथातथ्यता क्या है ? प्रस्तुत भाग म उन तत्त्वा के समन्वय का परिचय मिलता है जिनके भीषण वयम्य का विवरण अभी-अभी समाप्त हुआ है । इसमे सयोगवश कई और परिच्छेद जुड़कर समन्वय भावना की ही अभिव्यक्ति करते हैं । सुवरात और ग्रेसीमेकस म मन्त्री सम्बन्ध की घोषणा की जाती ५ । स्वयं सुवरात तत्कालीनता क चरम शिखर पर सुशोभित होकर सत्यनिष्ठ मनुष्या क वत्तमान जीवन-न्धाय को शाश्वत प्रक्रिया का केवल स्वल्पांश जसा अंकित करता है । घोषणा की जाती है कि यह विशाल विश्व जसा हम समझते हैं उतना घुरा नहीं है । दशन के प्रति लोगो म जो शत्रुभाव है वह उनकी अनानता स उत्पन्न होता है । यदि उन्हें ठीक ढंग स दशन की महत्ता का बोध कराया जा सकें ता वे उसे प्रसन्नता से ग्रहण करेंगे । मानव समाज के बड़े समुदाय म दशनज्ञा के प्रति अविश्वास होने का कारण यह है कि दशन क नाम पर कृत्रिम शादजाल और जटिल विचार का गोरखघरा सुसम्बद्ध बेश म रखा जाता है । सच्चा दशन वचन और कम सिद्धांत और आचरण का स्वाभाविक सामजस्य है । स्मरणीय है कि दशनन कहलानेवाले लोग साधारण व्यक्तियों के सम्बन्ध मे तकवितक किया करते हैं । किन्तु सच्चा दशनन अंतरात्मा की सहज प्रेरणा से सभी मनुष्या के ससग मे शान्ति अनुभव करता है क्योंकि वह शान्ति के राज्य म स्वयं निवास करता है उसकी प्रज्ञा के समक्ष यह चिरंतन विश्व सतत भाव से उपस्थित रहता है, बड़ा अनाचार नहीं होता उस भोगना नहीं पड़ता, वह सनातन नियम या विधि का ससार है । वह भूतिमान विवेक है । अतएव यदि कहा ऐसा पुरुष मित जाये जो अपनी स्वप्नदृष्टि के परिपूर्ण नियम को जनसमूह के चरित्र और सस्थाओ म उडेल दे जिस तरह कोई महान शिल्पी मनुष्य स्वभाव की मिट्टी लेकर अपनी उत्कृष्ट कल्पना क अनुरूप उसे ढाल देता है तो हम आदर्श तथा यथायता के सामजस्य की सचमुच उपलब्धि हो सकेगी । यह चाहे जितना कठिन काम हो, इसे असम्भव नहीं कहा जा सकता क्योंकि सच्चा दशनन मिलना असम्भव नहीं है जिसम महान् आत्मवल हो जिसके ह्रास की सम्भावना नहीं । तब यह कैसे असम्भव हागा कि मानवजाति उसके विचारा को अनसुना कर दे ?

५ दशन और समाज के बीच सामजस्य की सम्भावना का यह साधारण सवेत कर चुकने क बाद उस अध्ययन क्रम और जीवन पद्धति का प्रश्न शेष है जिसके आधार पर दार्शनिक प्रकृति को प्रशिक्षित किया जा सकेगा ताकि ऐसे

व्यक्ति समाज के सहारक बनने के बजाय उसके सट्टारक बनें । मुकरात की शैली में यह प्रश्न उपस्थित है कि राज्य किस प्रकार दशान की व्यवस्था करे ताकि उसका ध्वस्त न हो पाये ? प्रश्न का यह ढग मनुष्य स्वभाव में निहित उस दुधारी और विकराल शक्ति के स्वरूप का प्रबल और विचित्र आभाग देता है जिसे मुकरात निरूपित कर रहा है ।

□ □

ज्ञान का सर्वोपरि लक्ष्य-श्रेयस

दाशनिक प्रकृति के अनुकूल परिवर्तन की व्यवस्था करने में समाज की विफलता स्पष्ट कर चुकने के पश्चात् फिर हम शिक्षा के प्रश्न पर विचार करना होगा। चर्चा के इस छोर से सप्तम अध्याय के अन्त तक समाज के प्रश्न का समाधान खोजने का प्रयत्न किया गया है। आत्मबोध और शारीरिक शक्ति सम्बन्धी प्रारम्भिक शिक्षा का जो विवरण पहले दिया जा चुका है उसकी त्रुटि को यथास्थान पूरा करने के लिए शिक्षा प्रणाली का खाका तैयार करना जरूरी है। उस शिक्षा में विशेषतः कौन सी त्रुटि है जिसकी पूर्ति आवश्यक है? त्रुटि यह है कि दाशनिक प्रकृति की उत्कृष्टगामी अवस्था के योग्य पर्याप्त पोषक पदार्थ उसमें नहीं मिलते। दाशनिक प्रकृति के निरूपण में द्वितीय से चतुर्थ अध्याय और पञ्चम से सप्तम अध्याय के बीच सारभूत विचारधारा बहती है। तर्कित परवर्ती अध्यायों में इस प्रकृति की कल्पना और तदनुकूल समुचित शिक्षा की धारणा इतनी अधिक उत्कृष्टगामी हो गयी है जिससे भ्रम हाता है कि कहीं प्लेटो सारी बातें नये सिरे से दोहराने का यत्न तो नहीं कर रहा है और पिछले अध्यायों में जिस विषय में वह ध्यानमग्न दिखायी देना था उसे वह भूल गया अथवा उसकी अवहेलना कर रहा है।

द्वितीय से नवम अध्याय तक दाशनिक प्रकृति विषयक जो नाना प्रकार की बातें कही गयी हैं वे सब एक ही कल्पना के सूत्र में पिरोयी हुई हैं। आत्मा के दशनतत्त्व की इसी कल्पना के कारण वह अपनी सुपरिचित और सजातीय वस्तु के आकषण का अनुभव करती है और उसी के सारतम्य में उग सुग मिलता है। मनुष्य के अम्यन्तर का दशनतत्त्व विविध अथवाही होते हुए भी अपने से बाहर किन्तु अपने ही जैसी व्यापक वस्तु का आकषण है। दूसरे यत्तियों के प्रति आकषण कला या प्रकृति की सुन्दर वस्तुओं का आकषण अथवा सत्य का

मान का सर्वोपरि लक्ष्य-श्रेयस

आकषण-सभी विभिन्न प्रयोजनों में वही भासमान है। इन सभी भिन्न भिन्न वस्तुओं में प्लेटों की आत्मा के एकमात्र भावावेश की यूनाविक विकसित अवस्थाएँ दिखायी देती हैं। परम उच्चावस्था वह है जिसमें पटुचक्र आत्मा केवल अथ वयु बाधका के प्रति रागात्मक अनुभूति ही नहीं पाती मौदय के मायम से केवल आकषक वस्तुओं की समीपता ही नहीं चाहती वरन् चतुर्दिक दृश्यजगत् के अतगत सत्य की प्रतीति करना चाहती है। और इस सत्यवाग से आत्मा का बसा ही परम सन्तोष मिलता है जैसा स्वतन्त्रा के मिनन स ह्वा करता है। तो समस्या यह है कि आत्मा की इस अवस्था के अनुकूल पोषक तत्त्व जैववाली शिवा प्रणाली तैयार करना है। यह उन इन गिने व्यक्तियों के लिए जरूरी है जिनका दशन-तत्त्व इनका विकसित हो चुका है कि उन्हें अधिक रचित्र पोषण की आवश्यकता का अनुभव होता है। बहुत बड़ी सत्या तो उही लोगों की है जिनकी आत्मस्थ दशन-वृत्ति सुनागरिकता के जीवन में प्रवेश करके अपन नागरिक बधुभा का फलान करके दूष्णीम होती है। लकिन इनम थोड़े-से एस भी होते हैं जो आंतरिक सदवृत्तियों की प्रेरणा से सस्याओं के मूल में कम नियमों अथवा निदान्ता के शोध में अनुरक्त हैं जबकि बहुतरुण लोग विभिन्न मात्रा में केवल सस्या भक्ति में अटके रह जाते हैं। इसी व्यक्तियों और समाज के हिताय यह निनात महत्त्व का प्रश्न है कि इन्हें समुचित प्रणाली में प्रशिक्षित किया जाय अथवा इनका भावावेश इन्हें कुपय में ल जायगा। कौन भी अध्ययन और जीवन प्रणाली ऐसी है जो इन व्यक्तियों को सबमुख समाजोद्धारक बना सकती है ?

इस प्रश्न पर जिस परिच्छेद में विचार हुआ है उसमें रिपब्लिक के दूसरे विमी परिच्छेद की अपेक्षा इस विषय के सम्बन्ध के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भागों का सम्बन्ध स्पष्ट है। दूसरे से चौथे अध्याय की आगबना इसी परिच्छेद में की गयी है। उन अध्यायों की चर्चा से आगे हम चित्त की प्रगति कर सके हैं—यह भी बताया गया है। पत्नी मण्डल और घासकों की नियुक्ति इन दो कठिनाइयों से मुक्त रात गगनार चित्त बना रहा है और इसीलिए जानबूझ कर पूर्ववर्ती अध्यायों में इनके प्रतिपादन को बह टालना रहा। पंचम अध्याय में फिर पत्नी मण्डल के विषय में अधिक चर्चा की गयी तथा यही शासकों की नियुक्ति के प्रश्न की ओर फिर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है। सुगरात सुलेतीर पर तासरे अध्याय में उम बाक्य का उल्लेख करता है जिसमें शासकों के चयन और नियुक्ति के विषय का सनिप्त विवरण है परन्तु श्रेयस से उसका प्रयोजन नहीं

है। यहाँ जिस विरोध प्रकार की प्रगति वाद्यनीय है श्रेयस शब्द में उमका समावेश है। इस शब्द का प्राथमिक अर्थ कलात्मक कृति से जुड़ा है जिसमें यथारूपता का आशय प्रमुख है उसकी शुद्धता अथवा सूक्ष्मता का नहीं। केवल ऐच्छिक आभासपूर्ण कृति के विरोधी अर्थ की ध्वनि इससे निकलती है और अरस्तू लगातार महज स्पर्शवित्त कलाकृति के प्रति विरोध व्यक्त करने के लिए इस शब्द का प्रयोग करना आया है। समूच परिच्छेद में पहले किये गये और आगे आने वाले विषय निरूपण की विषमता पर विभिन्न दृष्टियाँ से बल दिया गया है। पूर्ववर्ती वर्णन अधूरा था, वह स्वाभाविक था, उसमें सभी विचार नहीं उभरे थे। पहले अध्यायो में इस पूर्णता का अभाव कहाँ रह गया था? प्रधान विषयों में इस अभाव का पता चलता है अभिभावक का चयन और उनकी नियुक्ति-प्रणाली का वर्णन में तथा "दाय और दूसरे गुणों का प्रतिपादन में प्लेटो, दासका की नियुक्ति का विषय से आरम्भ करता है।

विलकुल प्रारम्भ में दासको के चयन का सिद्धांत यह था कि वस्तु की रक्षा करने के लिए वही पुरुष सुयोग्य है जो उसे अत्यधिक प्रेम करता है। तदनुसार राज्य के अभिभावक की श्रेष्ठतम योग्यता का प्रमाण यह था कि उसे राज्य का प्रति सहज स्नेह होना चाहिये। योग्यता की परीक्षा के लिए नाना प्रकार के भावनात्मक संकट सुख भोग पीडा तथा भयभीति का प्रयोग उस पर किये जाते थे। इन सभी का सक्षम यह था कि वह "यक्ति जिस राज्यनिष्ठा को ग्रहण कर चुका है उस त्यागने के लिए आतुर हो जाये और वह राज्यनिष्ठा यह थी कि अपने आचरण की प्रत्येक क्रिया में वही करन योग्य है जो राज्य के हित में श्रेयस्कर है। यदि इस सारे परीक्षण में वह स्थिरमति सिद्ध हो गया तो उस अभिभावक का पूर्ण दायित्व सौंपा जाता था। किन्तु इस प्रकार से चयन केवल अस्थायी था। तत्पश्चात् का रक्षान अथ इस प्रश्न को फिर सामने लाता है कि अभिभावक का समग्र प्रयोजन का पूरा ध्यान रखकर कौन से "यक्ति श्रेष्ठतम योग्यता सम्पन्न माने जायें और हम यह विदित हो चुका है कि केवल दशनज ही इस पद के अधिकारी हो सकते हैं। इसका आशय यह हुआ कि अभिभावक के चरित्र का परिपूर्ण और कठोरतम प्रशिक्षण करना पड़ेगा जिसकी हमें पहले जरूरत नहीं दीखी थी। तात्पर्य है कि मनुष्य स्वभाव के दशन-तत्त्व का जिस रूप को हम शुरू से देखते आये हैं वह दासनकर्त्ता में प्रचुर मात्रा में दृढ होना चाहिये, उसमें विकासगामी योग्यताएँ हमारे पूर्व अनुमान से कहीं अधिक विशद हानी चाहिये। इसी तत्त्व के यम में मनुष्य-स्वभाव का अन्त्य कल्याणायक आवेग

जन्म लेता है जिसमें बहुत गुण सामान्य रहती हैं और जिसकी शक्ति दिमा हुआ करती है। अब हम समझ सकते हैं कि अभिभावकों के चयन में केवल पारिवारिक हृदयता की ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता क्योंकि उनमें इस गुण के विपरीत दीप्तिमान शक्तता की आवश्यकता की भी हमें पहचानना है। व्यवस्थाप्रिय, ठोस और दृढ़प्रती स्वभाव के साथ सामान्यतः कल्पनाशील प्रकृति का सम्बन्ध नहीं हुआ करना। कल्पनाशील व्यक्ति शीघ्रताप्रिय धर्महीन तथा उत्प्रेक्षाशील होता है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। तथापि दृढ़प्रती शक्तता अपरिहार्य है जिस हमने अभिभावकों के चरित्र का मूलाधार पहचान ही मान लिया है। इसलिये अब फिर यही समस्या है कि परस्पर विरोधी गुणों में सामंजस्य किस तरह होगा? हमारा ध्येय यह है कि हमारे अभिभावकों में दार्शनिक चरित्र की मौलिक अस्थिरता तथा उद्यानाद्या के साथ मरप्रकृति का गहरा गुण—व्यवस्था और कृता का समन्वित किया जाय। इसीलिए अभिभावकों के चयन और शिक्षण के पाठों में हम नवीन और विपत्तिजनक चरित्र-लक्षण के परीक्षण तथा प्रशिक्षण के प्रयत्न द्वारा प्लेटो बुद्धि की पूर्ति करता है। अनन्वय गुण और दुःखद प्रयोग के साथ हम बौद्धिक शक्तता की जीव की जोड़ना पड़ेगा तथा यह देखना होगा कि अभिभावकों में इन प्रयोगों की जीवने का साहस भी हुआ नहीं। इसका अतिरिक्त पूर्वनिरूपित शिक्षा प्रणाली में दृढ़ता विद्या का इस तरह समावेश करना पड़ेगा कि वह सौन्दर्य प्रेम तथा ऐतही अन्य गुणों के सहित अन्य में सिमटकर न रह जाय बल्कि ज्ञानविद्या के प्रस्तुत प्रमाणों की पूर्ति कर सके।

पहले के अध्यायों में मानवी नतिवृत्ता का जो विवरण दिया गया है उसमें एक त्रुटि रह गयी थी। हमने उसका स्वरूप की प्रयोगाधीन मनोविज्ञान का एक पहलू जसा मान लिया था। हमने इन्द्रियमुक्त अवलोकन से आत्मा के तीन प्रमुख तत्त्वों की स्वीकार किया था और यह बताया था कि इन तीनों की निश्चित अवस्थाएँ चार प्रधान गुणों के रूप में व्यक्त मानी जाती हैं तथा उनमें परस्पर एक नातेदारी है। परन्तु जसा उस समय भी कहा जा चुका है इन गुणों का वर्णन अपर्याप्त था। अब हम अनुप्रास के नतिक स्वभाव की समग्र और पूर्ण रूप में मनोहर व्याख्या करना चाहते हैं। (इस परिच्छेद में यह ध्यान देने योग्य है कि हमारे कल्पित अभिभावकों को सहजभाव से बिना पूर्वसंज्ञा दिये हमारे समान ही सामान्य व्यक्ति माना गया है। उनके योग्य शिक्षा पद्धति हमारे शिक्षादायीन है और उनके विषय में हम हा विचार विमग्न कर रहे हैं। प्रमाणित होना है कि अभिभावकों की शिक्षा प्रापमिव रूप से हमारे लिए ही है।)

इस समूचे परिच्छेद का निष्पत्ति यह है कि चाहे हम रिपब्लिक को राज नीतिक और सामाजिक सुधार का ग्रन्थ मानें अथवा मानव जीवन की ऐसी आदर्श धारणा का प्रदान वह जिस हम अपने आपक लिए प्रयोगाय ठीक समझें यह जरूरी है कि मनुष्य विषयक पूर्ववर्ती कल्पना और उसकी आवश्यकताओं का हम गहन चिन्तन तथा उसकी श्रुतियाँ की पूर्ति करना पड़ेगी। कारण यह है कि मनुष्य स्वभाव में कम से कम ससार के प्रभावशाली शक्तियों के स्वभाव में एक ऐसी वस्तु निश्चित रूप से है जो केवल चरित्र निर्माण से तृष्णीय नहीं होती जमा पिछले अध्यायों में नतिकता की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक समझा गया था।

अगला सवाल यह है कि ज्ञान की सामग्री को किस वस्तु का दाग और चाहिये जो पिछले अध्यायों में वर्णित प्रशिक्षण की अभावपूर्ति कर सकता है? गुणों की प्रारम्भिक वर्णना को पूर्ण कल्पना में ढालने के लिए और अभिभावक की प्रारम्भिक रूपरेखा का उसके सम्पूर्ण अर्थ में प्रस्तुत करने के लिए किस प्रकार के ज्ञान की अपेक्षा है? एक ही उत्तर है श्रेयस का ज्ञान। यदि अभिभावक श्रेयस के हित को परधान में समर्थ नहीं होता है तो वह श्रेयस का निवल प्रहरी होगा। जब तक मनुष्य विभिन्न प्रकार के गुणों में से यथायथ गुणों के बोध को पहचानने का अभ्यास नहीं करता तब तक ऐसे विविध गुणों की प्राप्ति सम्पत्ति मान है ज्ञान नहीं। श्रेयस का ज्ञान उनकी नतिकता विषयक समूची अपरिपक्व धारणाओं को अपने में अन्तर्धान कर लेगा जिसे हम अब तक दल चुके हैं। ज्ञान का परम लक्ष्य यही है। इसी में वर्णनात्मक भाषना की समस्त चरम आकांक्षाएँ तृष्णीय होती हैं। शिक्षा के जिस विकासोन्मुख रूप का अब वर्णन किया जायगा वह ऐसी शिक्षा होगी जो क्रमानुसार श्रेयस की धारणा बनाने में सफल हो।

श्रेयस की धारणा को प्लेटो के दशान और सामान्यतः ग्रीक दशन में नतिक और ज्ञान विषयक दशन में जो उचित स्थान मिला है उस हृदयगत करना इन दशना के सम्यक् बोध की दृष्टि से नितांत आवश्यक है। इस प्रसंग में प्लेटो श्रेयस का जसा प्रतिपादन करता है उसमें एकदम स्पष्ट होता है कि उसे तीन प्रकार की भावनाएँ एक दूसरे से नित्य महवर्ती लगती हैं यद्यपि हम उनमें परस्पर सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। श्रेयस एकदम यह सब है प्रथम, जीवन लक्ष्य है अर्थात् समस्त आकांक्षाओं का चरम ध्येय हेतु। द्वितीय ज्ञान की उपाधि या शक्ति है अर्थात् ऐसी वस्तु है जिससे जगत बोधयुक्त होता है और चित्तसुधी बनता है। तृतीय विश्व का सजनात्मक और पोषक भूलकारण है। परस्पर असम्बद्ध

दिमायी देनेवाली इन भावनाओं को प्लेटो किस प्रकार एक ही धारणा के अन्तर्गत रूँध सकता ?

आमनोर पर मनु या धेयम् शब्द का व्यवहार सदाचार के विविध अर्थों में किया जाता है जगत्सृजन । इस एकदम मुत्तावर ही हम प्रस्तुत सार्वभौम इस शब्द के निश्चित आशय को समझ सकते हैं । ग्रीक भाषा में सृजन का यह अर्थ कभी नहीं समझा जाता जो हम बोलचाल में समझते हैं । सृजन से किसी विशेष कार्य में दक्षता या कौशल का सन्दर्भानुसार अर्थ किया जाता है अतिवृत्ति या अल्पे योद्धा के अर्थ में ही ग्रीक भाषा का 'सृजन' शब्द काम में आया करता है । इस ग्रीक शब्द में अतिवृत्ति गुणा का भाव निहित नहीं है । ग्रीक जन और ग्रीक दानज सत् या धेयम् स शब्द वस्तु का अर्थ करते हैं जिस हम नितान्त प्राप्त्यमान है जिस हम अत्यधिक इच्छित वस्तु समझते हैं । मानवी कामना को बाधित वस्तु की धारणा से हम सुपरिचित हैं परन्तु एकाएक हम उसके अर्थ को ग्रहण नहीं कर पाते । इस समझने का उत्तम उपाय यह है कि सत् या बाधित वस्तु वही है जिस कोई मनुष्य किसी भी क्षण प्राप्त करने के लिए इतना उत्सुक है कि उसे छोड़कर अन्य कोई वस्तु वह नहीं चाहता । यदि कोई मनुष्य धन पाने के लिए या दानरक्षार्थ अथवा प्रतिशोध के निमित्त अपने प्राण तक देने को तैयार है तो उस क्षण का, देन अथवा प्रतिशोध उसकी दृष्टि में एकमात्र 'सत्' वस्तु है क्योंकि इससे लिए वह अपना सर्वस्व त्यागने की तैयार है । अतएव जिस हम 'सत्' समझते हैं वह प्रत्येक जिन हमारे लिए नयनम रूप में उपस्थित हुआ करता है किन्तु प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ ऐसा होता है जिसे हम इस आशय का सत् स्वीकार किया करने हैं । ग्रीक दानज और सावजनिक विचार में धर्म सत्य के समान यह मायता थी कि मनुष्य का जीवन सत् के आधार पर टिका है अर्थात् उसका स्वतः एक धेयम् है । मनुष्य के विषय में ही नितान्त मौलिक तथ्य है—वह मदव किसी निश्चित वस्तु के निमित्त ही जीता है चाहे वह इससे चरने का बिलना ही प्रयत्न क्यों न करे ।

ग्रीकजन का हम मायता के साथ प्लेटो और अरस्तू का निश्चित मत यही था कि मनुष्य विष्वक्कील प्राणी है जो उपरोक्त धर्म का स्पर्शरमात्र है । हम विष्वक्कील व्यक्ति से सामान्यतः उस मनुष्य का अर्थ समझते हैं जो अपने आपको बुद्ध या मूर्ख नहीं बनाता । इस तरह के अर्थ चाक्योशा द्वारा ग्रीकजन विशिष्ट अभिप्राय का बोध पाते थे । ग्रीकजन विष्वक्कील प्राणी से केवल यह

आशय करते थे कि मनुष्य किसी वस्तु को अपना ध्येय बनाने के लिए विवश है। वह उपाय और उद्देश्य का प्राणी है। वह अपनी स्वभाव रचना को वस्तु की प्राप्ति का साधन समझता है और इसी की प्रेरणा से प्रत्यक्ष कार्य करता है। ग्रीक नीतिदर्शन का मूलभाव यही है। यही कारण है कि प्लेटो और अरस्तू तक और सत में अभेद्य सम्बन्ध मानते हैं। यह किसी विशेष सत् या अच्छी वस्तु किसी उचित जीवन ध्येय और किसी विशेष प्रकार के तत्त्व का सम्बन्ध नहीं है जो विशिष्टरूप से विवेकशील हो जसा विवेकशील शब्द और सत शब्द की ध्वनि से व्यक्त होता है अपितु शुद्ध तत्त्व और शुद्ध सत का सम्बन्ध का संकेत है। मनुष्य की विवेकशीलता अथवा तत्त्वशक्ति का आशय यह है कि वह आत्मप्राणी प्राणी है जो आदश की उपलब्धि के लिए विवश है। आदश वह ध्येय है जो किसी विशेष क्षण किसी विशेष वस्तु में समाहित नहीं है किन्तु फिर भी अशत उत्तम उपलब्ध है। आदश की कल्पना का अभिप्राय यह है कि वह कभी पूर्णतः प्राप्त नहीं होता किन्तु हमके साथ ही वह निरन्तर प्राप्त होता रहता है। मनुष्य की ध्येयवस्तु चाहे जितनी और चाहे जब बलती रहे वह स्वयं पूर्णतः वर्तमान में कभी नहीं रहता। जिस क्षण उसका ध्यान किसी वस्तु में रमा है उसी क्षण उसके परे किसी अन्य पदार्थ की ओर उसका विचार चला जाता है और वह तर्क की प्रेरणा ही से ऐसा करता है। इसी एक बात के कारण मनुष्य नैतिक जीवन कहलाता है। उसकी नीतिमत्ता की योग्यता का मूल में उसकी तत्त्वशक्ति निवास करती है और यही तत्त्वशक्ति किसी लक्ष्य के हितार्थ जीवित रहने के लिए विवश है। इसी मौलिक कल्पना से ग्रीकजाति ने समस्त हमेशा नीतिदर्शन सम्बन्धी यह समस्या प्रकट हुई है कि उस यथार्थ लक्ष्य का स्वरूप स्थिर किया जाये जिससे मनुष्य का जीवन साधक हो। इससे स्पष्ट है कि ग्रीक विचारका भी दृष्टि में नैतिक जीवन और विवेकशील जीवन में कोई भेद नहीं था। (यह उसी जीवन का प्रयोजन हो सकता है जिसमें तत्त्वशक्ति को सम्यक् रूप से अवसर दिया जाये।) नैतिक जीवन का केवल एक ही अभिप्राय हो सकता है कि मनुष्य प्रत्यक्ष कार्य यथार्थ सत् की दृष्टि से उसी की अन्तर्-योजित के अनुसार करता है। जिस मनुष्य की समग्र कार्यबलि में नित्य तत्त्वतः सततभाव से यथार्थ सत् विद्यमान रहता है वही श्रेष्ठ मनुष्य है। इस प्रकार श्रेयस्कर जीवन अत्यन्त विवेकशील जीवन है क्योंकि इसी प्रकार के जीवन में ज्ञान तथा क्रम का गहन सहित सम्भव है और इसी को जीवनलक्ष्य अथवा केन्द्रीय सिद्धान्त का साधन माना जाता है जिसे ग्रीकजाति सत् या श्रेयस के नाम से सम्बोधित करती है।

इसी विचाराण में विभिन्न समझे जानेवाले जीवन के नैतिक और वज्ञा-
निक दृष्टिकोणों का भेद ग्रीक दशान में हो जाता है । हम समझते हैं कि आधु-
निक दशान से तुलना करा पर ग्रीक नीतिदशान ज्ञान पर विशेष बल देता है
और बुद्धि का अनिर्णय महत्ता की वस्तु मानना है । इस प्रकार की धारणा का
प्रमुख कारण यह है कि हम उसमें बौद्धिक शब्दावली का सतत उपयोग पाते हैं
और इस पर ध्यान ही नहीं देते कि तत्त्वज्ञान अथवा बुद्धि की वस्तुता का सम्बन्ध
सदैव मत्त या श्रेयस के साथ जुड़ा हुआ है । ग्रीक विचारक तत्त्वज्ञान की ही
मनुष्य की नैतिक मत्ता या वास्तविक आधार मानते थे । जमा पहले बतलाया
जा चुका है वे तत्त्वज्ञान के अस्तित्व से ही मनुष्य में उस योग्यता का बोध
पाते हैं जिसके कारण वह किसी निश्चित वस्तु के लिए जीवन धारण किये रहता
है । तत्त्वज्ञान और विवेकशीलता के लिए प्रयुक्त ग्रीकभाषा के शब्दों में बहुत
बुद्धि यही आशय भरा है जो 'प्रमाण' तत्त्वज्ञानी और आदर्श' से आगे दशान में
व्यक्त होता है । जिसे विवेकशील प्राणी कहते हैं, आत्म भाषा में उसे तत्त्वज्ञानी
कहा जाता है । फिर भी, यह सही है कि ग्रीक नीतिदशान उत्कट रूप से बौद्धिक
है और नैतिक तथा वज्ञानिक पहलू उसमें विगपत प्लेटो के दृष्टिकोण में अन्त
लीन हो जाते हैं ।

मनुष्य जीवन के अध्ययन की दृष्टि से हम देख चुके हैं कि मनुष्य में निहित
तत्त्वज्ञान के कारण ही निश्चित लक्ष्य के लिए जीवन साधक माना जाता है ।
मानव ब्रह्म की बात छोड़कर जब हम प्रकृति को विज्ञान का लक्ष्य मानकर
विचार करते हैं तो हम ग्रीक विचारकों की भी तत्त्वज्ञान का तत्त्वज्ञान वैसा ही
प्रयोग करते देखते हैं । चूंकि तत्त्वज्ञान के आश्रय से ही वस्तुबोध सम्भव है,
इसलिए विश्व में उसका अस्तित्व में ग्रीक विचारक यह अभिप्राय करते हैं कि
प्रकृति अथवा वज्ञान का प्रत्यक्ष पदार्थ किसी श्रेयस लक्ष्य को अपने में निहित
पाता है और उसमें व्यक्त करता है । प्लेटो और अरस्तू के नीतिदशान तथा विज्ञान-
ज्ञान पर हेतुवादी दृष्टिकोण का विशेष प्रभाव है । उनके लेखन में बुद्धि तथा
श्रेयस या मत्त प्रायः परस्पर सम्बन्धित विचार माने गये हैं । जहाँ वही बुद्धि
है, वहीं श्रेयस उसका ध्येय है । यह विचार केवल मनुष्य-जीवन के लिए ही नहीं
है समग्र ससार में प्रयुक्त किया गया है ।

किन्तु इस विचार के दलित मतलब खपाने में हमें सावधान रहना चाहिये ।
विश्व का हेतुवादी दृष्टिकोण प्रकृति के अधीष्ट की समझाकर यह सिद्ध करना
चाहता है कि मनुष्य के प्रयोजन के लिए ही समूची प्रकृति बनी है । इस

अपरिपुष्ट रूप में प्रचारित होने के कारण हेतुवाद यह धारणा बनाने में सहायक होता है कि किसी भी वस्तु का अभीष्ट आगम अथवा हित नू यवत है यदि वह मनुष्य की सेवा के योग्य मिष्ट नहीं होता। जो कुछ हमारे लिए हितकारी है उसके सम्बन्ध में हमारा ध्यान बहुत सकीर्ण हो जाता है। इसीलिए हेतुवादी दृष्टिकोण शुद्धिपूर्ण समीक्षाओं का मिथ्या चोटक हो जाता है जिसका पैना निष्कर्ष मनीषा निरन्तर विरोध करती रहती है। किन्तु यथापि दार्शनिक प्रयोजन के निमित्त हेतुवादी मितुल भिन्न वस्तु हो जाता है। प्लेटो और अरस्तू विश्व में मनुष्य को सर्वोपरि अग्रेष्ठ वस्तु नहीं मानते थे। इसीलिए वे विश्व को मनुष्य के ही हितार्थ निमित्त किया हुआ स्वीकार नहीं करते। इन मनीषियों ने तब शक्ति के व्यापार को प्रत्यक्ष वस्तु में प्रत्यक्ष प्रमाण के समान पाया। यह सीधी सी बात है कि प्रत्यक्ष वस्तु का एक निश्चित काय है उसे एक ही नाम सौंपा गया है, दूमरा नहीं और उन वस्तु के विविध अंग इसी एक निर्धारित लक्ष्य से सम्बद्ध हैं। किसी भी जटिल पदार्थ या उदाहरण से सीमित (और सभी वस्तुएँ जटिल हैं अर्थात् कोई भी पदार्थ, जो अनेक अवयवों का एक समुच्चय है उसे समझाने या समझने के लिए केवल यह द्यना होगा कि उसके विभिन्न अवयव किस प्रकार सम्पूर्ण वस्तु से निबद्ध हैं। अर्थात् यह ध्यान देने योग्य है कि प्रत्यक्ष अवयव सम्पूर्ण वस्तु के किस प्रयोजन का निर्वाह करता है किस प्रकार उनमें प्रत्यक्ष अवयव सम्पूर्ण वस्तु के श्रेयस अथवा लक्ष्य की पूर्ति में जुटा है। वस्तु के श्रेयस अथवा लक्ष्य का अनभूत सिद्धांत स्वीकार किए बिना हम उस वस्तु की समझा ही नहीं सकते क्योंकि इसी अन्तर्निहित सिद्धान्त की मायता के कारण हम उस सम्पूर्ण वस्तु कहने में समर्थ होते हैं। प्लेटो और अरस्तू के अनुसार ज्ञान की प्रगति इसी सम्बन्धित प्रतीति में निहित है कि प्रत्यक्ष वस्तु का निश्चित काय है और प्लेटो की भाषा में, विश्व इस वस्तुत्व की प्रभा है जो इस निरन्तर घोषित करती है।

इस धारणा को उत्तम रीति से समझने के लिए किसी एक कलाकृति का उदाहरण ले लीजिए। प्लेटो ने 'जार्जियस' (Gorgias) में जहाज का उदाहरण लिया है जिसे बनानेवाला निर्देश्य ढंग से काम शुरू नहीं करता। वह छोटे छोटे टुकड़ों को एक निश्चित क्रमानुसार एक सुविचारित ध्येय की दृष्टि से जमाता है। कुशल जहाज निर्माता वही है जो सभी भागों को व्यवस्था में बाँधता है ताकि उनका सम्मिलित उपयोग निर्धारित अभीष्ट में सहायक हो। इस अभीष्ट की पूर्ति जहाज का श्रेयस या सत् है। वस्तु का श्रेयस वह होता अथवा रहता

है जिसके निमित्त वह है या वह कुछ करना है और यदि जहाज कुगनतापूर्वक सतरण करता है तो वह अपने ध्येय या उद्देश्य अथवा श्रेयस में सफल होता है। अनएव यह सत्य नहीं है कि जहाज-निर्माता के काय का प्रत्यक्ष स्वतन्त्र भाग जहाज के श्रेयस से परता जाता है अर्थात् जिस निश्चित काय के लिए जहाज निर्माता जहाज बना रहा है उस समूची वस्तु के अस्तित्व की साधकता में उसका श्रेयस आता है। इसलिए मानवी बना में प्रतिरक्षित विवरक अथवा कलात्मक विवरक निश्चित श्रेयस को किसी सामग्री के माध्यम में अभिव्यक्त करके स्वतन्त्र होता है। उत्कृष्ट कलाकृति वही होगी जो अग अग से ऐसे लक्ष्य श्रेयस अथवा सिद्धान्त की परिपूर्ण ध्यजना करती है। इस हनुवादी दृष्टि कहते हैं जिसके अनुसार एक निश्चित कृत्य पालन एक निश्चित काया अथवा एक निश्चित लक्ष्य या ध्येय सर्वत्र अपनेआपको प्रकट करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टिबिन्दु से हम किसी वस्तु में उसके कृत्य अथवा श्रेयस को जितना अधिक पहचान सकेंगे उनना ही अधिक हम उसका बोध हागा। जो मनुष्य जहाज के कृत्य से जनभिन्न है उसका लिए वह सचमुच अवाध्य वस्तु कही जा सकती है। विश्व की ऐसी वस्तुएँ सबसे बड़ी सख्या में हैं जिनके प्रति हमारा मनोभाव सचमुच इसी प्रकार का है। हमारी समझ में नहीं आता कि वे किस काम की हैं। हम उनके श्रेयस को जान नहीं पाते।

सम्पूर्ण अस्तित्व पत्र में वही कल्पना प्रयुक्त होती है चाहे प्रकृति हो बना और नैतिक जीवन हो क्योंकि इन सभी में बुद्धि विद्यमान मिलती है। कला और नीति में इस दृष्टिकोण का प्रयोग बहुत स्पष्ट दीक्षता है परन्तु प्रकृति में भी घाटे में प्रतिवचा के साथ इसे देखा जा सकता है। कारण यह है कि मनुष्य प्रकृति का अवनाकन कर सकता है उसका निर्माण नहीं। इसलिए वह जिस सिद्धान्त का प्रयोग कला तथा नैतिक जीवन के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से करता है प्रकृति के क्षेत्र में उसका अनुमानमूलक उपयोग होता है। परन्तु उसकी सकल शक्ति दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से सक्रिय होती है। पौधे या पशु के विषय में मनुष्य आरम्भ में ही और अनजाने तौर पर यह ध्यान कर चलता है कि वह सदृष्ट वस्तु अथवा एकता प्रकट करनेवाली वस्तु है, एक सम्पूर्ण रचना है। वह उसकी अगा या भागा में बाँटकर उसका विश्लेषण करने लगता है और विश्लेषण की समूची प्रक्रिया में तथा फिर उसके भागों को संकलित करने में पौधे या पशु की समग्रता का मूलभाव बराबर उसका ध्यान में बना रहता है। इसके साथ पशु या पौधे के अतन्त्र सिद्धान्त की चेतना भी उसे निरन्तर रहती

है। जीव एक प्राकृतिक पदार्थ है जिसके अवयव निश्चित उद्देश्य के लिए माध्यम या हतुमात्र हैं व निर्धारित अभीष्ट के यत्र जसे हैं। इस प्रकार आवश्यकता की कल्पना का आगम्य हेतुवाद को प्रतिष्ठित करता है। अतएव आधुनिक विज्ञान, एक विशेष प्रकार के हेतुवाद का चाहे जितना खण्डन करे हेतुवाद की भावना के अतिरिक्त, उसका कोई शक्ति नहीं। उदाहरणार्थ वनस्पतिशास्त्र के प्रथम में यही भावना प्रत्यक्ष पृष्ठ में प्रदर्शित होती है क्योंकि वनस्पतिशास्त्री आद्यात इसी प्रश्न को सामुख रखता है कि उसे वस्तु का मूलकम का रहस्य खोजना है। किन्तु जब विज्ञानवत्ता हेतुवाद का खण्डन करती है तब उनका वक्तव्य की मचाई निश्चित सीमा तक ही माय हो सकती है। प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित व्यापार या शक्ति है—इस पूर्वानुमान का हम यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि प्रत्येक विनिष्ट पदार्थ का लक्ष्य किसी दूसरे विशिष्ट पदार्थ के हित में कायगोल होता है, इस पूर्वानुमान का कारण हम हम अनुसन्धान के परिणामों को पहले से ही न मानें। यह कहना एक बात है कि यदि हमारे अनुमान में प्रकृति के भीतर एक सायकता है तो हम प्रकृति के क्रियाकलाप का केवल भाष्य कर सकते हैं किन्तु यह बिल्कुल भिन्न बात है कि वस्तुजगत में हमें जो सायकता एवम या सतही तौर पर मिलती है वही सच्ची है।

जिस विचारदृष्टि से सब कुछ साधन और साध्य ही दिखायी देता है वह ग्रीक दशन का सुस्थिर दृष्टिकोण है। ग्रीक शब्दावली में सरल ढंग से इसे एक प्रश्न के रूप में कहा जा सकता है श्रेयस या सत क्या है? इस विषय की संक्षेप में इस प्रकार कहेंगे श्रेयस शब्द का अर्थ वस्तु के मूलभाव या मूलकम का संकेत करता है जिसके लिए उसका अस्तित्व है। इस शब्द के भावार्थ में कोई मूलभूत परिकल्पना निहित है जिससे वस्तुजगत की प्रकृति या स्वभाव प्रकट होता है अर्थात् विश्व में एक सकलशक्ति क्रियमाण है वही मनुष्य और प्रकृति में भी है। यह सकलबुद्धि विश्व में सब कुछ इस खास ढंग से स्वप्रकाशित है जहाँ जहाँ अनेक तत्त्व सहअस्तित्व में मिलते हैं वहाँ एक निश्चित प्रकार की एकता दिखायी देती है एक निश्चित सिद्धांत दृष्टिकोण होता है जो उन तत्त्वों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता है, जिससे वह जस है वस प्रतीत होते हैं और जिसके प्रकाश में हम उनका बाध प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए प्लेटो की दृष्टि में श्रेयस नतिवत्ता का मूलभूत तत्त्व है वही बोध का आधारभूत स्रोत है। इन्हीं दो भिन्न भिन्न वस्तु नहीं समझ लेना चाहिये दोनों एक ओर समान वस्तु हाथ हुए भी, वह विभिन्न पदार्थों में प्रकट हुआ करती हैं।

अब देवता है कि मनुष्य जीवन और नैतिकता में इसका प्रयोग किस प्रकार हो सकता है। प्रारम्भ में इसका अभिप्राय यह है कि मानव समाज तथा व्यक्ति के जीवन को इस प्रकार अनुकूल स्थिति में ढाला जाये ताकि वह निश्चित रूप का माधन बन सके और इसीलिए मनुष्य समाज तथा वैयक्तिक आत्मा को जीवधारी मान लेना पड़ेगा। चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में अभिभावक का मुण्डी रत्न के विषय में प्रश्न उठाया गया है और वही समाज के बारे में भी समाधान है यदि सम्पूर्ण वस्तु का श्रेयस का विचार स्थिर हो जाता है तभी उसका एक अवयव या भाग का श्रेयस विचारणीय है। इसी तरह अष्टम अध्याय में अपव्ययी धर्मिक के सवनाश का वर्णन किया गया है जो जनमण्डल का सदस्य केवल नाममात्र के लिए है और इसी कारण वह विज्ञानीय वस्तु जसा हो जाता है। प्लेटो अष्टम अध्याय में मानव-समाज के अद्ययन का विवरण देने हुए यही कहता है कि उसका मूलकारण सजातीयता का कमिज हुआ है। इस अभिप्राय का सम्बन्ध सवगुण से जुड़ा है। वस्तु के उस वर्णन को गुण या सवगुण कहते हैं जिसके कारण वह निराल ढग से शुभ या श्रयस बन जाती है और इसका आशय यह है कि वह अपने निर्धारित काय को कुशलतापूर्वक निभाती है। मजधारी मनुष्य का पहचान यह है कि वह अपना काय उचित प्रकार से करता है और जो मनुष्य अपना काय समुचित ढग से करता है वही सवार में समुचित आसन का वस्तु पातन में निपुण है। समाज के विषय में यही मायना है कि उसमें प्रत्येक मनुष्य का स्थान और कम निर्धारित है। जीवधारी के बारे में यह अभिप्राय स्वीकृत है कि उसका प्रत्येक अवयव अपने काय तथा स्थान पर नियत है—यही बात वैयक्तिक आत्मा को लागू है। आत्मा का सवगुण यही है कि उसका प्रत्येक अवयव या भाग अपने काय में कुशल है और प्रत्येक अवयव का जो काय है वह सम्पूर्ण आत्मा के श्रेयस या हित में परखा जाता है। आत्मा अमुक काय श्रेयस्वर है अथवा नहीं, इसकी जाँच एक ही प्रश्न के सहो उत्तर में हो जाती है क्या ईशानदारी से आप यह कह सकते हैं कि आपका काय समष्टिरूप से आपके लिए श्रेयस्वर या हितवह है ?

इस प्रकार श्रेयस्वर की धारणा का नैतिक प्रयोग सिद्धान्त की धारणा से मिलता-जुलता है। सिद्धान्तप्रिय पुरुष यह है जो अधिकतर मनुष्यों की अपेक्षा एक अभीष्ट को जीवन का सत्य मानता है, वह अदल एकाग्रचित्त पुरुष है जिसके कम, विचार और इच्छाएँ एक निश्चित सत्य में समर्पित हैं। वहाँ जो मकता है कि इस वर्णन के अनुसार कोई भी शुभ या अशुभ प्रश्न इच्छा का व्यक्ति भी

इसी श्रेणी में गिना जा सकता है। उसका समाधान यह है कि विश्व की बुद्धिसंगत व्यवस्था में समाज में और ससार में प्रत्येक मनुष्य एक वास्तविक तत्त्व है। तदनुसार उसका जीवन जिस अभीष्ट से प्रभावित होता है जिस श्रेयस के निमित्त वह जीवित है वह अपनआप उसी अनुपात में श्रेयस्कर है जिसमें वह व्यापक अभीष्ट में योग देता है और अतः ससार की व्यवस्था अथवा उसके अभीष्ट या श्रेयस में योगदान करता है। प्रत्येक चित्र प्रत्येक जहाज प्रत्येक मनुष्य जीवन, प्रत्येक व्यवस्थित और सुसंगठित सम्पूर्ण वस्तु एक लघु विश्व जसा माना जा सकता है। इसी प्रकार यदि सम्पूर्ण विश्व को हम देख सकें तो वह एक या सम्पूर्ण वस्तु है जिसमें गण वस्तुपुत्र अंगों के समान आवद्ध होकर काय फील है। यह अभिप्राय टिमैयिडस में विस्तृत ढंग से व्यक्त हुआ है और उस सम्वाद का एक प्राणवान भाग है। वहाँ भौतिक विश्व के सदन में ही इसका प्रयोग किया गया है परन्तु समाज और मनुष्य जीवन में भी यह प्रयुक्त है और रिपब्लिक में इसी प्रकार से इसका प्रयोग हुआ है।

अतः मनुष्य का जीवन नैतिक दृष्टि से उसी अनुपात में श्रेयस्कर है जिस मात्रा में उसका अभीष्ट अपनी व्यक्तिगत सत्ता से परे व्यापक लक्ष्य का अनुरागी होता है। जितनी एकाग्रता जितना परिमाण और जितने विस्तृत हिता में वह तत्त्वीय होगा उतना ही उसका अभीष्ट श्रेयस्कर है। हमारे जीवन का बहुत बड़ा भाग अभीष्टरहित हुआ करता है और इसीलिए प्रायः हम तुच्छ बन रहे हैं। हम लगता है कि कोई परम मूल्यवान् वस्तु है कोई श्रेयस है परन्तु हम अज्ञानवश उसे जानने पहचानने में असमर्थ रहते हैं। हम नहीं जानते कि कहाँ जा रहे हैं या क्या कर रहे हैं और इसी कारण हमारे अधिकांश साधन, हमारी अभिलाषा की तत्कालपूरक शुभ समझी जानेवाली वस्तुएँ हम सचमुच काई लाभ नहीं देती। यही हाल हमारे उन कार्यों का है जिन्हें हम धाय और सम्मान के अपने अवयवों से सत से नापकर किया करते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि हम इन अभिभावकों का श्रेयस का उचित ज्ञाता बनाने में सावधान रहें जिन्हें दूसरा पर शासन करने का भार सौंपना है और जो जनमण्डल के नैतिक अभीष्ट का निष्पन्न करनेवाले हैं। जिस मनुष्य को न्याय अथवा सम्मान के श्रेयस का दृष्टिवोध नहीं होता। (ससार में उसका क्या स्थान है?) वह बहुत प्रवीण अभिभावक नहीं हो सकता क्योंकि श्रेयस के प्रति उसको आस्था दृढ़ नहीं है। अब यह समझ में आ सकता है कि श्रेयस की कल्पना से मानव जीवन के संक्षिप्त और आशिक विवरण की त्रुटियों की पूर्ति करना और उन्हें परिष्कृत रूप देना

क्या आवश्यक है। मनुष्य अपने बाय वे प्रयोजन को जितना तुल्य रूप से सकेगा जीवन का उतना ही निमल दशन उसे होगा और वह रूपरेखात्मक न होगा वरन रचना और योजनासहित सम्पूर्ण वस्तु की प्रतिकृति हाथी।

मनुष्य जितना अधिक इस भावना में अभिभूत होगा उतना ही जीवन उतना ही प्रभावान् होता जायेगा और दूसरे लोग उमक आचरण में उतना ही अधिक प्रभावित होंगे। वस्तुओं के श्रेयस को हम जितना सम्यक् हैं उसी अनुपात में उतना नान हम होता है। समस्त वस्तुएँ निश्चित लक्ष्य में एकरूप होती हैं और ज्योति के रूपानुसार सर्वोत्कृष्ट श्रेयस मूल्य के समान है जो बुद्धिग्राह्य विश्व की प्रकाश देता है। परमाय या चरम श्रेय की प्रतिबिम्बित 'मोनि ही बुद्धिगम्यता है। यही प्रमा जगत्प्राप्त है और विभिन्न माध्यमों से निसृत होकर हम मिलती है। सत्ता की प्रत्येक वस्तु अपनी योग्यता के अनुसार उस श्रेयस को उजागर करती है अथवा श्रेयस का आभास है। अतएव ज्योति की कल्पना का सामान्य भाव हम इस तरह व्यक्त कर सकते हैं कि यदि मनुष्य श्रेयस के प्रकाश में जीवन बिताये तो उस अपनी मर्यादा के अनुसार उसकी उपलब्धि हाती है। सारांश यह है कि वस्तुज्ञान की परिमिति में अपने समाज में, सत्ता में अपनी स्थिति की निरूप प्रतीति कर सकना जीवनधारण की साक्षरता है। अपनी स्थिति का उचित ज्ञान हाथ में मनुष्य गहन भाव में समस्त सत्यता है कि वह जो कुछ है किस प्रकार वह उसका श्रेष्ठ परिचय है और जो कुछ वह करता है किस प्रकार वह उसका श्रेष्ठ कर्म हो। इसमें स्पष्ट नितापी देता है कि ज्योति का मन में ननि बना और नान जितने घनिष्ट सम्बन्ध-मूल्य में जुड़े हुए हैं। मनुष्य जीवन के इस आदर्श को हम दूसरे लोग में भी प्रवृत्त कर सकते हैं। यह अपनेआपका और अपने निजी जीवन का यथासम्भव पूर्ण ज्ञान तथा राय है अथवा सत्ता के एक श्रेय की हैमियत में अपने समुचित कर्तव्य का यथासम्भव पूर्णनिर्वाह है। ज्योति वलिया में ज्योति की कल्पना का मूल स्वरूप यह है कि समस्त जीवन एक सम्पूर्ण वस्तु है जिसके सभी अंग परस्पर आश्रित हैं और इनके बायों की समरूपता देने वाला एक निश्चित सिद्धान्त है। सत्ता अवका उत्तरे एक भाग का यथोचित शोध पाने के लिए उस श्रेयस के प्रकाश में परखना होगा अर्थात् यह समझना होगा कि उसमें विभिन्न अवयव समान लक्ष्य में किस प्रकार संवेदिन होत हैं। इसी कारण यह भी जानना होगा कि पूर्णरूपण श्रेयस्वर होत का आशय अपने निर्धारित कर्तव्य का पालन करना है। इसका सार यह ही अभिप्राय होता है कि

अपनी मूलसत्ता के गुणानुवूल जो कुछ करें वह श्रेष्ठ काय है और सम्पूर्ण वस्तु के एक अवयव के नाते उसके श्रेयस में यह काय योगदान करता रहे ।

हम देख चुके हैं कि जीवन का लक्ष्य ही श्रेयस है । जब मनुष्य किसी निश्चित लक्ष्य के लिए जीवन समर्पित करके जीता है तब हम स्मरण रखना होगा कि ग्रीक भाषा में लक्ष्य के पर्याय शब्द का प्राथमिक आशय अंतिम प्राप्त वस्तु नहीं है आरम्भ से अन्त तक दृष्टवस्तु की समापन क्रिया का पूरा आविर्भाव है काय की चरम परिणति है । मनुष्य का लक्ष्य इतना ही हो सकता है कि प्रकृतिदत्त योग्यता के अनुसार अपूर्ण ढंग से ही सही वह अपने-आपको पूर्ण विकसित करे । इसलिए जब हम श्रेयस को जीवनोद्देश्य कहते हैं तो हम किसी एक वस्तु की प्राप्ति करके आत्मसन्तोष नहीं कर लेना चाहिये । यह तो आदेश है जो कभी प्राप्त नहीं हो सकता अन्यथा वह आदेश नहीं रहगा । जरतू और प्लेटो दोनों की कल्पना के आदेश को यह समान रूप से लागू है उपयागितावादी आत्मा अथवा अन्त किसी भी आदेश का अभिप्राय भी इसी प्रकार है । प्रत्येक व्यक्ति का चरम आकांक्षा धन स्वास्थ्य सत्ता अथवा ज्ञान नहीं है बल्कि कोई भिन्न वस्तु है जो इन सभी चीजों को श्रेयस्कर बनाती है । इस बात का प्रमाण यह है कि कोई व्यक्ति कभी अंतिम रूप में सन्तुष्ट होकर नहीं बैठ जाता और न कहने लगता है—'बस, हो गया मेरा श्रेयस ।' जीवन सम्बन्धी एक और दूसरे मतवादी की भिन्नता से इस विचार का कोई सरोकार नहीं है । असल में मनुष्य जिस विशेष भाव से चरम श्रेयस की कल्पना करता है और इस श्रेयस को अपने समग्र जीवन से सम्बद्ध करता है उसी मनाभाव में वह स्थिर रहता है ।

जसा प्रारम्भ में बताया जा चुका है प्लेटो श्रेयस को केवल जीवन ध्येय वस्तुजगत के बोध का मूल ही नहीं मानता बल्कि ससार में प्रत्येक पदार्थ के भाव या अस्तित्व का उद्गम समझता है । सत या श्रेयस वस्तु का विधाता है उन्हें पोषित करता अथवा स्थित रखता है । इससे प्लेटो का जो आशय है वह अनुय अध्याय के पूर्वोल्लिखित परिच्छेद में दिया गया है जहाँ वह इस प्रश्न का उत्तर देता है कि अभिभावक सुखी होंगे या नहीं । मनुष्य-समाज के अवलोकन से सहज ही यह बात स्पष्ट होती है कि समाज का मदस्य अपने काय व्यापार के अनुरूप ही माया होना है जैसे हाथ या पैर शरीर में अपनी क्रिया से ही पहचान जाते हैं । कारण वस्तु का व्यापार ही उसकी सत्ता है एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता । यह पूर्ण है कि अमुक वस्तु क्या है ता उत्तर में

उम वस्तु का व्यापार या बाय ही बताया जाता है। वस्तु की सत्ता उमका वाम है। जब मनुष्य वह बाय छोड़ देता है जिससे उमका मनुष्यत्व है, तब वह मनुष्य ही नहीं रह जाता। यदि वह नागरिक वर्तव्या का शासन नहीं करता तो वह नागरिक नहीं कहना सकता, जिस प्रकार शरीर से बटा हुआ पैर फिर पैर की सत्ता खो देता है। इसी महज सिद्धांत के कारण प्लेटो कहने लगता है कि श्रेयस वस्तु का भाव या सत्ता का उदगम है। वस्तु की यथायता उमकी सायकता है यह सायकता ससार-व्यवस्था में उसके नियत व्यापार से परखी जाती है उसका नियत व्यापार चरम श्रेयस में आका जाता है जो इस जागतिक व्यवस्था का मूल सिद्धांत है। इस प्रकार वस्तु का भाव का व्यवस्था से अनुगामित है अपने सदस्य की प्रतानि इस व्यवस्था को ग्रहण करने के अनुपात में हाती है। यदि वस्तु का व्यवस्था के बोध से विमुख होनी है तो यह व्यवस्था के बाहर हट जाती है और तब वह अपनी सत्ता का जतना बड़ा विमजन कर बैठती है।

श्रेयस की यही कल्पना दूसरे सम्वादों में भी प्रबल हुई है। 'गार्जियस' (Gorgias) का उल्लेख किया जा चुका है। 'फिथो' में श्रेयस का ससार की मर्यादना कहा गया है जो विलुप्त नहीं अथवा ससार का सजन करती है और उसे समुक्त रखती है। पार्थिव वाग्म्या से यह निम्न कारण है परंतु प्लेटो पार्थिव कारणों को उसी परिस्थितियों मानता है जिनके अभाव में यह मूलकारण अपना अस्तित्व खो देता है। फिलेबस (Philebus) में इसी को आत्मप्रकाश या परमाभिव्यक्ति अर्थात् विद्या कहा गया है जो तीन प्रमुख रूपों में प्रादुर्भूत होती है सत्य शिव सुंदर। किंतु इन सभी रूपाभासों में वह विश्व का एकमात्र व्यवस्था सिद्धांत ही रहता है। इसी तरह टिमैइयस (Timaeus) में विश्वमयी माया में विश्व सजन का वर्णन करते हुए प्लेटो सप्ता के दहात्मक और पुराणात्मक रूप को उही तथ्यों में विभूषित करता है जो 'रिपब्लिक' में उमने श्रेयस के स्वरूप का प्रदान किया है। विधाता के नाते उसने ससार की यथासम्भव सत्ता या श्रेयस बनाया है क्योंकि वह स्वयं पूर्ण श्रेयस है और इसी कारण सभ तथ्या सदय है। उमने इस इन्द्रियगम्य जगत को बाधगम्य ससार का अनुरूप बनाया है परंतु हमारा मतलब यह नहीं है कि यथायत दो समार हैं। आशय यही है कि इन्द्रियाँ जिस ससार का आश्रय पाली हैं वह वास्तव में बोधगम्य अतर्भूत व्यवस्था का आविर्भाव मात्र है। टिमैइयस (Timaeus) में अंतिम वर्णन में हम देखते हैं कि सप्ता और नासमात्र जगत का अन्तर तुल्यप्राय होता जाता है और स्वयं भासमान जगत ईश्वर के रूप में मनुष्य की इन्द्रियों को प्रत्यक्ष हाता

है। जिस प्रकार रिपब्लिक में कहा गया है कि श्रेयस या सत की परिपूर्ण व्याख्या सम्भव नहीं है उसी प्रकार त्रिमूर्त्य में बताया गया है कि निश्चित और सम्यक भाषा में देवा का विवरण तथा विश्व की उत्पत्ति गमझाना अशक्य है। शली में अन्तर हान पर भी दोनों सम्वाद एकमत में यह वान स्पष्ट करते हैं कि दृश्यमान जगत, अपूर्ण दृश्य से सही उन मिथ्यान्तों का रहस्य उद्घाटित करता है जिनके अनुसार वास्तव में वह निर्मित किया गया है और इन बोध गम्य रूपा की व्यवस्था उस आधारभूत परमसत्ता तथा प्रतिपालक सत्ता व सामीप्य को मूल में बनाती है। त्रिमूर्त्य और रिपब्लिक दोनों में बताया गया है कि मनुष्य जिस विश्व का स्वयं एक अवयव या अंग है उसका तादात्म्य में ही उस परमानन्द का अनुभव होता है। त्रिमूर्त्य में मनुष्य और रिपब्लिक में निगुण दृष्टि से विश्व की परम सत्ता का वर्णन किया गया है जिनमें से प्लेटो निगुण शली को अपेक्षाकृत यथायथ मानता है। यद्यपि वह अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने के लिए ग्रीक घमशास्त्र की न शब्दों का उपयोग करने में आभाषी नहीं करता तथापि वह बार बार सूचित करता रहता है कि यह भाषा सत्य को यथावत व्यक्त करने में असमर्थ है। रिपब्लिक में श्रेयस की विद्या नीति तथा विज्ञान के सम्बन्ध में उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी ईश्वर की कल्पना नीति और प्रकृति विषयक आधुनिक दार्शनिकों में है बगैरे यह दर्शन ईश्वर की कल्पना को अपनी विचारपद्धति का मूलमिथ्यान्त मानता हो। इस रिपब्लिक में प्लेटो ईश्वर नहीं विद्या कहता है। उसने विद्या या सिद्धान्त को वही आसन तथा कामभार प्रदान किया है जो ईश्वर को भी लागू हो सकता है परन्तु फिर भी वह बराबर सिद्धान्त अथवा विद्या कहकर ही उसे सम्बोधित करता है। इस अन्तर को छोड़कर प्लेटो की कल्पना को ग्रहण करने का सुगमतम उपाय यही है कि उसकी तुलना नवी प्रकृति की कतिपय धारणाओं से कर ली जाय जस जगदप्रभा या वस्तुप्रभा की कल्पना में उसका मिश्रण किया जा सकता है।

अब हम श्रेयस की कल्पना का रिपब्लिक में परिचय देनेवाले परिच्छेद को संक्षेप में दोहराना चाहते हैं। पहले तो श्रेयस या सत के आरम्भिक और जाने माने अभिप्रायों की चर्चा होती है। साधारणतः यह माना जाता है कि श्रेयस या सत का और जो भी आशय हो उसी के कारण समस्त वस्तुओं की प्रतिष्ठा है। वह ऐसी कोई चीज नहीं समझी जानी चाहिये जिस सम्पत्ति स्वास्थ्य एवं अथ पण्यों में जोड़ा या घटाया जा सकता है। प्रत्येक वस्तु में निहित वह ऐसा तत्त्व है जो उसे वस्तुता देता है। सभी मनुष्य दर्शन और अन्य विचारों समान

भाव स दम स्वीकार करत है। प्लेटो दा प्रचलित मतव्या का उल्लेख करता है जिनके अनुसार सत्कार म सुग्राह्य का पना चलता है। कुछ लोग विषयभाग का श्रेयस मानत हैं क्योंकि उनकी धारणा है कि हम सुख का अनुभव करना चाहते हैं आनन्द पाना चाहते हैं। दूसरे कुछ लोग बुद्धि या प्रज्ञा को श्रेयस मानत हैं क्योंकि वे वस्तुजगत के आन्तरिक बाध म आनन्द मानत हैं। उन दोनों मत-बाधा का हम परिच्छेद म सक्षिप्त वषा किया गया है यद्यपि किन्तुविषय म चर्चा का विषय यही है। प्लेटो इन दोनों दृष्टिविन्दुओं की श्रुतियाँ का परिचय मात्र दता है। जो लोग विषयभोग का जीवनाद्देश्य मानत हैं उन्हें विवश होकर गुमानुभ या पापपुण्य का भोग करना पड़ता है और दम भेददृष्टि का आन ही आनन्द का अतिरिक्त हम अनुभूति का दूसरे मानदण्ड मानना पड़त हैं। इसलिए जो लोग बाध को ही यथार्थ श्रेयस या सत् समझत हैं उन्हें श्रेयस की परिभाषा में उसी कल्पना का समावेश करना पड़ता है जिस के परिभाषित करने की पुन म हैं। जब वे पूछत हैं कि सत् का बोध ? तो उत्तर म श्रेयस का बाध ही कहना पड़ता है। इस तरह दोनों मतानुयायी अमगति म पड़े हुए हैं। किन्तु हम अनामजस्य के भातर भी एक बात निश्चित है कि जनमानस सचमुच कुछ जानन का आनुर है और जब वे श्रेयस की बात करत है तब उनका अभिप्राय म कोई यथाय वस्तु रहती है। बहुतरे नतिवत्ता का बहिरण मात्र स सन्तोष ग्रहण करने की तैयार हैं उन्हें इसी म कुछ महत्त्व निम्नायी दता है। लेकिन वास्तव म अनेक व्यक्ति नतिवत्ता के बाह्यावरण का श्रेयस या सत् का बदले ग्रहण करने की राजी न हमें क्योंकि वे यथायत अपना श्रेयस चाहत हैं। किन्तु यही चीज है जिसका विषय म वे अधेर म हैं। प्रत्येक आत्मा इस अनुमान म रहती है कि श्रेयस सरीखी कोई वस्तु है—जिस वस्तु की तुलना म अन्य कुछ भी प्राप्नव्य नहीं चलता। तथापि प्रत्येक आत्मा यह ठीक नहीं जानती कि वह है क्या और उसका विषय म उसे निश्चित अथवा स्थाया विश्वास नहीं होता। इसी अनिश्चय के कारण हम वस्तु-जगत् के अतनिहित सत् या श्रेयस की परख म चूक जात हैं। जब हम यथाय अथवा चरम सत् स अबोध रहत हैं तब माधारण गुण वस्तुओं की धारणाओं पर भी इस अनानता की प्रतिक्रिया होती है तथा हृत्पार ध्वय धुसले हा जाने हैं। अतएव यह सुनिश्चित है कि जो लोग हमारे शासक बनेंगे उन्हें इस चरम श्रेयस का विषय में गतीभर अपान नहीं होना चाहिये।

विभिन्न मनवाद और भाष्य विद्वानों के प्रारम्भिक परिचय के बाद सुरुवात से अनुरोध किया गया है कि वह स्वयं इस विषय म क्या विचार करता है

क्याकि वही एक ऐसा महामनीषी है जिसने थ्येस की प्रकृति के अनुम धान में जीवन खपा दिया । उत्तर में वह कहता है कि अक्समात समूच मनोभाव को व्यक्त कर देना मेरी शक्ति के परे है । तत्काल इतना ही सम्भव है कि अनुरूपता के सहार ही मैं थ्येस सम्बन्धी अपनी कल्पना को स्पष्ट कर दू । मैं थ्येस को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता परन्तु मैं थ्येस की सन्तति समक्ष कर सकता हू । तदनन्तर जो वक्तव्य आता है वह प्लेटो की गम्भीर मायता का द्योतक है । यह ससार को किसी बोधगम्य तथा अतीन्द्रिय अवस्था का मूर्तरूप, उसकी प्रतिच्छवि या उसका सादृश्य मानना है जसा साधारण मानवबुद्धि को भी भान होता है । इसके बाद सूय के विषय में परिच्छेद आरम्भ होता है जो केवल दृष्टांतसूचक उपमा मात्र नहीं है अपितु प्लेटो के विचार में इन्द्रियगम्य ससार और इसी के द्वारा अभिव्यक्त अतीन्द्रिय सिद्धांतों की घटनाओं का साधर्म्य है । इस तुलना में बोधग्राह्य ससार सत् या थ्येस है जो सूय के समान भासमान है । प्लेटो सूय और सत् की उपमा का विस्तार करने के लिए प्रकाश और दृष्टि के मतवाद का आश्रय लेता है जो मिथ्या था । फिर भी सत् या थ्येस की कल्पना के विषय में जो कुछ वह कहना चाहता है उसमें इस भूल से कोई त्रुटि नहीं आती । सत्य में उसका कथन यह है प्रथमतः सत् या थ्येस अस्तित्व में प्रजा का तथा वस्तु की बोधगम्यता का मूलस्रोत है जिस सूय नेत्र की दृष्टि और वस्तु की दृश्यता का स्रोत है । सत् या थ्येस का प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिच्छाया सत्य है । सत् जितनी प्रबलता अथवा दुबलता में प्रतिबिम्बित होगा उसी अनुपात में ससार बोधगम्य और आत्मा प्रजावान् होगी । जिस प्रकार प्रकाश के अभाव में भी रंग और दृष्टि का अस्तित्व रहता है उसी तरह हम वस्तु और चित्त को स्वयंभूत बोधगम्य तथा प्रजावान् मान सकते हैं । किंतु प्रजा और सत्य की यथावत् सत्ता तब तक सम्भव नहीं है जब तक सत् या थ्येस चित्त तथा जगत को पयोतिमय न कर दे । द्वितीयतः जिस प्रकार सूय केवल प्रकाश और दृष्टि का ही नहीं प्रत्युत वास्तविक जगत के प्रजनन तथा वृद्धि का भी स्रोत है उसी प्रकार सत् या थ्येस केवल सत्य तथा ज्ञान का ही नहीं अपितु जीवन और जगत के अस्तित्व का मूलस्रोत है ।

इस प्रकार यह परिच्छेद सत् या थ्येस का ससार में उचित आसन पर विराजमान करता है । जिस प्रकार विद्वत् इन्द्रिया के लिए सत् की प्रतिच्छवि और उपज है उसी तरह प्रजा के लिए भी वह सत् का प्रतिबिम्ब और उससे सम्भूत वस्तु है । अतएव कहना होगा कि समग्र विश्व सत् का प्रतिबिम्ब है चाहे उस हम इन्द्रियग्राह्य वह अथवा प्रजासुख चाहें वह सत् ही है अथवा गहनगूँ । □ □

प्रज्ञा की चार अवस्थाएँ

मोटे तौर पर ज्ञान में सत् के स्थान और कार्य का वर्णन करने के पश्चात् प्लेटो विज्ञान की अवस्थाओं का परस्पर भेद का विंगत विवरण देता है। मानव चित्त इन अवस्थाओं में से निवृत्तकर अज्ञान में ज्ञान में प्रवेश करता या कर सकता है। अधकारपूर्ण और अधोध्य स्थूल जगत् के इस छोर से प्रबुद्ध ज्ञानिमान केन्द्र तक चित्त अग्रसर हो सकता है। यह मानविक दशाभा की उत्कृष्ट शीत गति और विचार धम्बु के तदनुगुण अनुक्रम की सहज प्रतीक द्वारा स्पष्ट करता है। एक सम्यमान सरल रेखा की कल्पना कीजिए और उन चार भागों में विभाजित कर दीजिए। मान लीजिए इस रेखा का आरम्भिक छोर अक्षेय अधकार में निरुपिता है और दूसरा छोर अग्रण्ड प्रकाश में प्रवेश करता है। गण्डों में विभाजित रहने पर भी यह रेखा सतत या अटूट है। इस प्रतीक का अध्ययन करके प्लेटो सतत प्रक्रिया अथवा सातत्य की व्यक्त करता चाहता होगा। कुछ भी हो यह स्मरणीय है कि दृश्यमान और बोधमय सगार अदृश्यमान अग्रिष्ठ नहीं होता और रेखा के दो प्रमुख गण्ड सगार के इन दो स्याद्विध भागों के समान हैं।

इस रेखा के चार गण्ड परम तेजस्विता के मात्र का आभास देते हैं। इस रङ्ग से उन अवस्थाओं की समझाने का प्रयत्न किया गया है जिनमें प्रवेश किये बिना मानवचित्त विश्व का पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। यह उन विभिन्न और दमनगुण रूपों की प्रस्तुत करने का प्रयत्न है जिन्हें जाना-मुझ मानवचित्त के समान यह जगत् प्रकट करता है। जब हम यह कहते हैं कि मस्तिष्क की विचारगत धम्बुर्तु विभिन्न अवस्थाओं में है तो हम यह न समझ बैठें कि वास्तविक पदार्थों की चार मृदक-मृदक ध्वनियाँ हुआ करती हैं वास्तव में सगार के

प्रति चार विभिन्न दृष्टिकोण अथवा पन्नाय व चार विभिन्न स्वरूप अभिप्रेत हैं। हम जिसे एक पन्नाय समझते हैं वही भिन्न भिन्न व्यक्तियों की दृष्टि में विनकुल अलग अलग स्वरूपा में ग्रहण किया जाता है। उदाहरणार्थ विज्ञानविद वनस्पति शास्त्री और वनस्पतिशास्त्र के ज्ञान में बिहीन मनुष्य एक ही पुष्प का सम्पूर्ण दृष्टि में लगते हैं परन्तु दोनों एक दूसरे से सबथा भिन्न दृग् में उस पुष्प का ज्ञान प्राप्त करत हैं। वनस्पतिशास्त्रा उस पुष्प को वनस्पतिशास्त्र के सिद्धान्त की प्रतिष्ठाधि मानता है। वस्तुआ व डा दृष्टिकोणा में जो अन्तर है उस प्लेटो दक्षणापूर्वक लगातार व्यक्त करन में नहीं चकता मरहापन और गहनता में तथा धूमिलता एवं ज्योति में मात्रा का भेद है। आशय यह है कि ज्ञान की प्रगति को हम मयथा गतही तरफ़ी से वस्तुजगत् व नितान्त ममभंग दृष्टिवाण तक की उन्नति मान सकते हैं। इगानिए प्लेटो प्रत्येक उत्कृष्टगामी जीव प्रत्येक निम्न गामी अवस्था के सम्बन्ध को परछाई तथा स्वयं वस्तु के बीच का सम्बन्ध बतनाता है। ज्ञान विषयक प्रतिपादन में यही रूपक बहुत अधिक भाग में प्रयुक्त हुआ है। हमका मतनव यह है कि निम्नावस्था में मन्विज जितना ग्रहण करता है उसकी अपेक्षा वही अधिक वह उत्कृष्टगामी अवस्था में ग्रहणशील हुआ करता है। यथापठोम पन्नाय अपने प्रतिबिम्ब या परछाई से वही अधिक इन्द्रियब्राह्म रूप रखता है। विज्ञान की दृष्टि इन ठोंग पदार्थों को चरम सत्य नहीं समझती जबकि हम उन्हें समाज की वास्तविक वस्तुएँ कहते हैं। विज्ञान कहता है कि वस्तुमात्र मत्त्व सिद्धान्त का मूलरूप है जिनका ज्ञान ही स्मृहणीय है कोई विशेष पौधा या पशु नहा बलिक स्थायी और समतरेव सम्पूर्ण चराचर में भासमान है और यही ज्ञान का सन्ध है। ऐसा लगता है कि विज्ञान इस पार्थिव ससार को भुला रहा है और वस्तुमात्र के साधारण दृश्यरूप में जो कुछ हम विदित होता है उससे अपेक्षाकृत अधिक जानकारी देता है।

जो मानवचित्त अपनी बोधशक्ति का परिपूर्ण विकास करते हैं उन्हें 'यूनाधिक' मात्रा में इन विभिन्न अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। अत्यधिक मेधावी अथवा अल्पतम गुणी चराचर की प्रतिबिम्ब के गमान स्वीकार करके विकास पथ पर चलना शुरू करते हैं। अलग अलग दूरी तक विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न चित्त अग्रसर होने हैं और एक ही चित्त विभिन्न अवस्थाओं की ओर बढ़ता है परन्तु उसके भिन्न भिन्न भाग समान मात्रा में अग्रसर नहीं होते। मानसिक विकास की इस विधि को पहचान लेने के बाद प्लेटो अपने शिक्षादश को व्यक्त करता है। इस शिक्षा में भिन्न भिन्न मस्तिष्क की अवस्थानुसार चित्तन के उचित

प्रज्ञा की चार अवस्थाएँ

ध्येय का समावेश होना चाहिये और उनकी योग्यता के अनुकूल उन्हें धीरे धीरे और मरल ढंग में वस्तुमाय के नितांत यथाथ रूप में अवगत कराना चाहिये। यदि शिक्षा में इस प्रयोजन का अभाव है तो वे मग्नित्व निम्नावस्था में हँ पड़े रहेंगे जिन्हें इससे बहुत आगे बढ़ जाना चाहिय था और तब वे सत्य के अपभावित उल्लेख या सतही रूप को सम्पूर्ण सत्य मानकर वही भ्रम में फँस रहेंगे।

मानसिक विकास की चार अवस्थाओं को (नीचे से ऊपर की ओर) अनुमान निश्चयात्मक भावना प्रज्ञा तथा आदर्श के नाम दिये गये हैं। पहली दो अवस्थाएँ इन्द्रियगम्य और दूसरी दो बोधगम्य श्रेणी में इसके पूर्व उल्लिखित की जा चुकी हैं।

१ जगत् के नितांत मतही अवलोकन को प्लेटो द्वारा अनुमान की स्ना दी गयी है जो अल्पतम ज्ञान का साधन हुआ करता है। श्रीकृष्ण के जिस गीत का पर्यायवाची अनुमान है, उसके दो अर्थ हैं उसका नियमित अर्थ अध्याहार या अटकल है जिस 'युत्पत्तिस्मृत अर्थ में प्लेटो ने उसका उपयोग किया है उसका आशय रूपान्तरण है। वह ऐसी मानसिक दशा है जिसमें वस्तुओं का केवल मतिभाव मात्र आविर्भूत होता है। इन दोनों अर्थों में एक सम्बन्ध बना हुआ है। अनुमान से हमारा अभिप्राय अनिश्चित विद्वान् होता है जो वस्तु के बहिर्ग अथवा उसकी सतही आकृति का विचार करने से उत्पन्न होता है। प्लेटो इन दोनों अर्थों का उपयोग करता है ताकि मानसिक प्रवृत्ति के अनुरूप वस्तु का निश्चित लक्षण अथवा गुण और दृष्टा का विशेष मनोभाव अभिव्यक्त हो सके। मानसिक स्थिति में बहुत कम स्थिर होता है उसकी पकड़ में आया हुए पन्थ प्रतिमूर्ति, परछाई अथवा परावर्तित रूप हुआ करता है।

प्रश्न यह है कि वस्तुओं की इस निम्नतम श्रेणी को वह परछाई या परावर्तित रूप क्या समझना है? परछाई प्रतिबिम्ब तथा स्वप्न अथवा यथार्थ के बहुत ज्ञान मान प्रसार है। इनके और वास्तविकता के बीच का वृष्ण नये नये विचारों का ध्यान एवम् नीचता है और यही हाल उन लोगों का है जो इस प्रकार के नवीन ज्ञान में हैं। वस्तु और उसका परछाई में क्या भिन्नता है? परछाई वस्तु की रूपरेखा में भेद जाती है परन्तु यह भी बहुत अपष्ट और अनिश्चित होती है। यथाय वस्तु उसका टोमपन उसका गठन उसका रूप—मय का परछाई में लोप हो जाता है। वस्तु में उसका परावर्तित रूप किम बात

प्रति चार विभिन्न दृष्टिकोण अथवा पदार्थ के चार विभिन्न स्वरूप अभिप्रेत हैं। हम जिसे एक पन्थाय समझते हैं वही भिन्न भिन्न व्यक्तियों की दृष्टि में विनकुल अलग अलग स्वरूपा में ग्रहण किया जाता है। उन्नाहरणार्थ विज्ञानविद वनस्पतिशास्त्री और वास्तुनिशास्त्र के ज्ञान से विहीन मनुष्य एक ही पुष्प का सम्पूर्ण दृष्टि में देखते हैं परन्तु गीला एक दूसरे से सबया भिन्न ढंग में उस पुष्प का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वनस्पतिशास्त्री उस पुष्प को वनस्पतिशास्त्र के सिद्धांतों की प्रतिच्छवि मानता है। वस्तुआ के इन दृष्टिकोणों में जो अंतर है उस प्लेटो दृढ़तापूर्वक लगातार व्यक्त करने में नहीं चकता मनुहीपन और गन्तता में तथा धूमिलता एवं ज्योति में मात्रा का भेद है। आशय यह है कि ज्ञान की प्रगति की हम सबया सतही तरफ़ी में वस्तुजगत् के निरान्त ममभेदी दृष्टिनाण तक की उन्नति मान सकते हैं। इसीलिए प्लेटो प्रत्येक उत्कृष्टगामी और प्रत्येक निम्नगामी अवस्था के सम्बन्ध को परछाई तथा स्वयं वस्तु के बीच का सम्बन्ध बतलाता है। ज्ञान विषयक प्रतिपादन में यही रूपक बहुत अधिक भाग में प्रयुक्त हुआ है। हमका मतलब यह है कि निम्नावस्था में मस्तिष्क जितना ग्रहण करता है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वह उच्चगामी अवस्था में ग्रहणशील हुआ करता है। यथापि ठोस पन्थाय अपने प्रतिबिम्ब या परछाई से कहीं अधिक इन्द्रियग्राह्य रूप रखता है। विज्ञान की दृष्टि इन ठोस पदार्थों को चरम सत्य नहीं समझती जबकि हम उन्हें ससार की वास्तविक वस्तुएँ कहते हैं। विज्ञान कहता है कि वस्तुमात्र सत्त्व सिद्धांत का मूलरूप हैं जिनका ज्ञान हो स्पृष्टणीय है कोई विरोध पौधा या पशु नहीं बल्कि स्थायी और समतत्त्व सम्पूर्ण चराचर में भासमान है और यही ज्ञान का लक्ष्य है। ऐसा लगता है कि विज्ञान इस पार्थिव ससार को भुला रहा है और वस्तुमात्र के साधारण दृश्यरूप से जो कुछ हम विदित होता है, उसमें अपेक्षाकृत अधिक जानकारी देता है।

जो मानवचित्त अपनी बोधशक्ति का परिपूर्ण विकास करते हैं उन्हें 'यूनानिक' मात्रा में इन विभिन्न अवस्थाओं का पार करना पड़ता है। अत्यधिक मेधावी अथवा अल्पतम गुणी चराचर को प्रतिबिम्ब के समान स्वीकार करके विकास पथ पर चलना शुरू करते हैं। अलग-अलग दूरी तक विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न चित्त अग्रसर होते हैं और एक ही चित्त विभिन्न अवस्थाओं की ओर बढ़ता है परन्तु उसके भिन्न भिन्न मार्ग समान मात्रा में अग्रसर नहीं होते। मानसिक विकास की इस विधि को पहचान लेने के बाद प्लेटो अपने शिक्षादश को व्यक्त करता है। इस शिक्षा में भिन्न भिन्न मस्तिष्क की अवस्थानुसार चित्तों के उचित

ध्येय का समावेश होना चाहिये और उनकी योग्यता के अनुकूल उन्हें धीरे धीरे और मज्जु दृग्म में वस्तुमान के निरन्तर यथावस्थ में अवगत कराना चाहिये । यदि शिक्षा में इस प्रयोजन का अभाव है तो वे मस्तिष्क निम्नावस्था में ही पड़े रहें जिन्हें हमसे बहुत आगे बढ़ जाना चाहिये था और तब वे सत्य के अपलावृत उथल या सतही रूप का सम्पूर्ण सत्य मानकर वही भ्रम में पड़े रहें ।

मानसिक विकास की चार अवस्थाओं की (नीचे से ऊपर की ओर) अनुमान निश्चयात्मक भावना, प्रज्ञा तथा ज्ञान के नाम दिये गये हैं । पहली दो अवस्थाएँ इन्द्रियगम्य और दूसरी दो बाधगम्य श्रेणी में इसके पूर्व उल्लिखित की जा चुकी हैं ।

१ जन्म के निरन्तर सतही अवलोकन की श्रेणी द्वारा अनुमान की सजा दी गयी है जो अल्पतम ज्ञान का माधन हुआ करता है । धीरे धीरे माया के जिन गन्तव्य का पर्यायवाची 'अनुमान' है, उसके सा अर्थ है उसका नियमित अर्थ अन्वेषण या अटकल है जिस व्युत्पत्तिसम्मत अर्थ में प्लेटो ने इसका उपयोग किया है उसका आशय रूपान्तर है । वह ऐसी मानसिक दशा है जिसमें वस्तुओं का केवल मूर्तिभाव मात्र आविर्भूत होता है । इन दोनों अर्थों में एक सम्बन्ध बना हुआ है । अनुमान से हमारा अभिप्राय अनिश्चित विश्वास होता है जो वस्तु के बहिरंग अथवा उसकी सतही आकृति का विचार करने से उत्पन्न होता है । प्लेटो इन दोनों अर्थों का उपयोग करता है ताकि मानसिक ग्रहण के अनुकूल वस्तु का निश्चित लक्षण अथवा गुण और दृष्टा का विशेष मनोभाव अभिव्यक्त हो सके । मानसिक स्थिति में बहुत कम स्थिति होता है उसकी पकड़ में आये हुए पक्षों प्रतिमूर्ति, परछाई अथवा परावर्तित रूप हुआ करने हैं ।

प्रश्न यह है कि वस्तुओं की इस निम्नतम श्रेणी को वह परछाई या परावर्तित रूप क्या समझना है ? परछाई प्रतिबिम्ब तथा स्वप्न अथवा यथा के बहुत जाने माने प्रकार हैं । इनके और वास्तविकता के बीच का वैषम्य नय नये विचारकों का ध्यान एकदम सजीवता है और यहाँ तक उन जागा है जो हम प्रकार के नवीन जिज्ञासु हैं । वस्तु और उसकी परछाई में क्या भिन्नता है ? परछाई वस्तु की रूपरेखा में मेल खाती है परन्तु यह भी बहुत अपष्ट और अनिश्चित होती है । यथा वस्तु उसका दोमल, उज्ज्वल गठन उसका रंग—मध्य का परछाई में लोप हो जाता है । वस्तु में उज्ज्वल परावर्तित रूप किम्वद

में मिश्र है ? परछाई की ओर ता परावर्तित रूपा यथाय वस्तु को अधिक निश्चित आकार में व्यक्त करना है । उसकी रूपायें बहुत कुछ निर्धारित और शुद्ध होती हैं उसका रंग भी बहुत कुछ बना रहता है परन्तु परावर्तित रूप के केवल दो आयाम होते हैं । अनुमान एक मनोन्मा है जिसमें एक पन्थाप का सम्बन्ध दूसरे से उसी प्रकार फलित होता है जैसा यथाय वस्तु से उसकी परछाई या परावर्तित रूप ।

एक दृष्टि के समक्ष एक प्रगल्भ क्षेत्र तुरन्त प्रकट हो जाता है परन्तु कौन-सी विनोय मनोन्माएँ प्लेटो के ध्यान में थी ? उसके भावाय का उदाहरण हम गुहा रूपक में मिलता है जिसके बनी प्रतिमूर्तियाँ की परछाईयाँ मात्र देख सकते हैं । इस रूपक की भाषा में वर्णित एथेन्स के कानून में 'याय की कल्पना का साकार देवता प्रतिमूर्ति का दृष्टान्त है परन्तु प्लेटो के अनुसार यह भी बहुत अपूर्ण साकारता होगी । यदि किसी विधि विनोयन को अवसर मिलता एथेन्स के कानून की वास्तविकता से एक डग इधर उधर हटाना सचमुच उस कानून की अनुद्ध व्याख्या करना हो जायेगा क्योंकि वास्तविकता से झिगना परछाई की सच मानना होगा । अगर कोई 'यक्ति इस अनुद्ध व्याख्या में विश्वास करके उसे ही यथाय 'याय मान ले तो उसकी मनोन्मा को अनुमान कहा जा सकता है । उस 'याय का बोध दोहरा विद्वत्प्राप्त्यन्त माध्यम में उपलब्ध होगा, पहल तो एथेन्स के कानून की शकल में और दूसरे प्रवक्ता के शब्दों में ।

द्वयम अध्याय से दूसरा उदाहरण लेकर इस ओर समझ लिया जाय जहाँ प्लेटो अनुकृति कलाओं पर आरोप करने के उद्देश्य में इस विचार को विस्तृत रूप देना है । इन कलाओं और चित्रकला के प्रभाव का कारण यह है कि कलाकार यथाय वस्तु को प्रत्यक्ष प्रस्तुत नहीं करता, उसकी अनुकृति अथवा उसका दूरस्थ आभास चित्रित करता है । वह यथायवस्तु का जगह यथाभास का विप्रकार है । उसका मिलान उस मनुष्य से किया जा सकता है जो दपण में वस्तुछाया को दिखाता है । यदि कोई 'यक्ति चित्र की रंगिमा और दृश्यभूमिका से प्रभावित होकर उसे यथायवस्तु मान लेता कहना होगा कि वह अनुमान की मनोदशा में है । जिस घड़ी मनुष्य जान ले कि परछाई सिर्फ परछाई है चित्र कवन चित्र है उसी क्षण वह उस वस्तु विशेष के सद्भ में अनुमान की मनोदशा में निवृत्त हो जाता है । कलाएँ इस सरल ढंग की भ्रांति का सृजन नहीं करती परन्तु द्वयम अध्याय में प्लेटो सिर्फ इसी कारण उन पर कठोर आरोप करता है कि उसके मतानुसार कलाएँ नित्यश एक मिश्र प्रकार के भ्रांतिमूलक विचारों का जन्म देती

उत्तमिजित करने के लिए प्रयुक्त की जाती है। विप्रकला को वह अनुकरणात्मक कलाभावा सुगम उदाहरण समझना है और इसमें उगी मिट्टात का प्रयोग करता है जो उसने गला का समझना के लिए अपनाया था। यह वाध्य तथा अत्युक्तिपूर्ण भाषण का इस प्रकार की भाँति उत्पन्न करनेवाले शोन मानता है। कवि हम अपनी अनुभूति की प्रतिच्छवि देता है किन्तु उसकी कविता पढ़ने के बाद हमारा यह स्थान है। जाय कि हम उस वस्तु के सम्बन्ध में सब कुछ जान गये तो हम उसी प्रकार भ्रम में रहेंगे जैसा चित्र को यथायथ वस्तु मान लेना होगा। इसलिए जब प्लेटो प्रतिमूर्ति की बात उठाता है तब वह विद्या या प्रतिमाओं के विषय में नहीं मोचता बल्कि गण्डजनिन प्रतिच्छवि उत्तर ध्यान में है। शब्दा के प्रभाव के प्रति प्लेटो की आशुगुह्यता उसका विशेष लक्षण है। ऐसा जान पड़ता है कि चेतनभोगी कुछ तकवाल्या द्वारा चतुराई में शब्दा का दुष्टयोग करने की सम्भावना से वह काफी परेशान रहता था माना गान्धिका पर अपने प्रभुत्व की चेतना से उस प्रतीत होता रहता था कि शब्दा का बुद्धि प्रयोग कितना अनिष्टकर हो सकता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य के मस्तिष्क और तन्मा के परस्पर समाग की दृष्टि में भाषा में ही प्रतिमूर्ति प्रस्तुत करने की शक्ति है। अत्युक्तिपूर्ण वाग्मिता में कविता की अपेक्षा यह क्षमता बहुत अधिक है—इन दोनों का समयोग उसके मन पर छाया हुआ था और दोनों कलाभा की शक्ति भाषा के प्रयोग पर निर्भर है और प्रीव जाति की दृष्टि में भाषा के समान प्रभावोत्पादक अन्य कोई वस्तु नहीं थी।

किन्तु यह मोचना गलत होगी कि प्लेटो भाषा की शक्ति का अशुभ और शुभ की क्षमता से हानि मानता था। तीसरे अध्याय में हम प्रतिमूर्ति के रूपक को हितकारी अर्थ में प्रयुक्त देखते हैं और हम विनित होता है कि कला का एक वाद्य आत्मसमय में धर्म उदारता आदि की प्रतिमूर्तियाँ को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करना है जिससे मस्तिष्क इन सदगुणों की स्वीकार करना सीख जाय। प्लेटो कहता है कि जो विद्वान अपनी शब्दशक्ति से परिचित हैं उसमें उनके प्रतिनिधित्व दण या जन में पहचान लेने की योग्यता होना चाहिये। समय कलाकार सदगुणों की प्रतिच्छाया और सौंदर्य की आवृत्ति देता सकता है। इस परिच्छेद में सौंदर्यवाच की दक्षता अनुमानशक्ति की शिक्षा के रूप में की गयी है। कला में अविनियोग्यता के प्रतिरूप का अभिप्राय समस्तन की शिक्षा आत्मा का इसी में मिलती है। इसका मन्थ्य यही है कि प्रतिमूर्तियाँ का आत्मा के जिस पक्ष पर प्रभाव पड़ता है उसका समुचित विकास हो। यह एसी सीखना है जिस हम

शिगुआम और अविकसित जातियों में प्रधानतया पाते हैं और कतिपय व्यक्तियों में जीवनभर दखते हैं। इसका विपरीत दृष्टान्त अध्याय में वह अनुकरणात्मक कला का दायाँ हाथ और उसके मरना को उजागर करता है। उसके व्यक्त का मुख्य प्रयाजन यह है कि कलाकार हम वस्तुमात्र का केवल बाह्यरूप ही निलंबित पाता है। कला विषयक उसका सामान्य धारणा इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है कला का उचित कार्य मूलतः महान् और सौन्दर्यमयी वस्तु या भावना की प्रति मूर्तियों आत्मा के सम्पूर्ण प्रस्तुत करना है। इस प्रक्रिया से आत्मा वास्तविक जीवन में जा कुछ महान् और सौन्दर्यमयी है उस पहचानने में समर्थ होती है। जब कला की प्रेरणा से जनसमूह दृश्यवस्तु को उससे अधिक यथार्थ अदृश्यतत्त्व का स्थान देने लगता है तब कला व्यर्थान्युत हो जाती है।

प्रायः सभी लोग बहुतेरी वस्तुओं का विषय में अनुमान दशा में रहा करते हैं। जय प्लेटो परछाइयाँ और परावर्तित रूपों का यथार्थवस्तु मान लेने की भावना को उल्लेख करता है, तब हम उसके विचारों की एक सामान्य कल्पना करना जरूरी है। समाज में अनेक प्रकार की धारणाएँ घूमती रहती हैं। लोग उन्हें जान अनजान अपनी धारणा बना लेते हैं और जिस हम जान कहते हैं उसके स्वल्प में इन धारणाओं का बहुत बड़ा भाग शामिल रहता है। लेकिन जब हम इन धारणाओं का परखते हैं तब हम पाते हैं कि वे तथ्य के विरुद्ध तथा अपूर्ण प्रतिमान हैं जो दूसरे व्यक्तियों के मस्तिष्क से और हमारी मिथ्या कल्पनाओं तथा दुराग्रहों से छनछन कर हमारे पास पहुँच गयी हैं।

ग्रीक भाषा में जिन शब्दों को अनुमान कहा गया है उसका शाब्दिक अनुवाद कल्पना है। परन्तु एक शब्द को दूसरे शब्द से अनुवाद कर देना ठीक नहीं है। ग्रीक शब्द कल्पना का सतही अर्थ का द्योतक है और उसके गहन अर्थ को व्यक्त नहीं करता। अंग्रेजी भाषा में कल्पना का दो अर्थ हैं। एक अर्थ प्लेटो के प्रतिबिम्बसूचक आशय को प्रकट करता है। जब हम कहते हैं कि कोई बात काल्पनिक है अथवा मनुष्य अपनी कल्पना का दास है तब हमारा अभिप्राय अत्यन्त सतही कारणों का वर्णन करता है परन्तु जब हम कहें कि कोई कवि बड़ा कल्पनाशील पुरुष है तब हम उक्त अभिप्राय के विलकुल विपरीत आशय को प्रकट करते हैं। हम कहना चाहते हैं कि वस्तुजगत के दर्शन से कवि के चित्त में गहन सत्य के विविध रूप अवतरित हो रहे हैं जो सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। महान् कवि भी विषयवस्तु को सचमुच इन्द्रियग्राह्य रूप में ही देखता है परन्तु वह इन्द्रियों से प्राप्त सूचना का गहरी दृष्टि में परखता है और कल्पना के आशय

से सत्य की उन्नति करना है, जिस सत्य को चिन्तन के द्वारा दूसरे मनुष्य ग्रहण करते हैं। प्लेटो बन्धनात्मक ज्ञान के दुष्प्रयोग का सम्भावना से इतना अधिक चिन्तित है जिनका उसके यथार्थमय सन्तुषण से नहीं। उस बन्धना और चिन्तन के सयोग का किन्ता सराहनीय बन होना है इसका स्थायी प्रमाण स्वयं प्लेटो है। यह भी सत्य है कि हम लोग आन्तरिक एक कृत्रिम सत्ता में रहना पसन्द करते हैं और प्रतिविम्ब को ही यथायथा मानते रहते हैं, प्रतिविम्ब को देखकर उनका महार यथायवस्तु को जानने का प्रयत्न बहुत ही विरल होता है।

गुहारूप में प्लेटो ने बहुत बड़े जनसमुदाय की मानसिक दशा की कल्पना का प्रयत्न किया है। उनके चित्त का एक बड़ा भाग परछाईया से ही घिरा रहता है और इनका ऐसा असर उठा पर पड़ता है कि वे केवल इन परछाईया को यथायव वस्तु मानते रहते हैं। भ्रांति इसी दृष्टिकोण में है क्योंकि जब मनुष्य परछाई को परछाई समझने लगे तो भ्रांति भग्न हो जाती है। एक लोका के मन असमजस में पड़ रहे हैं। इस रूप में उन कीदिया को ही अत्यधिक सम्मानित तथा पुरस्कृत किया गया है जो परछाई के गुजरने का अनुरूप पाद रतना गोल लेते हैं क्योंकि यही लोग यह भविष्यवाणी करने में सबसे समर्थ होते हैं कि आग बौन भी परछाई आनेवाली है। इससे यह स्पष्ट किया गया है कि इन लोगों की निगरात्मिका बुद्धि दिन-रात अनुमानरुद्ध अथवा अनिश्चित है। जिन अनुपात में हमारा ज्ञान यथायवस्तु के प्रत्यक्ष अनुभव से विहीन होगा, वस्तुजगत् के सीधे सम्पर्क का जितना अभाव होगा, उसी मात्रा में हमारे विश्वास अशुद्ध या अनिश्चित होगा।

(२) अनुमान के पश्चात् की अवस्था को निश्चय भावना का नाम इसलिए दिया गया है क्योंकि इस दशा में अनुमान के विपरीत बहुत कुछ निश्चय या विश्वास रहता है। जब ज्ञान वस्तुजगत् के व्यक्तिगत सम्पर्क में आते हैं तो उन्हें उन चीजों के विषय में अधिक निश्चयात्मक ज्ञान होता है जसा दूसरा से उन वस्तुओं के सम्बन्ध में मिल जान से नहीं हो सकता। इसलिए निश्चय भावना वह मनोदशा है जिसमें हम जीवन का वस्तुओं का यथायव स्थूल ज्ञान प्राप्त करते हैं यद्यपि यह ज्ञान भी एकमात्र यथायवता नहीं है, तथापि हमें उनके विषय में बहुत अधिक निश्चय या विश्वास प्राप्त होता है।

यह स्मरणीय है कि अनुमान और निश्चय भावना दोनों ही सम्मति के अनुविभाग हैं। इसलिए सम्मति के सम्बन्ध में प्रकट किया गया विचार इनकी भी जागू है। सम्मति मनोदशा में सत्य तथा यथायवता दोनों अनिवार्य धृक्-पृक् और

ऊपरी तौर पर स्वतन्त्र पक्षों के रूप में रहते हैं प्रत्येक पक्ष का निजी लक्षण तथा आसरा हुआ करता है चाहे वे पदाग्र यथावत हा या परावर्तित उदाहरणार्थ 'याय विषयक' ज्ञान चाहे पुस्तक से प्राप्त हो परस्पर चर्चा से हा अथवा निजी अनुभव से उपलब्ध हो प्रत्येक स्थिति में यह सत्य है कि जब तक सम्मति की दशा में हैं तब तक 'याय क्या है' के उत्तर में हम खास कानून, अधिनियम अथवा सस्थाओं की ओर सवेत निया करते हैं। फिर भी जब हम उधार जान बारी के दायरे से या वरपनाजनित वस्तुमान से अपने प्रत्यक्षज्ञान के क्षेत्र में पहुँचते हैं तो हम स्पष्ट अन्तर निम्नायी देता है। निश्चय भावना अनिश्चय की मन स्थिति से एक प्रकार की निश्चितता में प्रवृत्त करना है।

जिस प्रकार अनुमान की समुचित दशा और अनुचित दशा होती है अर्थात् एक में सत्याग्र रहना है और दूसरी में सत्यभाव इसी प्रकार सभी सम्मति में भेद होता है। इसे स्मरण रखना आवश्यक है क्योंकि उचित सम्मति सदगुण का सार अभिभावक का गुण लक्षण है। यही कारण है कि पक्ष में अध्याय में जब प्लेटो सम्मति की चर्चा घुणास्पद ढंग से करने लगता है तो आश्चर्य होता है। अमल में अनुमान की मनोदशा कहने का अभिप्राय उससे पुनराग पाना है जब हम उससे सबका सन्तुष्ट हो जाते हैं और उसे अन्तिम नियम जैसी बात समझने लगते हैं। परछाई अथवा परावर्तित रूप तब बलेशप्रद है जब हम उन्हें परछाई में समझकर कुछ और वस्तु मानना शुरू कर देते हैं। दृष्ट का विवृत रूप ही भ्रान्ति है परन्तु जो दृष्ट हम भ्रान्ति जैसा लगता है उसमें उचित अभिप्राय व्यक्त करने की क्षमता भी निहित है। सामान्यतः यही बात सम्मति के लिए प्रयुक्त होती है। जब तक सम्मति के विषय में चरम सत्य के समान विश्वास किया जाता है तब तक वह त्याज्य है। उचित सम्मति में चाह सही सिद्धान्त अपूर्व रीति से ही मूल हुए हो वह मनोदशा फिर भी इलाध्य है और हमारे अनुभव का विपुल परिणाम इस परिधि से आगे नहीं जा सकता। इस मनोदशा में असंतोषकारक लक्षण यही है कि यह कुछ विशिष्ट पक्षों से सम्बद्ध है। इसी कारण जब हम देखते हैं कि इन पक्षों के लक्षण हमारी धारणा से भिन्न और अस्थिर है बल्कि परिवर्ण के प्रभाव से इनके गुण बनन बिगडने हैं तो हमारी सम्मति का मानसिक स्वरूप उगमगाने लगता है। फिर सहसा यह प्रश्न मन में उठता है कि यदि 'याय या सौंदर्य अथवा भार विषयक हमारी धारणा विभिन्न सम्बंधों के संबन्ध में विचित्र ढंग से बदलनी हैं और निरन्तर अस्थिर दशा में रहती हैं तो 'याय या सौंदर्य अथवा भार का निश्चित भाव क्या हो सकता है ?

जब सम्मति के विषय परस्पर विरोधी होत है तब इसी भावना से मन को बाध्न हाकर सत्य के अध्याय रूपा की जिज्ञासा करना पड़ती है। हम कुछ जानी माना वाना के आसरी होने के कारण जो विश्वास बना बैठे हैं, वह विफल हो जाता है। फलतः बाधा तथा असमजस का अनुभव करके किसी नय वस्तु की खोज में जुट जाते हैं। इस प्रकार हम उन रूपों, सिद्धांतों अथवा कानून की शोध के लिए बाध्य हो जाते हैं जिनके कारण विभिन्न वस्तुएँ अपने परस्पर विरोध में प्रकट होती हैं अथवा जो हम परिवर्तनशील और विविध रूपमें जगत में प्रतिष्ठित एवना के अनुसंधान में प्रेरित करने हैं।

(३) मानसिक विकास की आगामी अवस्था को प्लेटो जिस ग्रीक शब्द से व्यक्त करता है, उससे किसी प्रकार की निश्चित स्पष्ट धारणा नहीं बनायी जा सकती। ग्रीक शब्द इस शब्द से वही अभिप्राय समझने थे जो अंग्रेजी शब्द 'इंटेलेक्ट' या हिन्दी शब्द 'मति' में निहित है। 'इंटेलेक्ट' या मति के समान उसका कोई निर्धारित आशय नहीं है और उसमें किसी विशेष मनोदशा का वर्णन नहीं होता। किंतु उस शब्द का प्रयोग स्पष्ट विज्ञानविद् के उत्तम प्रतीक का और संकेत करता है। उस शब्द शब्द के उदाहरणों का चुनाव भी प्लेटो ने अपने युग के विज्ञानशास्त्रों की तत्कालीन विकासशास्त्रों में किया है। बाड़ी सी भिन्नता के होने हुए भी प्लेटो ने जो कुछ इस शब्द के अभिप्राय में व्यक्त करना चाहा है और मस्तिष्क के वैज्ञानिक अभ्यास से आधुनिक विचारों को हम जिस आशय में प्रकट करते हैं—इन दोनों में भूतभूत समानता है।

इस अवस्था के दो वक्षज प्लेटो सम्मुख रखता है जिनके परस्पर सम्बन्ध का कोई प्रमाण नहीं मिलता (अ) यह चन्द्रियगोचर वस्तुओं से सम्बन्धित अत्रत्य है परंतु इन वस्तुओं का अतीन्द्रिय का प्रतीक मानकर प्रयुक्त किया गया है। (आ) उपपत्ति का आधार पर तकसमस्त सत्य पाया का मूल किया गया है। इन दोनों दृष्टियों से अकणित तथा रूपाकणित (ज्यामिति) ग्रीक शब्द या मति के प्रत्यक्ष प्रकार हैं।

(अ) अकणितज्ञ और ज्यामितिज्ञ वास्तव में उन रूपों के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं करत जिन दृश्य रूपों का उपयोग वे किया करते हैं। ज्यामितिक विभुज अथवा वृत्त की आकृति के विषय में सोचता तो है, वह जो वस्तु बनाता है उसका उपयोग प्रतीकात्मक है। यद्यपि ऐसे प्रतीकों के बिना गणितशास्त्र का अध्ययन असम्भव है तथापि वस्तु केवल प्रतीक है। जिन दृश्यमान प्रतिबिम्बों का

वह उपयोग करता है वे सम्मति व विषयमान हैं—उनमें से प्रत्येक का पृथक् स्वतन्त्र आगमन है अपना लक्षण है। जिन विषयों के प्रतीक य यथावत् वस्तुएँ हाती हैं उन्हीं को प्लेटो रूप या आकृति कहकर पुकारता है जैसे त्रिभुज की आकृति अथवा 'स्वयं त्रिभुज' क्योंकि इन दोनों का उपयोग बहुत अग्रमनस्कता से किया जाता है।

प्लेटो गणितशास्त्र के विषय में जा बहता है वह समस्त विज्ञानशास्त्र को लागू होता है। सम्पूर्ण विज्ञान इन्द्रियगम्य विषयों को प्रतीक मानता है। वह सदैव मूलतत्त्व की चिन्ता में गोल में सन्नत रहता है और वह चतुर्दिक् इन्द्रिय मुलभ वस्तुजगत को उस मूलतत्त्व का प्रतीक समझता है अथवा वस्तुमान को वह मूल सिद्धांतों की अभिव्यक्ति मानकर चलता है। वनस्पतिविज्ञ तथा जन्तु विज्ञानी निश्चित पौधे अथवा पशु के सम्बन्ध में चर्चा करता है परन्तु उसको एक ही वन के किसी खास पौधे या पशु का चुनाव करने की परवाह नहीं रहती। इसीलिए हम विज्ञान का अमूर्त या भावात्मक कहा करते हैं। विज्ञानविद् शोधकाय की प्रक्रिया में जानबूझकर और आवश्यक रूप से अपने विषय या पदार्थ के बहुतेरे भागों की ओर ध्यान तक नहीं देता और उसके भीतर की कुछ निश्चित बातों पर ही विचार करता है। त्रिभुज की भुजाएँ तथा कोणों के सम्बन्ध की परीक्षा करने में ज्यामितिविद् त्रिभुज बड़ा है या छोटा उमड़ा क्या रंग है वह किस वस्तु से बना है आदि बातों को एकदम निरर्थक समझकर चलता है। किसी दूसरे व्यक्ति को इन बातों का ध्यान आता हो या इनकी ओर रुचि हो सकती है किन्तु उस नहीं। तथापि इन्हीं सभी चीजों के संयोग से दृश्यमान त्रिभुज का रूप बनता है। ज्यामितिविद् का विषय बोधगम्य त्रिभुज है जिसके विपरीत दृश्यमान त्रिभुज को वह समझ रखता है मानो हम दो त्रिभुजों की बात कर रहे हैं और तब ऐसा भान होना है जैसे बोधगम्य त्रिभुज कोई दूसरा त्रिभुज है जो दृश्यमान त्रिभुज की एक घुघली प्रतिच्छाया है। भाषा की इस विवशता अथवा अक्षमता से ही प्लेटो के आश्रयवाद की दुर्बलता का अधिकांश उत्पन्न होता है। अतएव हम बहुत स्पष्ट रूप से यह समझ लेना चाहिये कि बोधगम्य त्रिभुज से हमारा अभिप्राय क्या है। निश्चय ही इन शब्दों से यह आशय कदापि नहीं है कि दृश्यमान और बोधगम्य नामक दो भिन्न भिन्न प्रकार के त्रिभुज हैं। केवल इतना ही अर्थ इसका होता है कि दृश्यमान त्रिभुज में उमर दूसरे लक्षणों से निराला एक लक्षण है जिसके कारण वह त्रिभुज कहलाता है। त्रिभुजता के अनिरिक्त दूसरे लक्षणों के संयोग से दृश्यमान त्रिभुज ही बोधगम्य त्रिभुज है।

इन अनिश्चित लक्षणों को ज्यामितिबिद् विनता ही नहीं अपना प्लेटो के अनुसार वह प्रतीकात्मक मानता है। विज्ञान ज्ञान को समझाना है—इस परिचित वाक्यांश से हमारा अभिप्राय यही है जो प्लेटो के इस कथन में निहित है कि विज्ञान स्पष्ट विषयों को केवल प्रतीक मानता है जिस व अपनी प्रत्यक्ष मता के द्वारा भी प्रकट नहीं कर सकत। सम्पूर्ण विज्ञान यही पद्धति अपनाता है।

विज्ञान-पद्धति पर इस दृष्टि का जो प्रभाव पड़ता है उस स्पष्ट करने के लिए इसी बात को अलग ढंग से कहा जा सकता है। विज्ञान का अध्ययन हम विचार करने के लिए बाध्य करता है प्लेटो के अनुसार विज्ञान हम लाचार करता है कि हम इंद्रियाओं से भुनाकर केवल अपनी मति के भरोसे पर चलें। सप्तम अध्याय में वह सभी प्रकार के विज्ञान सम्बंधी अध्ययन के हित में इसी ढंग पर जोर देता है। प्रत्येक प्रकार के विज्ञान का अध्ययन करते समय हम अपनी इंद्रियां और उनके समग्र का भान तब नहीं होना चाहिये और अपनी मर्यादित स वस्तुजगत को पकड़ना चाहिये अर्थात् बसल अपन ध्येयविषय सम्बंधी मूलनिष्ठान्त अथवा नियम का छात्रों से सीखा जाता है अपने ध्यान से हटा देना चाहिये। यही कारण है कि प्रारम्भ में विज्ञान हमारे साधारण सम्बंधों को अस्त-वस्तु करता हुआ जान पड़ता है और हमारे सामूहिक अनुभव से कम यथार्थ लगता है।

(आ) आग प्लेटो कहता है कि मति उपपत्तियां या उपकल्पनाओं के आधार पर विवचन करती है। उपपत्ति एक नियम या मत है जिसे अस्थायी रूप से हम सत्य मान लेते हैं और यदि तथ्य उसके अनुकूल नहीं विवचनते तो उसे त्यागने के लिए हम राजी हैं उपकल्पित दृष्टिकोण बाधकाला होता है जो दृष्टि या अपुष्टि की प्रतीक्षा में रहता है परंतु प्लेटो और अरस्तू ने इस ग्रीक शब्द को भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किया है। प्लेटो के विचार से उपकल्पना ऐसा सत्य है जो उच्चतर सत्य पर आश्रित होकर ही भूत या प्रथमतः सत्य कहला सकता है। वह असत्य नहीं होता अथवा उसे मिथ्या प्रमाणित करना सम्भव नहीं है बल्कि मिथ्याल जम स्वयंभूत माना जाता है। उपकल्पना शब्द के हमारे और प्लेटो के उपयोग में समानता यही है कि उस उपाधिकाली (Conditional) अथवा अर्थ वस्तु पर आश्रित माना जाता है। किंतु प्लेटो की उपकल्पना अस्थायी नियम नहीं हैं सभी विज्ञानों के मूल में यही सत्य है। अज्ञात और ज्यामिति कुछ धारणाओं या उपकल्पनाओं पर आधारित हैं। अतः ही अज्ञात की मूल धारणा है जिसके मूल लक्षण पूर्णाङ्क तथा अपूर्णाङ्क हैं। अज्ञातज्ञ की यह

समझाने की जरूरत नहीं पड़ती। यदि अक की सत्ता को अस्वीकार कर लिया जाय तो अकगणित के अध्ययन की सम्भावना ही नष्ट हो जायेगी। इसलिए अक को आरम्भ बिंदु मान लेने पर अकगणितज्ञ निश्चिन् विधि में उमका उपयोग रख अकगणित विषयक सत्य का अनुसंधान करता है। यही बात ज्यामिति विद की है। वह भी ज्यामिति आकाश का अपना आरम्भबिंदु मानता है जिम्मे साथ कुछ निम्नतर प्रारम्भिक लक्षण रहते हैं। जब वह अपनी उपधारणाओं में स्वयंनिर्दिष्ट प्रमाण और परिभाषाओं के समर्थन से सत्य प्रस्तुत करता है और हम उसे अस्वीकार कर देते हैं तो वह इतना ही कहेगा कि आपस तक करना अमम्भव है। इन धारणाओं को प्रमाणित करना उस आवश्यक ही नहीं होता। भौतिकशास्त्री भी इसी प्रकार पिण्ड और गति की कल्पनाओं से विचार आरम्भ करता है जैसे जीवविज्ञानवत्ता जीवन से अयशास्त्री सम्पत्ति से और नीतिशास्त्री नतिवत्ता से। कतिपय अन्य प्रारम्भिक रूपा और लक्षणा के साथ ही उपकल्पनाओं से विभिन्न विज्ञानों का नाता जुड़ा हुआ है और प्रत्येक विज्ञान की अपनी उपकल्पनाएँ होती हैं।

प्लेटो इन धारणाओं को उपकल्पनाएँ कहता है क्योंकि उनके अनुसार इनकी प्रामाणिकता अन्य सत्य रूपा पर निर्भर है। इसका अभिप्राय क्या है? वे असत्य नहीं हैं क्योंकि वह इहे भाव का रूप बनता है। इनको उपकल्पना मानने का कारण यह है कि वस्तु को पूर्णरूप में देख सकना उसके मूलभाव के एकत्व का बोध करना है जिसके नाना रूप अथवा प्रकार दृष्टिपोचर होने हैं। यही उपकल्पनाएँ हैं। अकगणित और ज्यामिति में मूलभाव के सम्बन्धित रूपा को इस प्रकार प्रस्तुत करता है मानो वे पूर्णतः स्वतंत्र वस्तुएँ हैं अर्थात् वे उन्हें मानते हैं पर उनके विषय में कोई विवरण नहीं देना चाहते। जिन सत्यरूपों में वे आरम्भ करते हैं उन्हें एक मूलभाव के परम्पराग्रहित सत्य प्रमाणित करना जरूरी होता है। इस प्रकार आरम्भ बिंदुओं के उपकल्पनात्मक होने से 'मति' की अपूर्णता प्रकट होती है अर्थात् इन आरम्भिक सत्य रूपों को यथायथ अथवा पूर्ण सम्बन्ध बमूत्र जसा नहीं देखा जाता जबकि विज्ञान का आदर्श पूर्ण सम्बन्ध और पूर्ण पारदर्शक है। उसे इन सबको एक ही वस्तु मानना चाहिये क्योंकि यही सत्य है। ज्ञान के आदर्श की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक हम क्या प्रश्न करते रहेंगे। क्या का प्रश्न असल में यह पूछना है कि अतन मूलाधार क्या है? पूर्णज्ञान का आशय यही है कि समस्त वस्तुजगत एक निरपेक्ष नियम के अधीन दृष्टिगत होता है। ठीक है कि मानव मस्तिष्क इस परम नियम का

दंगन करने में सदा असमर्थ रहना, तथापि वह नित्य उसका आह्वान करता है माँग करता है और जब तक उसमें इस आग्रह की उत्कण्ठता नहीं पनपेगी तब तक वह ज्ञान के आदेश की उपलब्धि में असफल बना रहना। इसी छोर से प्रज्ञा की अंतिम अवस्था का विवरण का संकेत मिलता है।

(४) प्लटो इसे शुद्ध आदेश की अवस्था मानता है जिसे प्राप्त करना मनुष्य मेधा के पर है। परन्तु वह हमारे जीवन ध्येय के स्वरूप को अपनी दृष्टि से व्यक्त करता है और ज्ञान का पथनिर्देश भी इससे होता है। उसके कथनानुसार इन्द्रियमुख से परे पूर्ण प्रज्ञादशा शुद्ध आदेश में मग्निरहित रहती है। उसमें उपवस्था का अभाव होता है। विविध विज्ञानों के विविध सिद्धान्त उसमें उपवस्था जैसे नहीं, यथाय माने जायेंगे। उनका आविर्भाव सत्तार के तत्त्वविवेक से होता है और प्रत्येक सिद्धांत एक मोढ़ी है जो अगली मोढ़ी की प्राप्ति में सहायक होती है। अतः प्रज्ञा का यह क्रम उस चरम नियम तक अग्रसर होता जायेगा जो सम्पूर्ण चराचर का मूलोद्धार है।

(अ) पूर्ण प्रज्ञा में इन्द्रियग्रहण का कोई अंश नहीं रहना—यह दुर्बोध वस्तु है। इनका स्पष्टीकरण यह है कि त्रिभुज तीव्रिय जिस ज्यामितिज प्रतीक मानता है। पहले ही हम देख चुके हैं कि ज्यामितिज उस विषय त्रिभुज के विषय में नहीं बल्कि स्वयं त्रिभुज का विचार करता है। इसलिए ज्यामितिज इन्द्रियग्राह्य विषय का बहुतेरा भाग अपने विचार के लिए अनुपयुक्त पाता है क्योंकि वह उसकी अंतर्दृष्टि की सीमा में नहीं आता। उसकी उपेक्षा ही महत्त्वपूर्ण है, त्रिभुज की यथायता उसका विषय है, उसका रंग, नाप आदि नहीं। अगर एक त्रिभुज इतना बड़ा हो जाय कि दूसरा एक फुट बड़ा हुआ तो तब त्रिभुजों की यह दो भिन्न प्रकार के त्रिभुज समझने की भूल कर सकता है। यह इतना सरल उदाहरण है कि शिक्षित व्यक्ति को भ्रम न होगा परन्तु जटिल विषयों में भूल सदैव सम्भव है। प्लटो मानता है कि गणितशास्त्र मनुष्य को ऐसी भूल पहचानने में समर्थ बनाता है इसीलिए गणित की गणितीय महत्ता पर वह बहुत ध्यान देता है। प्रत्येक अर्थशास्त्री जानता है कि जिन जटिल समस्याओं में वस्तुस्थिति जनसमूह का हिताहित निहित है, अपनी सम्पूर्ण सहायता के हाते हुए भी उन्हें सुलझाना कितना कठिन है। प्लटो का मत है कि सामान्य जीवन में हम प्रतीक को ही यथायता मानना की भूल निरन्तर करते रहते हैं। सम्भव है कि त्रिभुजाकृति विषयक दूसरे लक्षण ज्यामितिज उपेक्षित भले ही हों परन्तु उन्हें स्वतन्त्र रूप से वैज्ञानिक अनुसंधान का विषय समझा जा सकता

है। दृष्टिविज्ञान का अध्ययन त्रिभुजाकृति के रंग, दूसरे लोग उमरे रासायनिक गठन इत्यादि का अनुसंधान करने में प्रवृत्त हो सक्त हैं। इसी तरह अन्य जटिल विषयों का हाल है। प्लेटो की दृष्टि में प्रत्येक विषय के प्रत्यक्ष लक्षण का रूप हुआ करता है जिस तरह त्रिभुज है और उसकी त्रिभुजता का एक रूप है। अथवा कोई रंग है और उस रंग का एक रूप है। प्रत्येक विशिष्ट विषय अगणित प्राकृतिक नियमों का सङ्गम होता है। प्लेटो के ढंग से वह तो प्रत्येक विशिष्ट विषय में अनन्त रूप परस्पर संचरण करते हैं। मान लीजिये कि विभिन्न विज्ञानविदों किमी एक विषय में समस्त लक्षणों का पता लगाने पर तब जाते हैं और जिस प्रकार ज्यामिति विद त्रिभुज के त्रिभुजत्व का बोध प्राप्त कर लेता है उसी तरह इन्हें भी प्रस्तुत विषय के लक्षणों का सम्पूर्ण बोध हो जाता है। तब वह विषय अनन्त प्राकृतिक नियमों का केन्द्र बन जाता है अथवा प्लेटो के शब्दों में समस्त रूप उसमें एकस्थ हो जाते हैं। यदि कोई विषय इस प्रकार सम्पूर्णतः बोधग्राह्य हो गया तो वह नियमों अथवा रूपों में विघटित किया गया है। इस प्रकार वह तथ्य कुछ का कुछ हो जायगा क्योंकि उसमें अपेक्षा से नहीं अधिक वास्तविकता प्रकट होगी परन्तु इसके साथ ही वह पहले जैसा तथ्य ही बना रहेगा यद्यपि अबोध व्यक्ति की दृष्टि में जो विषय था वह तिरोहित हो जायगा। अतएव पूर्णज्ञान में इन्द्रियों का तत्त्व नहीं रहता। ऐसा नहीं होता कि इन्द्रियों ग्रहण करना बन्द कर देती हैं या हम उनकी सूचनाएँ मिलना बन्द हो जाता है। असल में विषयों का प्रत्येक इन्द्रियगम्य लक्षण किसी बोधग्राह्य रूप का आविर्भाव जमा दिखायी देने लगेगा। फलतः उनमें किसी प्रतीकात्मक अथवा असम्बद्ध तत्त्व नहीं बचता और वह सम्पूर्णतः बोध्य हो जाता है। ज्यामिति में त्रिभुज के विविध लक्षणों का दाखल भी त्रिभुजत्व में ध्यान लगाता है वह प्रतीक त्रिभुज के इन्द्रियज्ञात प्रत्येक लक्षण की अपेक्षा इसलिए करता है ताकि कोई भ्रांति अथवा अवस्था उत्पन्न न हो। इसी तरह जब सम्पूर्ण विषय का पूर्ण ज्ञान हो जाता है तब उसके समस्त लक्षणों को भी इसी दृष्टि से देखा जायगा। ऐसी मनोदशा में विषयों में विभिन्न लक्षण अवस्थित सकलन नहीं रह जायेंगे जो निरन्तर परिवर्तित और नित्य स्वतः विरोधी रूप में दिखायी देते हैं बल्कि तब विषय विविध स्थायी तथा अविकारी रूपों या नियमों का सङ्गम प्रतीत होगा। आशय यह है कि वह विषय रूप प्रणाली का एक अंग है और उसका सभी समस्त तथा उसकी सदृश्यताएँ स्पष्ट दिखायी देने लगगीं। आदश यही है हमें मलीभाँति ज्ञान है कि समार की हर वस्तु दूसरे से सम्बन्ध रखती है उसकी सदृश्यता अन्य पदार्थों से रहती है।

पूण प्रज्ञा की समुचित प्रतीति का एकमात्र उपाय यह है कि हम एक चित्त या मस्तिष्क की कल्पना करें जो प्रत्येक वस्तु के समस्त लक्षण उनके मूल सम्बन्ध और वस्तुजगत् से उनकी सहस्रताया का पूण बोध प्राप्त करने में समर्थ है। हमारा प्रज्ञा के आदर्श का यही एकमात्र सत्य वक्तव्य बना रहना। यद्यपि हमारे अनुभव में आनेवाली वस्तुओं का बहुत बड़ा समूह सदैव अविज्ञान इन्द्रियगम्य होगा।

(आ) परिपूण प्रज्ञा में उपवत्पत्ता नहीं होती। प्लेटो एक रूप में द्वारा यह स्पष्ट करना चाहता है कि पूण प्रज्ञा जगत की किस प्रकार ग्रहण करती है। पूण प्रज्ञा को विश्व अस्तित्व की रूपमात्रा या रूपकोटि जमा लगना जिसमें प्रत्येक रूप ऊपर और नीचे के रूप में अंतर्भूत है तथा एक निश्चित नियम मन या श्रेयस में समस्त रूपकोटियों का समर्पित करता है। वही सत् या श्रेयस है जिस पर नैप समस्त चराचर आधारित है और जो समस्त विश्व के प्रत्येक विषय या वस्तु में प्रतिबिम्बित होता है अथवा प्रत्येक वस्तु का आत्मन तथा बाह्य परम तत्त्व से निर्धारित होता है और उस सत् या श्रेयस कहते हैं। पूण प्रज्ञा में सामर्थ्य है कि वह उच्च या निम्न रूप-वर्गों में अग्रगण्यता में आती जानी रह। इन तरह विश्व के किन्हीं भी एक द्वार से वह सम्पूर्ण वस्तुजगत् में आरपार जा सकता है। जिस मात्रा में रूप मरय के एक जगत् का बाध हो जाता है उसके अन्तर्गत हम किसी भी द्वार से दूसरे द्वार तक जा सकते हैं और उसमें अपेक्षित युक्त वस्तुओं में भी हमारा प्रवेश सहज हो जाता है। किसी वस्तु के सम्यक् बोध का प्रमाण यह है कि हम उनमें किसी भी निर्धारित बिंदु को पाकर उसका पूण रूप प्रत्युत्तर कर सकें। इसी मनोऽन्ता की सिद्धि का सम्पूर्ण आशय में आशय कहा जा सकता है।

इस प्रमाण में जेम्स एक नये गान्धर्व का प्रयोग करता है जिसमें अथ पर विचार करना चाहिए। वह कहता है कि जिस प्रतिभा या धीगति के कारण प्रज्ञा की यह स्थिति प्राप्त हुई होगी वह हनुविद्या का गति अथवा आध्यात्मिक चित्त गति का मधीमा तथा उनका समाधान का गति है। इस गान्धर्व का वह पान का पूर्णावस्था के अर्थ में प्रयुक्त करता है। जिस परिच्छेद में इसका उपयोग जाग किया जाता है उसमें प्रस्तुत परिच्छेद का अभिप्राय भी स्पष्ट होता है। अपनी प्रस्तावित शिक्षाप्रणाली में विनिष्ट विधानों के समावेश या प्रयोग की चर्चा करने हुए, यदि इनका अध्ययन निश्चित तथ्य की पूर्ति में लाभप्रद माना है तो हम इन परस्पर सम्बन्ध की समझन का यत्न करना चाहिए। उनके द्वारा प्रस्तावित विज्ञान विषयक शिक्षा के उद्देश्य स्तर में हम निम्नोक्त का निरन्तर

ध्यान रखना होगा। विज्ञान व भिन्न प्रकारा के जो समानताएँ या सम्पर्कबिन्दु हैं उनकी सतत स्पष्ट करत रहना पड़ेगा। मनुष्य की हेतुविद्यात्मक प्रवृत्ति का प्रमाण यह है कि उसमें एक दृष्टिपात में ज्ञान की भिन्न भिन्न विनिष्ट शाखाओं के परस्पर सम्बन्ध को समन्वित रूप में दर्शन का सामर्थ्य है। इस कथन में दृढ़तापूर्वक यह प्रतिष्ठित किया गया है कि ज्ञाना-मुखी प्रवृत्ति का आगत ज्ञान के एक्य की इन्द्रियप्राप्तता में अपसर होना है। जो व्यक्ति स्वभावतः इस तथ्य को ग्रहण करने में सहज कुशल है, वही नैतिक हेतुवादी है। हेतुविद्या का अभिप्राय इतना ही है कि ज्ञान की विभिन्न शाखा प्रशाखा व सादृश्य और उनकी परस्पर सम्वादशीलता की पहचान या प्रतीति सम्भव है (प्लेटो के अनुसार केवल विज्ञान की शाखाएँ ही नहीं बल्कि ज्ञान की समूची शाखाओं की ओर सचेत हैं।) इस अर्थ में हेतुविद्या शब्द पूर्णज्ञान का पर्यायवाची है। इस कल्पना पर आगे हम विस्तार से विचार करना पड़ेगा।



विज्ञान तथा दर्शन की शिक्षा

१ शिक्षा की वर्तमान दृष्टि

विज्ञान की प्रगति स्थिति में मुख्यतः कहता है कि विज्ञान और उसकी दुरा
वस्था का ध्यान रखकर मैं मानवजाति की संपन्न दशा का ध्यान एक कल्पना
प्रसून रूप में कर रहा हूँ। गुहाध्ययन नामक परिच्छेद में यह बात
किया गया है। विज्ञान का मूल मूल मूल रूप का क्या महत्व है यह समझने
का लिए हम छठके अध्याय की परिचर्चा का स्मरण करना होगा। बताया जा
चुका है कि ज्ञानवृद्धि में प्रवीण पुरुष ही मानव समाज का शासनकाय में
गवर्णक दायरे में रहेंगे परन्तु इन कठिन कार्य का व्यावहारिक रूप देने में कुछ
गलत और बाधाएँ हैं। इनके पश्चात् हम ज्ञानवृद्धि की विज्ञान का समुचित
उपाय करने और उसके परिपूर्ण विकास का प्रयत्न करने का विचार किया
गया है तब ही हमी मुनिविरचित ज्ञानवृद्धि-मन्त्र व्यक्ति समाज का जाना होता है।
यह सभी सम्भव है जब विज्ञान का समुचित ध्येय की तुल्य कल्पनाएँ जान प्राप्त
हो और ज्ञान का ज्ञान या ध्येय का जान हो जाना है। यही मनुष्य मुक्त
भाव सम्पूर्ण ज्ञान और ज्ञानपरक ज्ञान का सम्बन्ध समझाया गया है। हमने
साथ ही प्रगति की अवस्थाओं का ज्ञान किया गया है जिसका फलस्वरूप विज्ञान
अपेक्षाएँ अधिक बाधक और ध्वंसित अधिक बुद्धिमान होना है। इसी तरह
जब एकएक पृष्ठों पर बुद्धि का इस मानव की दृष्टि से मनुष्य की
धार्मिक स्थिति का है ? यही उसकी विषयवस्तु आत्म जन्ममरण नहीं है
बल्कि मनुष्य का मानवजाति का मूल तत्त्व की दृष्टि में दृष्टा है और जैसा उन्हें
महा होना चाहिए वे टाक बन ही हैं। यही कारण है कि पूर्वजिन अवस्थाएँ
पारकर अधकार में प्रकाश में पहुँचने के बजाय जन्मों में उन्हें बुद्धि की निम्नतम
अवस्था में अन्धता द्वारा लिया जाता है।

उत्त गुहात्मक की कुछ बातें हैं। हमारे ध्यान देने योग्य हैं। सबसे पहली बात यह है कि समूची मनुष्यजाति अनुमान दशा में है। अधिक संख्या एस ही लोगों की है जो इस प्रारम्भिक दशा को लौघकर विश्व के अपेक्षाकृत यथावस्था की अवस्था में प्रवेश ही नहीं करते और जीवनपर्यन्त उसी में पड़े रहते हैं। अगर कोई मनुष्य इससे बाहर निकलता भी होता ऐसा प्रयत्न साधित नहीं होता शिक्षाप्रद्वानि के फलस्वरूप भी ऐसा नहीं हुआ करता अथवा समाज के उपकार का भी कोई परिणाम इस नहीं समझना चाहिये परन्तु ऐसे विरल उदाहरण मिलते हैं कोई नहीं जानता कम ? बर्निया को केवल परछाईया दीखती हैं और सत्य की झाँझिर उनके कान में पड़ती है प्रत्यक्ष बर्नी अपने छायात्मक अनुभव में बुरी तरह जकड़ा रहता है। दूसरे शब्दों में प्रायः सभी मनुष्य अपने सम्बन्ध में और चतुर्दिश घिरे सत्तार के चारों ओर पूर्ण माध्यमा के कारण विकृत धारणा रखते हैं। यह विकृत दृष्टि अपनी विशेष वासनाओं और पूर्वग्रहों एवं दूसरे लोगों की भाषा तथा अस्पृष्टि से ध्वनित उनकी वासनाओं और पूर्वग्रहों से बनती है। निरन्तर गिर्गिलियस जैसी अवस्था में स्थायीरूप से रहने के कारण उनकी दृष्टि में कोई विकास नहीं होता फल इतना है कि वे उस सत्य में विश्वास करते हैं जिसे वे अपनी आयु के अनुकूल दृष्टान्तों से देखते-सुनते रहते हैं। यह कुछ अभाग्य बहिष्कृत लोग का हाल नहीं है हमारी अपनी दुर्गति है।

दूसरे, यह मनुष्य मात्र की केवल सहज दशा नहीं है बल्कि हमसे उबड़ने की इच्छा तक उठाने वाली रहती है। इसके पर पहुँचने की रचनात्मक कल्पना भी उन्हें नहीं होती क्योंकि जिन बंधनों में वे जकड़े हुए हैं उनके कारण ज्योतिष पक्ष से वे निरन्तर विमुक्त रहते हैं और ऐसी कोई शिक्षाप्रणाली नहीं है जो उन्हें वे घनमुक्त कर सके। अगर किसी तरह कुछ सोच बंधना से छुटकारा पाकर यथावधान की ओर बढ़ना शुरू भी करते हैं तो उन्हें हर कदम कष्ट क्लेशमय जान पड़ता है। तीसरे, कभी कोई गुहावर्ती प्रकाशों मुख हो भी जाता है तो अपने सहर्षादियों की दुदशा से करुणाग्र होकर वापस आता है और अपने प्रकाश दान का अनुभव उन्हें सनाता है जिस मुनवर व उसकी हमी उछाते हैं और हत्या कर देते हैं। अर्थात् अपने बीच ज्योतिषमय दिशा में अग्रसर चेतिया के साथ सहयोग करना तो दूर रहा समाज उनके प्रति उपेक्षा अथवा सक्रिय शत्रुता का व्यवहार करता है।

उपयुक्त रूपक के प्रमुख लक्षण यही हैं। गुहा से छुटकारा पाने के बाद धीरे धीरे बन्दी प्रकाश की तीव्रता को सहन लगता है और इस प्रकार क्रमशः

विज्ञान तथा दर्शन की शिक्षा

उन अवस्थाओं में प्रवेश करता है जिनका संकेत विवाद के पूर्व अंश में किया गया है। अपनी मूल बन्दीदशा से मुड़कर वह प्रकाश के समक्ष आता है जिसका अभिप्राय यह है कि भ्रांति, विस्मय और पूर्वग्रहों से उत्पन्न मिथ्या धारणाओं की अच्युत दशा को त्यागकर वह यथार्थ विश्व तथा वस्तु के सत्य स्वरूप की पहचान करने की वाध्य होता है। यह कष्टमय प्रक्रिया है। दूसरी अवस्था में पहुँचकर वह वैज्ञानिक दृष्टि से यथातथ्य जगत को परस्पर में समर्थ होता है यद्यपि यह भी क्लेशप्रद प्रक्रिया है किन्तु शिक्षा के फलस्वरूप विकास की निश्चित अवस्थाओं तथा गुणों से सूक्ष्मप्रकाश में पहुँचने के उपायों में सादृश्य योजना रूपक का बहुत अधिक महत्त्व देना होगा।

मानव दशा के इन वास्तविक तथ्यों का उल्लेख करके रूपक के बाद अगले परिच्छेद में शिक्षा की वर्तमान पद्धति तथा उसकी यथार्थ वांछित प्रणाली में भेद स्पष्ट किया गया है। ब्लेडो कहता है कि शिक्षा, अंधे को सूझता बनाना नहीं है आँखों को प्रकाश की दिशा दिखाना है जो तभी सम्भव है जब समूचे शरीर को समुचित स्थिति में मोड़ दिया जाये। इसी प्रकार शिक्षा केवल मति को ज्योतिमय नहीं बनाती, अपितु आत्मा का सम्पूर्ण दृष्टिकोण ही बदल देती है। मस्तिष्क की अक्षता के प्रबल कारण वही बुभुक्षाएँ और विषयमुख हैं जो आत्मा के मूलभाव को कुण्ठित कर देते हैं। आत्मा पर इनका बोझ जन्मजात सचित कमभार के समान है जिसके निवारण के अनन्तर ही आत्मा इस पृथ्वी पर सूप मुयी हो सकती है।

इसके पश्चात् समाज और उसके प्रबुद्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध की व्याख्या की गयी है। जो लोग बन्धनमुक्त होकर ज्ञान के प्रकाश का अनुभव कर चुकते हैं उन्हें उसी स्थिति में समाज से निस्पृह होकर बने रहना सुहाता है क्योंकि इस स्वच्छन्द ज्ञानदिशा में पहुँचने का कोई श्रेय समाज को नहीं है किन्तु समाजसेवी और समाज का परस्पर सम्बन्ध इसके विपरीत होना चाहिए। समाज और उनके धर्म सदस्य आदान प्रदान के ढंग पर ही सम्बन्ध रख सकते हैं प्रत्येक सदस्य को दूसरे के हित में अपनी शक्ति और बुद्धि का निरन्तर उपयोग करते रहना चाहिए। छोटे छोटे मामलों में जिस प्रकार यह नियम लागू है उसी तरह समाज और प्रबुद्ध मस्तिष्क भी इससे अनुगमनित रहेंगे। वह यह प्रतीति धरानी चाहिए कि वे अपने ही बलवृत्त पर इतने समय नहीं हुए हैं उनके मानसिक उत्थान में समाज में पोषण मिला है और इसीलिए उन्हें समाज के प्रति कृतज्ञ रहकर उसका हितमापन करना चाहिए। जो समाज उपयुक्त पोषण देकर दानन का

उत्तर सम्पन्न करता है उस यह जपेगा करने का अधिकार है कि दशमन उसके शासनभार को वहन करे तथा समाज में क्रियाशील रहकर उसका कल्याण उपाजित करे। निश्चय ही वे प्रसन्नतापूर्वक यह वक्तव्य निभाना चाहेंगे क्योंकि समाज के उपकार से उत्पन्न होने के लिए वे सहजभाव से उत्सुक होंगे। शासन के कार्य को सुदृढतापूर्वक संचालित करने में भी उनकी रुचि होगी क्योंकि उन्हें लगेगा कि पदनिमित्त साधारण लाभ से बहुत अधिक मूल्यवती वस्तु उनको प्राप्त है। जिस राज्य में शासक अपनी समृद्धि लिप्सा से नहीं बल्कि सावजनिक वक्तव्य भावना से प्रेरित होकर शासन करते हैं वही श्रेष्ठ शासित राज्य है।

२ विज्ञान के विभिन्न प्रकार और उनकी शिक्षा

प्रश्न यह है कि गुहाबंदियों की प्रतीक दशा में उद्धार का हम क्या उपाय कर सकते हैं? किस प्रकार शासनभार वहन करनेवाले और समाज को आण देनेवाले व्यक्ति का अधिकार से प्रकाश में प्रवेश हो? पहले यह निणय करना है कि उनको कौसी शिक्षा दी जाये? सुकरात अभिभावकों को दी गयी शिक्षा के संक्षिप्त विवेचन से अपनी योजना स्पष्ट करता है। उन्हें सौंदर्यबोध तथा देह बाध की आरम्भिक शिक्षा मिल चुकी है। आशा की जानी चाहिए कि इस आरम्भिक शिक्षा के प्रथम भाग के अभ्यास से चरित्र में सामंजस्य और मधुर सम्बन्ध का आविर्भाव होगा। सत्कार का सौंदर्य तथा व्यवस्था इतने प्रभावी ढंग से प्रस्तुत की गयी कि उसका रंग आत्मा पर अज्ञात भाव से चढ़े बिना नहीं रह सकता। परन्तु इस सारे प्रबन्ध में भी यथाथ ज्ञान का अभाव बराबर बना रहा। अतएव प्रश्न यही है कि ज्ञान की किन शाखाओं का शिक्षण देना चाहिए जिससे आत्मा सत् अथवा श्रेयस का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सके क्योंकि इससे अधिक उत्कृष्ट नातथ्य कोई वस्तु नहीं है।

इसके पश्चात् महत्वपूर्ण परिच्छेद का आरम्भ होता है जिसमें प्लेटो ने निश्चित रूप से बताया है कि प्रारम्भिक शिक्षाजनित मनोदशा तथा अभीप्सित पूर्णप्रज्ञा के बीच की अवस्था में विज्ञान की विविध शाखाओं का शिक्षण उत्तम माधन है। प्लेटो बतलाता है कि इंद्रियग्रहण से आत्मा किस प्रकार अग्रसर होकर विचार के स्रोतों का अनुभव करती है और निश्चयपूर्वक विचारशक्ति को उपलब्ध करती है। इंद्रियाँ दो प्रकार की वस्तुओं ग्रहण करती हैं पहले विषयवस्तु को इंद्रियाँ सहसा दृढतापूर्वक ग्रहण कर लेती हैं और इस क्रिया से विचारस्रोत उत्तेजित नहीं होता। वह उदाहरण देता है जब हम तीन अंगुत्रियाँ

दखते हैं ता दृष्टिपथ में आनेवाली यह सूचना किसी जिज्ञासा को जड़ नहीं देती क्योंकि जिस प्रकार के इन्द्रियग्रहण में ऐसी कोई प्रेरणा नहीं होती जो साधारण चित्त को अंगुलि के विषय में प्रश्न करने को बाध्य करे। ऐसे ग्रहण समुच्चय की मनोवृत्ति को प्रतिबोध कहा गया है, इस दर्शा में मनुष्य का ज्ञान पृथक् पृथक् विषय तक सीमित रहता है और मन्त्रिण विषयों के परस्पर सम्बन्ध जानने की चिन्ता न करके इनमें ही संतोष मान लेता है। फिर एक स्थिति आती है जहाँ आत्मा परिमाण तथा कठोरता, कोमलता आदि गुणों के प्रति सचेत होती है। तब जो इन्द्रियग्राह्य पृथक् विषय पहले अपन-आप में पूर्ण ज्ञान पड़ता था, वह अनेक लक्षणों में विखरता सा मान्य होता है और इन्हीं विकीर्ण विषयों से विचार को प्रेरणा मिलती है। मान लीजिए हम तीन अंगुलियों की आवृत्ति का अवलोकन कर रहे हैं अथवा उनकी कठोरता या कोमलता या उनके रंग को देख रहे हैं, ये सभी इन्द्रियगम्य वस्तुएँ हैं जहाँ पूर्ववर्णित विषय थे। अतएव इतना भय है कि इन्द्रियाँ इन्हें ग्रहण नहीं करती, इन लक्षणों में स्थिरता नहीं है क्योंकि एकाएक यही लक्षण विपरीत लक्षण जैसे भी दिखायी दे सकते हैं। हम जानते हैं कि एक ही अंगुली छोटी और बड़ी कठोर और नरमल आदि विभिन्न सम्बन्धों में विद्यमान होती है। इस लक्षणान्तरण अथवा कारणों से चित्त इस प्रश्न पर विचार करने को प्रेरित होता है, इन्द्रियाँ से प्राप्त इनमें से प्रत्येक गुण क्या वस्तु है? यदि प्रत्येक गुण स्वतन्त्र और विशिष्ट वस्तु है तो वह विपरीत गुणसूचक नहीं हो सकती। जब हम देखते हैं कि इनमें से प्रत्येक के साथ विपरीत गुण का भ्रम जुड़ा हुआ है तो सहज की सहायता होना है कि आगिर वह कठोरता या बड़ापन या इसी तरह के दूसरे लक्षणों का सचमुच क्या अर्थ है। इसीलिए हम विचार विषय और क्षेत्र विषय अथवा प्रत्येक दूसरी इन्द्रिय के साधारण भेद को सम्मिलित पाते हैं। इस भ्रमान्तरण और स्वतन्त्र लक्षणकारी भूमिका में प्रत्येक पृथक् विषय का विस्तार दिखायी देता है। फलतः प्रत्येक वस्तु सम्बन्धों के भेद से छोटी और बड़ी जानी हो जाती है। इसी के साथ केवल बड़ी और केवल छोटी वस्तु का बोध विचार के माध्यम से होता है जो सुनिश्चित तथा सुस्पष्ट है। तब जा कहा है वह अभी छोटा नहीं और जो छोटा है वह अभी बड़ा नहीं हो सकता। अतएव हम 'मति' के अन्तर्गत वर्णित दृष्टि से देखते हैं कि मन्त्रिण जिन विषयों का ध्यान करता है वे इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ नहीं हैं जहाँ वह हमें पढ़ते जान पड़ती है। वास्तव में विस्तार, वजन और इसी तरह के अन्य लक्षणों के रूप में इन्द्रियगत विषयों के माध्यम से हम विभिन्न बोधग्राह्य नियमों का आभास मिलता है।

इस प्रसंग में इन्द्रिय विषय में सम्बन्ध में कही गयी बात सम्मति विषयों की भी समानरूप से लागू होती है जिसका वर्णन पंचम अध्याय में हो चुका है। केवल सहज दृष्टि या ध्वनि या स्पर्श द्वारा ग्राह्य धारणाओं की ही यह लागू नहीं है बल्कि हमारे सुखद या दुःखद, सुभ या अशुभ आदि की धारणाएँ भी इसी प्रकार हानी हैं। इस परिच्छेद में उस स्थिति का वर्णन किया गया है जिसमें अचित्तित धारणा की दशा से, स्तब्धता और सम्मूढ़ता की दशा से निकलकर आत्मा अपेक्षा कृत अधिक विकसित प्रथा में प्रवेश करती है। कभी-कभी अनेक कारणों से मस्तिष्क कोरी सम्मति तथा कोरी भावना की दशा से असन्तुष्ट हो जाता है। ऐसा तब अधिकतर तीव्र भान होता है जब नतिवृत्ता के क्षेत्र में सम्मति के विषय परस्पर विरोध करते हैं। आगे चलकर प्लेटो उस मनुष्य की स्थिति का वर्णन करता है जो 'याय तथा सम्मान के सम्बन्ध में निश्चित विश्वास रखता है और उसी के सम्मुख यह प्रश्न उठता है कि 'याय क्या है, सम्मान क्या है ?' जब वह रटा हुआ उत्तर देता है तो विद्वत् उसका खण्डन करता है और बतलाता है कि जिसे वह याय मानता रहा है वह असल में अयाय भी हो सकता है। यदि हम नयी जिज्ञासुता का उचित समाधान करना उसके बगैर नहीं रहता तो वह माचने लगता है कि सचमुच याय अथवा सम्मान नामक कोई वस्तु होती नहीं है। इसी प्रकार के परिणाम जब सामान्य हो जाते हैं तो दान शास्त्र के यग का बड़ा धक्का पड़ता है। प्लेटो ने यह सारा विवरण इस द्वाड़े में किया है कि अभिभावकों की सम्मति दान में वह जिस एकनिष्ठता का प्रशिक्षण दिया गया था, वह परमावश्यक है। वह ऐसी श्रद्धावस्था है जो बाधाओं की उपेक्षा करके सब तक उपलब्ध ज्ञान को अटलभाव से सहेंकर रखती है जब तक ज्ञान की जागामी सोढ़ी पर हृदयपूर्वक पर न जम जायें। नतिक विचारों के ग्रहण में जो सम्मोह उत्पन्न हुआ करता है वह लगभग वसा ही भ्रम है जसा पार्थिव विषयों के लक्षणों के सम्बन्ध में इन्द्रियों को होता है। इसी प्रकार की बाधा किसी किसी व चित्त में उत्पन्न होती है जिसके निवारणाय प्लेटो शिक्षाप्रणाली में विज्ञान को उचित स्थान देने का प्रस्ताव रखता है। यदि मनुष्य के मस्तिष्क को चिंतन करना जरूरी है तो यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि उस उत्तम रीति से और श्रेष्ठ पद्धति से विचार करने में निपुण बनाया जाये।

अभी कुछ इन्द्रियसुलभ विषयों के बारे में कहा गया है कि वे विचारोत्तेजक होते हैं यही बात अब शिक्षा की समस्या में लागू करना है। जानना यह है कि कौन से ऐसे अध्ययन विषय हैं जो विचारशक्ति को उत्तेजित तथा स्फूर्ति प्रदान

करने में उपयोगी हैं। सबसे पहले अरगणित को लीजिय जिसकी विषयवस्तु सरल है। हम देखते हैं कि प्रत्येक पाषिव विषय एक तथा अनन्त है। गिम्हा प्रकार श्रवण तथा म एव ही बड़ी है जिसके अनेक मोड़ उस जंजीर बना देने हैं। अनएव एकरव तथा मानास्व एव ही वस्तु में सम्स्थित हैं और एव के ज्ञान से विविधता का ज्ञान तथा विविधिता का ज्ञान से एव का ज्ञान सम्भूत होता है। यही बात आप अरगणित से कहें तो वह आपकी डेमी उद्योगों और कहें कि इकाई तो इकाई ही रहती है इसका अन्तर्गत कुछ नहीं है। स्पष्ट है कि वह इन्द्रिय गम्य इकाई का ध्यान नहीं करता, किन्तु काई दूसरी बात सोचता है। इस सरल का ज्यामिति ज्यामिति तथा मीमांसा से भी परता जा सकता है। इनमें से प्रत्येक अपना इन्द्रियगम्य विषय का सङ्केत करता हुआ-सा दिशाओं देता है तथा विचार दृष्टि में वही विषय निराला और अविचल है। इस प्रकार विज्ञान के अध्ययन से मस्तिष्क यह कुशलता प्राप्त करता है कि वह इन्द्रियजनित भ्रान्ति तथा विरोधाभास के अलिप्त होकर स्वच्छन्द विचार कर सकता है। इसी कारण विज्ञान गिम्हा के परमकुशल माधन हैं और यही साधन आत्मा को निरी इन्द्रियबाध अवस्था से प्रज्ञा की ओर ले जाने में समर्थ हैं। इनका अध्ययन केवल इसी व्यय को निरन्तर समर्थ रखकर करना चाहिए।

प्लेटो की दृष्टि में विज्ञान की वस्तुमान गिम्हा बहुत बोधनीय बात में है। बचन उद्योगिता का उद्देश्य से विज्ञान का अध्ययन सबसे अनुचित है। उसकी राय में विज्ञान के एक उद्योग अत्यन्त भूयवान हो सकता है—जब सेनिक काय का आकांक्षी व्यक्ति को ज्यामिति का अध्ययन करके उस ज्यामितिबाध उद्योगित करना चाहिए। प्लेटो का अन्तिमार्थ यह है कि विज्ञान के अध्ययन को व्यवसाय वित्त बना आदि का गमित सम्पत्ति से बाधित रखना वास्तविक गिम्हा नहीं है अपवा बसल अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ में उस निष्कारण अध्ययन कहा जा सकता है। जब तक राज्य अथवा अन्य किसी प्रेरणा के द्वारा विज्ञान के अध्ययन को इन सीमित प्रयोजना से परे प्रोत्साहन नहीं दिया जाता, तब तक गिम्हा का मान दण्ड बराबर गिरता आया। निम्न ही विज्ञान का अध्ययन उद्योगिता होना चाहिए पर उद्योगिता जिस सम्पत्ति का निष्कर्ष स्वयं ध्येयों को उद्योगितावादी है परन्तु वह कहता है कि व्यवसाय, नीचा व्यापार, और ऐसे अन्य कार्य जीवन का अन्तिम उद्येय नहीं है। उद्येय है आत्मोत्थान सम्पूर्ण शक्ति लगाकर आत्मा के विकास का दर्शन, अन्तिमर श्रेष्ठ साधन होना का प्रयोग। व्यवसाय के प्रति जो दृष्टि होगी उमा का परावर्तन अध्ययन की जायना में सम्बन्धित परिवर्तन आ जाता है।

प्लेटो व अनुसार विज्ञान के अध्ययन का उपाय मुख्य दो प्रकार में आता जा सकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि विज्ञान हम विचार करने की वस्तु मिथाना है। विचारना अर्थात् प्रश्न करना। हमारे अनुभव में जो बाधाएँ और सतही विग्राहभास आते हैं वे हम प्रश्न व विचार बाध्य करती हैं। विज्ञान का उद्गम ही इस तथ्य से हुआ है कि आत्मा इन्द्रियजनित अनुभव में ऐसी बाधाएँ दगती है और उस इनका निराकरण की आवश्यकता प्रतीत होती है। इन्द्रिया के स्थूल ज्ञान पर चिंतन का फल विज्ञान है। प्लेटो व वर्णनानुरूप सम्मोह या सम्मोह का अनुभव यदि अनुपपन्न न कभी न किया होता अथवा इस सम्मोह में छुटकारा पाने का उपाय कभी उपाय में सोचा होता तो विज्ञान की जगह मात्रा जिज्ञासुभावना का अस्तित्व ही न होता। तब प्रकृत विज्ञान कम व्यवहार में आता जब तक कोई चिंतन ऐसे एकरस की स्पष्ट धारणा बनाने का सतत प्रयास न करता जो वस्तुओं के साथ अवलोकन से संबंधित है। किसी विषय का विज्ञान सभी सम्भव है जब विषय-आमोषी इस प्रकार पृथक् और स्पष्ट रूप में बखित की गयी हो। सभी विज्ञान एकी बाधाओं की बाध से उत्पन्न हुए हैं और इन बाधाओं के हल देने में सफल हुए हैं। स्वामात्रिक है कि जो विज्ञान आज विद्यमान है वही मस्तिष्क की विचारणा का परिणाम देने का अष्ट साधन है। उनमें से प्रत्येक का अध्ययन से प्रत्येक अक्षयता व्यक्ति का मस्तिष्क को उसी प्रक्रिया का अनुभव मिलता है जिससे प्रयोग से पूर्ववर्ती मस्तिष्क उस विज्ञान का स्वरूप निश्चित कर सके थे। इन विज्ञानों की श्रुतिमान मेधा कहना चाहिए—वे चिंतन के प्रभाव हैं। यदि आप विचार या चिंतन करने के अभिलाषी हैं तो आप उन विज्ञानों का अध्ययन कीजिए जिनमें भूतनालीन चिंतन में सशरीर विराजमान है क्योंकि स्वतः विचार करने की बाध्यता के बिना आप कुछ नहीं कर सकते। प्लेटो व अनुसार विज्ञान की शिक्षा का यही सबसे बड़ा काम है।

मति या मेधा का सबसे प्रारम्भिक रूप एक तथा अनेक के बोधसूचक विज्ञान से सम्बन्धित है। इसीलिए प्लेटो अविविज्ञान की विलकुल शुरु में स्थान देता है क्योंकि वह इस अर्थ विरोध पर चिंतन करने का परिणाम है। इसका याद ज्यामिति है जो दा आयामात्मक आवाग का अध्ययन है। फिर घनात्मक ज्यामिति अर्थात् तीन आयामात्मक ज्यामिति और ज्योतिर्विज्ञान यान गतिगाल ठोस पिण्डों का अध्ययन तथा अतः में ध्वनिविज्ञान (Harmonics) है जो गतिगीत पिण्डों से उत्पन्न ध्वनि का अध्ययन है। वनानिक शिक्षा का यह पाठ्यक्रम प्लेटो में निर्धारित किया है। विज्ञानक्रम का प्रत्येक अंगला वदम विषय की जटिलता में

वर्द्ध करता है और प्लेटो हर विषय के सम्बन्ध में सच कहता है कि केवल इंद्रियमूलक स्थूलवाच ही अध्ययन सत्य न समझा जाय उसके माथ मति या मथा का पूणतया सक्रिय होना जरूरी है ।

यहाँ तक हम शिक्षा में विज्ञानात्मक जिज्ञासु प्रत्यक्ष उपयोग पर विचार कर चुके हैं । एक दूसरा उपयोग भी है जो प्लेटो की दृष्टि में पहले से अलग है । पहला दंग स विज्ञान मस्तिष्क को विचार कराने की कला का अभ्यास देता है तो दूसरे प्रकार के फलस्वरूप मस्तिष्क धीरे धीरे मृतत्व के रूप में अथवा मिटाता का बाध पाता है । यही पहली सीढ़ी है जो मनुष्य को धीरे धीरे वृद्धि में सहायक होती है क्योंकि एकमात्र सत् समग्र अस्तित्वपूर्ण वस्तुजगत का परम मिया मक है । हम यह अटकता लगता है कि प्लेटो विज्ञान के अध्ययन को सत के अनुसंधान का उपाय बताता है और तब यह पुष्टता स्वाभाविक है कि मनुष्य मर्याद विज्ञान ज्यामिति आदि के अध्ययन का विश्व के मूलतत्त्व से क्या सम्बन्ध है ? इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि प्रत्यक्ष विज्ञान सत्ता या अस्तित्व की किसी खास शाखा उस प्रकार अथवा रूप का निरूपण करना है । यह सत्ता केवल एक है जो अनन्त रूप का धारण करती है । ज्ञान का आद्य यह है कि सत्ता पद्धति के किसी एक बिंदु में दूसरे तक पहुँचने का सामर्थ्य सहज प्राप्त है । यद्यपि सत्ता जाकाग और गति सत के सत्त्व प्रकट रूप नहीं हैं और जो अभी तक विज्ञान इन विषयों का प्रतिपादन करते हैं उनका साधारण अर्थ में कोई नैतिक प्रभाव नहीं होता तथापि ससार की प्रत्येक वस्तु अतः दबी प्रज्ञा का आविर्भूत स्वरूप है । इसलिए इन अभीतिक विज्ञानों के अध्ययन को हम सत के सत्य की ओर एक सोपान समझें । इन आधुनिक भाषा में व्यक्त कर सकते हैं जैसा कतिपय आधुनिक दार्शनिकों ने किया है । प्रकृति के नियमों का अध्ययन मर्यादा, जाकाग और गति से आरम्भ होने पर भी वस्तुजगत के मूल कारण का अध्ययन है चाहे वह जिन ही आरम्भिक दंग का रहे । प्रकृति सत्त्व कारण सत्त्व की मूल करती है अर्थात् ईश्वर का सत्त्व देती है । इस क्रिया का अभिप्राय ही यह है कि समस्त प्राकृतिक नियम (जिन्हें भारतीय दार्शनिक मनुष्य की सना दो गयी है) ईश्वर के नियम हैं । इसीलिए सत्ता का अध्ययन भी ईश्वर के नियमों का अध्ययन है ।

इस प्रकार विज्ञानों की शिक्षा प्लेटो की योजना में दोहरा प्रयोजन की पूर्ति करती है । पहला महत्त्व प्रकार का मानसिक व्यायाम है दूसरा इसमें मस्तिष्क निर्दिष्ट ज्ञान के कुछ निश्चित आरम्भिक रूपों से परिचित होना है जो विश्व में

‘याप्त सत्ता के आविर्भाव की सूचना देते हैं। प्लेटो व अनुसार यह अध्ययन हेतु विद्या की प्रस्तावना है उसमें विश्वसगीत की सय का आरम्भ होता है जिस सुनने का अभ्यास मानव जाति को करना है।

प्लेटो अपने प्रस्तावित प्रत्येक विज्ञान का प्रतिपादन जिस तरह करता है उससे हम वस्तुओं के इन्द्रियग्राह्य पक्ष और केवल बोध्य अथवा विचार गुलभ पक्ष का भेद एकदम निश्चयी देता है। यह भी हम देखते हैं कि वह दूसरे पक्ष को पहले से अपेक्षाकृत अधिक यथाय मानकर निरूपित करता है। रिपब्लिक’ के सतही पठन से हमारी पहली धारणा यह होती है कि प्लेटो अवलोकन तथा प्रयोग की प्रचलित प्रक्रिया की उपेक्षा करता है और इस ढंग से लिखता है मानो हम केवल कुछ स्वयंसिद्ध सूत्रों पर विचार करके उनके परिणामों के भरोसे प्राकृतिक नियम निश्चित कर सकत हैं। ऐसा सोचन का कारण यह है कि आधुनिक विज्ञान पद्धति से परिचित होने के कलस्वरूप हम प्लेटो के विचारों का अध्ययन भी तदनुकूल भाषा से आरम्भ करते हैं। इसके साथ जो विशिष्ट आधुनिक धारणाएँ हमारे मन में बनी रहती हैं उसे भी हम प्लेटो के लेखन में देखना चाहते हैं। सच तो यह है कि प्लेटो ऐसी एक भी बात नहीं कहता जो आधुनिक विज्ञान की भावना व ‘यावहारिक पक्ष से पुष्ट न की जा सक।

प्लेटो के दृष्टिपथ के अत्यन्त प्रभावशाली उदाहरण ज्योतिष तथा ध्वनि विज्ञान की चर्चा में मिलत हैं। जहाँ तक अकगणित तथा ज्यामिति का सम्बन्ध है हम उसके तद्विषयक विचारों को स्वीकार करना चाहेंगे। इससे कीत असहमत हागा कि अकगणित सत्य के मूलभाव का विज्ञान है। यदि हम कहें कि हमने सत्य का देखा है या छुआ है तो हम स्वतः मान लेंगे कि हमारे बदन का ढग अशुद्ध है। हम सस्या का अभ्यास कराने के लिए गोलीयत्र का उपयोग करते हैं। यह हम भलीभाँति विदित है कि जिन गालियों से गिनती सिखाकर सस्या का बोध कराया जाता है उनकी दृश्यता और स्पष्टता एक सयोगमात्र है तत्त्वतः आवश्यक नहीं है क्योंकि गोलीयाँ सिर्फ प्रतीकात्मक हैं जो विचार ग्राह्य सस्याभाव की ‘योजना करती हैं। ज्यामिति के विषय में प्लेटो का मत आमेपजनक माना जा सकता है। वह मानता है कि कागज पर खींचा गया दृश्य तथा स्पष्ट त्रिभुज हमारे विचार का यथाय विषय नहीं है बल्कि त्रिभुजता के वास्तविक विषय का ‘योजनात्मक प्रतीक है जो छुआ नहीं जा सकता देखा नहीं जा सकता, केवल विचार जा सकता है। इस व्याख्या से हम कस असहमत हाग ? किन्तु निश्चय ही स्वयं त्रिभुजता भी जो हम देखते हैं छूत है उस

पर विचार करने का परिणाम है। इस तक के आधार पर सम्भवतः हम प्लेटो के इन्द्रियगम्य अनुभव तथा विचार सम्बन्धी परस्पर विरोध पर आपत्ति कर सकते हैं। वह इस तथ्य की अवज्ञा नहीं करता, और यदि हम उसकी भाषा को प्रामाणिक नहीं मानना चाहते तो मारी समस्या फिर यह होगी कि इन्द्रियगम्य अनुभव से हमारा तात्पर्य क्या है। लेकिन जब प्लेटो ज्योतिष तथा ध्वनिविज्ञान का विषय छेड़ता है तो उसके प्रतिपादन की गैली हम प्रारम्भ में चौंका दनी है। उसमें ग्लोकन से यह बयान प्रस्तुत कराया है कि ज्योतिर्विज्ञान में विज्ञान गैर-निष्कर्ष क्षमता है क्योंकि वह हमारी भ्रष्टाचारिता का नश्वर की ओर देखा में कुशल बनाता है। ग्लोकन का ख्याल है कि नक्षत्रों की ओर निहारते रहना स आत्मा प्रबुद्ध बनती है। इस बात पर सुकरात उसका मजाक उड़ाता है। फिर प्लेटो कहता है कि मनुष्य जीवनभर भले नक्षत्रों को देखता रहे तब भी वह उनके परिक्रमण में सवधा अनभिज्ञ रहेगा। यह नहीं है कि नक्षत्रों के अवलोकन के बिना भी ज्योतिर्विज्ञान के सत्य की उपलब्धि की जा सकती है। यही बात वह बार-बार कहता है कि ज्ञान की प्राप्ति आत्मा और कानों के द्वारा होता है। संभवतः यह है कि क्या सिर्फ देखते रहने में हम ज्योतिर्विज्ञान का सत्य प्राप्त कर सकेंगे? गुरुत्वाकर्षण के नियम का शोध 'न्यूटन' को कभी नहीं होता यदि वह आत्मा का उपयोग न करता, किन्तु यदि हम इसी कारण यह कहें कि वेद स टपकते हुए सत्य की पतनक्रिया में न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का नियम देखा था तो हम 'दर्शन' शब्द में साधारण अर्थ से भिन्न अर्थ का आराधन करते हैं और यदि हम विवेक संगत रहना चाहें तो हम विलक्षण नया शब्द रचना का अनुसरण करना चाहिए।

प्लेटो नक्षत्रों की दृश्यमान गति से उनकी यथार्थ गति का भेद लगातार बतलाता रहा है परन्तु उसका आशय यह नहीं है कि भासमान गति साधारण अर्थ में असत्य अथवा भ्रष्टाचार है। हमारे समान वह भी प्रत्यक्ष गति में यथार्थ गति का भेद प्रकट करता है। कोई नहीं कह सकता कि सूर्य के उदय अस्त की प्रत्यक्ष गति उसकी गति का वास्तविक स्वरूप है। आज कोई नहीं मान सकता कि सूर्य जैसा चलता हुआ दीप्तता है सचमुच वैसा वह बनता है। लेकिन हमी के साथ यह बात भी कोई नहीं स्वीकार करेगा कि समयानुसार आकाश के भिन्न भिन्न भाग में सूर्य जैसी स्थिति में दिखायी पड़ता है वह सत्य नहीं है। यथार्थ तथ्य तो यही है कि हम प्रतिदिन देखा करते हैं न। इस तथ्य का भावार्थ क्या है? यही भावार्थ विचार की क्रिया है। हम इस सृष्टि अवलोकन की दमरे बहुत तेरे अवलोकन के साथ मिलाकर एक भासमान रूप को हमारे रूपों के सन्ध में

संशोधित करते चलते हैं। अतः मैं एक उपकल्पना हाथ लगती है जो इन सारे अवलोकन का संज्ञाजोग्या लेकर प्रकट हाती है। हम सब मानते हैं कि कपलर तथा 'प्लूटन' के अपेक्षित सत्य ज्योतिर्विज्ञान से अनभिन्न व्यक्तिगत व आकास्मिक अनुमानों की अपेक्षा अधिक वास्तविक हैं। किस प्रकार अधिक वास्तविक है? (यद्यपि एक मानी मैं हमारा हर अनुभव जितना तथ्यात्मक है उतना ही वास्तविक है।) एक और दूसरे तथ्य में अंतर क्या है? सर्वाधिक यथार्थ तथ्य वही हैं जिनमें सर्वाधिक सव्यापक और सबगूढ़ का समावेश है। सबसे सतही तथ्य सबसे अनुभूततथ्य है जिनमें 'यूनतम' का समावेश हो। गति के नियम तथ्य है। ठीक वैसी ही वस्तुएँ हैं जिन्हें मैं आकाश में दंगता हूँ। इन तथ्यों से जो भेद उत्पन्न होता है वह उतना ही है जितना इनके समझ लेने की योग्यता से मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है। सूर्य का देखने का मेरा तथ्य मुझे उसके सम्बन्ध में प्रायः कुछ नहीं बताता किन्तु अवलोकन का यह तथ्य उपक्षा की वस्तु नहीं है। इस महान्तम ज्योतिर्विज्ञानविद् भी नहीं कर सकता बल्कि इस अवलोकन तथ्य का ही उपयोग बराबर अधिकाधिक किया जाता है। ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है जिससे अनुभवसिद्ध तथ्यों और मूलभूत सत्त्वों के विभाजन का भेद खुल जाये। तथ्य तभी तक अनुभवसिद्ध रहता है जब तक वह मूल कारण से विलग है। प्लूटन द्वारा प्रतिष्ठित सामान्य सिद्धांत एक विलक्षण तथ्य है जो अगणित तथ्यों को संलग्न करता है और जिसके भीतर असंख्य तथ्य भरे पड़े हैं। वह इसीलिए बल एक विशाल तथ्य है। प्लेटो यही कहता है कि नक्षत्र मण्डल का दृश्य परिक्रमण ऐसे उदाहरण माने जाय अथवा ऐसे प्रतीक समझे जाय जो हमें यथार्थ सम्बन्धों का विचार करने की प्रेरणा देते हैं। वे अयथार्थ नहीं हैं क्योंकि वे दृष्टिभ्रम या स्वप्न या असत्य नहीं हैं।

स्वरशास्त्र या ध्वनिविज्ञान असल में गतिविज्ञान की एक शाखा है। प्लेटो कहता है कि गति की विविध शाखाएँ हैं। अर्थात् से देखनेवाला नक्षत्र गति और कुछ वस्तुओं की गति का कारण बन सनायी देनेवाली ध्वनि—इन दो शाखाओं को ही बढ़ा चुनता है। उन पक्षों पर गायकों की वह हसी उड़ाता है जो यह समझते हैं कि गान से जसा सुनाई देता है उसीमें ध्वनि विज्ञान निहित है अथवा उसी से इस विज्ञान का शोध किया जा सकता है। उनका यह झूठ भी उपहासास्पद है कि जिस व्यक्ति के गान संगीत को परखने में कुशल हैं और जो उनके सूक्ष्म स्वरान्तराल की अनुभूति करने में पटु हैं वही मनुष्य ध्वनिशास्त्र का ज्ञाता है। फिर वह पाइथागोरस के अनुयायी सिद्धांतकारों की आलोचना करता है। संगीत

के स्वरान्तरालों की गणितशास्त्र के सूत्रों में व्यक्त करने की पद्धति का पाइया गोरम का आवेपण कहा जाता है। परन्तु बिसदुल ठीक तरह से कोई नहीं जान पाया है कि इन लोगों ने किस चीज का आवेपण किया था अथवा अथवा योंक सिद्धान्तकार संगीत के विषय में क्या सोच सकते थे। प्लेटो पाइयागोरस के अनुयायियों की मराहटा करता है कि उन्होंने स्वर्ग के नियमों की छानबीन की थी किन्तु वह उनके प्रयत्न को सबसा धरातलाय मानता है। उन लोगों का आवेपण श्रवणीय स्वरान्तराल और स्वरैक्य तक ही सीमित था तथा वही कालि उद्दान सम्ब्यात्मक सूत्र बनाये। परन्तु उनकी जिज्ञासा सामान्यतः इस भाष में अग्रसर नहीं हुई कि स्वरैक्य सम्बन्धी सम्बन्ध क्या हैं या क्या नहीं हैं तथा प्रत्यक्ष को किस तक से माता जाये। सात्पय यह है कि स्वरश्रम अथवा सरगम के सहज स्वरान्तरालों को उद्धाने सन्ध्या में सूत्रबद्ध तो किया है लेकिन उद्धान स्वतः स्वरैक्य का विवेचन नहीं किया और यह भी स्पष्ट नहीं है कि ध्वनिमा किम मूलनियम के अनुसार स्वरैक्य में आवृद्ध होनी हैं। यह प्रश्न महान् विचारका व चिन्तन का विषय रहा है। प्लेटो यह गही कहता कि संगीत तुच्छ है, उसे स्वर शास्त्र में घटित करना चाहिए। परन्तु यदि आप ऐसा समझते हैं, सिफ़ इस कारण कि आपके ज्ञान स्वरान्तराल में मय टुट हैं तो आपकी यह धारणा गलत है कि आप संगीतशास्त्र के परिज्ञाता हैं। कितना भी संगीत आप क्या न सुना करें उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि आपको स्वरश्रम या सरगम के आधारभूत नियमों का बाध है।

उपयुक्त विचार विमर्श से हम यह समझता है कि प्लेटो सम्पूर्ण विज्ञान के मूल सिद्धांतों को मध्यम समझता था। धारोका से देखें तो उसकी भाषा और ज्ञान की सभी विषय के प्रतिपादन की भाषा में नाममात्र का अन्तर मिलेगा। परन्तु उसकी अभिव्यक्ति आपत्तिमूलक हो जाती है जब वह यथाय गति को उस गति से भिन्न कहने लगता है जिस हम प्रत्यक्ष देखा करते हैं। हमारे प्रत्यक्ष अनुभव की गति का साथ ही गति के सिद्धांत हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान विषयक नियमों का पूर्ण बोध जिस व्यक्ति को हो गया है वह प्रत्यक्ष ज्ञान विषय को आसानी से समझ लेगा क्योंकि उसकी दृष्टि इन्हें दो अलग अलग विषय नहीं मानती। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान विषय के सम्पूर्ण नियम उसे सुबोध हो गये हैं तो इन्द्रियगम्य सनही व्यापार गेय ही नहीं रहता। कारण कि जो कुछ वह देखता है सुनता है अथवा छूता है वह सब उन नियमों की अभिव्यक्ति होगी जिनको देखा सुना या छुआ नहीं जा सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान विषय का ऐसा बोध उसका यह ज्ञानने के सक्षम बना देता

है कि जा कुछ पहले आँख कान अथवा स्पर्श से वह समझ चुका है, स्वतः उसकी मनोदशा बदलजाने पर दृष्टि श्रवण अथवा स्पर्श की सम्बेदनाएँ भी बदल जाती हैं। अतएव प्लेटो का अभ्ययन करते समय हम मिथ्या प्लेटोवाद से सावधान रहना चाहिए जो अनुभव को इन्द्रियगम्य और बोधगम्य जैसे दो मसारा में बाँट देता है। अगर आप इनमें से बोधगम्य ससार का परिचय पूछोगे तो इतना ही कहा जा सकता है कि यह इन्द्रियगम्य ससार की धुंधली प्रतिकृति मात्र है। प्लेटो का लेखन में इस तरह के मिथ्यात्व का मोजा आता है परन्तु स्वयं उसने इन्द्रियगम्य और बोधगम्य के बीच कोई स्थूल रेखा नहीं खींची। नित्यशः प्लेटो का बयान यह है कि इन्द्रियगम्य ससार वास्तव में बोधगम्य तत्त्व की प्रतिच्छवि मात्र है एक दूसरे से मूलतः सम्बद्ध है। यह केवल इतना ही करता है कि समस्त विज्ञान तथा दर्शन जिस मूलभाव पर आधारित है उस तथ्य की तीव्र प्रतीति तथा उसके विस्तार का विवेचन करता है। उसके मतानुसार केवल सुविचार से ही सत्य का यथाचित बोध हो सकता है मनोबल के सहज अनुभव अथवा इनके एकत्रित प्रयोग से नहीं। अतएव सत्य बोधगम्य तत्त्व है इन्द्रियग्राह्य नहीं। वह विवेक बुद्धि का भाष्य है अथवा प्लेटो के ढग से सचेतन अनुभव, सत्य का प्रतीक है प्रतिकृति है सत्य का साक्षेदार है।

इस मत को ठीक तरह ग्रहण करने में यह कठिनाई है कि सहजबुद्धि निश्चित रूप से जो कुछ हम देती है तथा विचारक्रिया से हम जो उपलब्ध होता है उसका ज्ञान कस हा? भाषा के भरोसे हम ऐसा मान लेते हैं कि अबलोकन के द्वारा हम ठीक ढग से जाँच करके कुछ तथ्य सप्रहीत करते हैं और फिर उन्हीं के आधार पर कोई मत स्थिर किया जाता है। फिर तु वास्तव में जाँचन की प्रक्रिया इन्द्रिय सुलभ अवलोकन के प्रारम्भिक छोर से विचारजगत् सर्वोत्कृष्ट साधन के नियमों तक एक सतत प्रवाह है। इस प्रक्रिया के एक अवस्था में हम सहजबुद्धि से विचलित होते निष्ठाधी दाने लगते हैं किन्तु उस दशा में भी निरन्तर सहज तथ्या को त्यागने नहीं बल्कि उनका समुचित स्पष्टीकरण करते हुए उन्हीं को क्रमशः अधिक विस्तृत और व्यापक सम्बन्धों से जोड़ देते हैं। जसा प्लेटो कहता है कि इन्द्रियज्ञान ही योगद्राह्य सत्य का प्रतीक है उसी तरह हम कह सकते हैं कि हम गति के नियमों को देखते या सुनते नहीं हैं परन्तु जो कुछ हम देखते या सुनते हैं वही उन तथ्या के अंग हैं जो इन नियमों द्वारा व्यक्त होते हैं। प्लेटो जिसे विचार या प्रज्ञा कहता है, उसकी प्रगति का आशय यह है कि अभ्यास के साथ हमारी अनुभूति तीव्र होती चलती है जबकि इसके पहले की मनोदशा में इन्द्रियज्ञान के कारण वस्तु

समार हम अस्तव्यस्त लगता था। इस प्रगति की ठीक तरह समझने के लिए हम संगीत का उदाहरण लेते हैं। यदि हम संगीतशास्त्र से अनभिज्ञ हैं और यदि पहलीवार वीणा की बजाव सुनते हैं तो इसका कुछ प्रभाव हम पर पड़ता है। इन प्रभाव की सुनना संगीतज्ञ अथवा संगीतरसिक के अनुभव से कीजिये। प्रथमवार वाद्ययंत्र की ध्वनि के प्रभाव से अन्त्यामज्जिना संगीत के अनुभव तक एक प्रकार की प्रगति होती है। संगीत का पारंगत गान के स्वरों की ठीक पहचान कर सकता है, दो स्वरों के बीच की अन्तर की समझता है और उसे संगीतज्ञान आनन्द की अनुभूति होती है। दोनों प्रकार के अनुभवों की समझ लेने पर हम सहज ही उस प्रक्रिया का अनुमान लगा सकते हैं जो इंद्रियगान के अस्तव्यस्त अनुभव से आगे बढ़कर वस्तुजगत् के स्पष्टबोध तक पहुँची है। इसी प्रक्रिया का प्लेटो विचार की प्रगति कहता है।

सहजबुद्धि और विचार के सम्बन्ध की पूरी तरह जाँच करने के लिए प्रत्येक बाल की इन प्रवृत्तियों से परखना जरूरी है। प्रथम सहजबुद्धि का आगम क्या है? दूसरे, इंद्रियगम्य अनुभव में हम सचमुच कितना अनुभव पाते हैं? तीसरे अनुभूत वस्तु का अपनाकृत अधिक बोध प्राप्त करने पर जो परिवर्तन होता है उसका स्वरूप क्या है? (इस परिवर्तन को विचार के अधिक स्वच्छ होने की प्रक्रिया मानने में प्रत्येक व्यक्ति सहमत होगा।)

३ हेतुविद्या (तर्क शास्त्र)

हेतुविद्या अथवा 'वायश्याम्' की प्रथम सीढ़ी विज्ञान की निम्नोक्त प्रगति है जिसका कवन यह प्रयोजन है कि उसमें अभिभावक कुशल नैय्यायिक बन सकें परंतु रिपब्लिक में प्लेटो हेतुविद्या का प्रयोग किस निश्चित अर्थ में करता है—इसे ठीक तरह समझने में कई कारणों से बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस विषय में और दूसरे विषयों में भी आसन्न पर विचारों की माननिय रूपरेखा की निश्चित निम्नोक्त जसा प्रकट करने में प्लेटो पूर्ववर्ती चर्चा के बहुरंगी भाग का जमा का तैसा मानकर चलता है। इसलिए रिपब्लिक में यहाँ जो कथ्यवताया गया है वह उसके मनोभाव का संकेतमात्र है, विवरण नहीं है। वह हेतुविद्या गणना का उपयोग आदि विज्ञान के अर्थ में बार-बार करता है जिनमें यह आदि विज्ञान भी क्या वस्तु है—इसके बारे में केवल सामान्य विचार भर दे पाता है। इस सामान्य विचार का अतिशय समझने का काम प्रथम व्यक्ति की कल्पना के और मानव-जाति की उत्पत्ति के अन्तर्गत छोड़ दिया जाता है। इतना ही नहीं

रिपब्लिक' में तथा उससे दूसरे ग्रन्थों में भी प्रस्तुत अथ के अलावा दूसरे अर्थों में भी इस हेतुविद्या शब्द का उपयोग हुआ है।

मूलतः इस शब्द का अर्थ, 'याग्यान की कला अथवा प्रक्रिया है प्रस्तावित होती है। किसी वस्तु के विषय में दूसरे व्यक्ति को विवरण देना और उस वस्तु का विवरण दूसरे से प्राप्त करना तथा उसके विवरण को ठीक तरह समझना—वस्तु भावाय इस ग्रीक शब्द में उत्पत्ति के अनुसार है। ग्रीक भाषा में इस शब्द का विवेकशक्ति के अभिप्राय में नित्य व्यवहार होता है। यह भी अर्थ इसमें भरा है कि जिस वस्तु का आप बात करते हैं उसकी विलक्षण निश्चित परिभाषा आप दे रहे हैं। मनुष्य जिस वस्तु को ठीक तरह समझता है, केवल वही उसका यथार्थ चित विवेचन करके दूसरों को समझा सकता है। जब तक आप खुद नहीं समझेंगे तब तक किसी वस्तु का समुचित बोध दूसरों को करा ही नहीं सकते। इस मानसिक क्रिया की शक्ति से ग्रीस के माधाराणजना का ध्यान आकर्षित हुआ था और अरस्तू ने तत्त्वशास्त्र के विषय पर लिखते समय इस क्रिया का विशद उल्लेख किया है। इस मानी में टॉपिका (Topica) 'यावहारिक तत्त्वविद्या का एक विशद निबन्ध है अर्थात् वह तत्त्वविद्या जिसका उपयोग परस्पर वार्त्तालाप के प्रयोजन से समाज में हुआ करता है 'यायालया में विज्ञान की खोज में और ऐसे अथ विषयों में होता रहता है। किन्तु आप स्वयं जसा विचार करते हैं उसका विवरण देने की कला से यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि आप दूसरों से उनकी सम्मति अथवा उनके विश्वास का प्रकट करा लें। प्रश्न करने की कला जिसकी कठिन और महत्वपूर्ण है, उतनी ही उसका उत्तर देने की क्षमता भी है। प्रत्येक जिज्ञासु के मन में प्रश्न प्रक्रिया के अनुरूप क्रिया उत्तर की अपेक्षा में निरन्तर चलती रहती है।

सुकरात स्नेनाफन के मेमोरेबिलिया (Memorabilia) में कहता है कि हेतुविद्या शब्द जनसमूह से एकत्रित होकर विचार विमर्श करने के अभ्यास से बना है—अर्थात् इस प्रकार जिन वस्तुओं के बारे में परिचया हुई उन्हें समान गुणधर्म के आधार पर पथक पथक करने की क्रिया हेतुविद्या शब्द से व्यक्त की जाती थी। सुकरात की राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को इसका अभ्यास करके स्वतः इस विद्या में प्रवीण हो जाना चाहिए क्योंकि इसी में श्रेष्ठ मनुष्य जननेता तथा व्याख्यान विचारक बनते हैं। प्लेटो के ढंग की हतविद्या का बीज यही है। ग्रीक तत्त्वविद्या तथा विवेकशक्ति के विषय में यह स्मरणीय है कि ग्राम का दर्शनशास्त्र अग्निवाक्य मौखिक परिचया का फल है। ग्रीस समाधाराण वक्ताओं या वाचालों

विज्ञान तथा दर्शन की शिक्षा

का राष्ट्र था। इसीलिए वकनत्वकला अत्युक्ति शैली और काव्य ही नहीं बल्कि गद्यकला के दूसरे अंग यथाय और खण्डनात्मक तर्कविद्या अत्यधिक विकसित दशा में पहुँच गयी थी। सुकरान जीवनपथ में तर्कालाप करता रहा और इस सचाई का प्रभाव थाक दर्शन पर कभी कम नहीं हुआ। सुकरात के जीवनभर का जम्मा ही प्लेटो ने अपने सख्त में सूत्रबद्ध करके प्रस्तुत किया है। प्लेटो ने हतविद्या (Dialectic) शब्द को उसी तरह अपनाया जिस प्रकार तर्कशास्त्र (Logic) का कोई भी अपना ले और उसमें एक भावाय का समावेश किया जो फिर कभी पूरी तरह क्षीण नहीं हो सका। उसने लिए इस गद्य का प्रथम और परम प्रचलित अर्थ था—प्रामाणिक तर्कमय प्रणाली जो मिथ्या अथवा कल्पित प्रणालियों में विपरीत हो। दूसरे वह ज्ञान पद्धति का नहीं किन्तु सम्पूर्ण ज्ञान का सूचक है अथवा प्रामाणिक विधि द्वारा ज्ञान की समस्त शाखाओं का पूज्य अध्ययन करने पर जिस परिणाम की हम कल्पना कर सकते हैं वह भावाय इस गद्य में भरा हुआ है।

इनमें स प्रथम अभिप्राय बदलकर कोरे व्याख्यान के बजाय वह व्याख्यान हो गया जिसका उद्देश्य सत्य की उपलब्धि है। यह व्याख्यान दा व्यक्तियों में भी हो सकता है अथवा अंतरात्मा स्वयं अपने आपमें सूत्र सम्वाद करती है। प्रश्न यह है कि व्याख्यान का अर्थ रखनेवाले शब्द को जानाजान की प्रामाणिक विधि का सूचक क्या समझा जाये? इस प्रकार के भावाय से हमें प्लेटो के इस विद्वान का सत्य मिलता है कि सत्य की दिशा में केवल धीरे धीरे बढ़ना सम्भव है, प्रत्येक कदम हम अपने ही विचार विवेक से रखना पड़ेगा तब कभी आग की युक्ति मिलेगी और हम काम के लिए प्रश्नोत्तर ही स्वाभाविक प्रक्रिया है। मन से सत्य का बाहर लाने के लिए और उसमें सत्य की प्रतिष्ठा करने के लिए प्लेटो की प्रश्नोत्तर सम्बन्धी धारणा उनके शिक्षा विषयक विचार से जुड़ी हुई है। कोई बाहर की चीज मन में रखने की रीति शिक्षा नहीं है क्योंकि मन सत्य के समान नहीं है, आत्मा के अन्तर्गत प्रकाश की दिशा में केवल बढ़ने की कला है शिक्षा। शिक्षा ऐसी प्रक्रिया है जिसमें आत्मा के भीतर बसा हुआ ज्ञान उजागर होता है इस प्रक्रिया में ज्ञान विषय आत्मा स्वयं कार्यशील हुआ करती है। यही कारण है कि प्लेटो की रचनाओं में निरन्तर विषयों का दर्शन को मिलती है जो तत्कालीन प्रतिष्ठित उपदेशों के अदृष्ट भाषण और सुकरात के सम्भाषणों का अलग अलग करती है। उसकी निष्ठा है कि ज्ञान के संचार का सही तरीका दा मनीषिया का संयोग है। इसीलिए फिड्रस (Phaedrus) में प्लेटो बतलाता है

कि वाचिक सत्य से लिखित सत्य बिनना हल्के दर्जे का है क्योंकि पुस्तक उन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती जो पाठक के मन में पठनक्रिया के समय उत्पन्न होते हैं। 'यत्तिगत मन की विचारशक्ति को भी यही नियम लागू होता है क्योंकि यदि हम सचमुच कुछ सीखना चाहते हैं तो पान को अपना बनाना चाहते हैं तो हमें पुस्तक के तथ्यों को मस्तिष्क में संग्रहीत करके सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए—स्वयं प्रश्न करके उनका समाधान स्वतः खोजना चाहिए।

हेतुविद्या सच्चे तत्वशास्त्री की विवकशक्ति है और वह तथ्यों के अनुरूप होना के कारण ही विवेकशक्ति कहलाती है। यह उस विवेकशक्ति से भिन्न है जिसका उपयोग विवाद में प्रतिवादों को किसी प्रकार परास्त करने के लिए होता है। ऐसी विवकशक्ति का लक्षण यह है कि वह वस्तुओं के नामों पर तर्कों को आधारित करती है यानि सिर्फ शब्दों की लड़ाई होती है। पंचम अध्याय के एक परिच्छेद में प्लेटो ने इसका वर्णन करते हुए इसे केवल वाकयुद्ध कहा है। इसीलिए यह हेतुविद्या के विपरीत क्रिया है जो प्रश्नास्पद वस्तुओं के रूपों का विचार करती है (अर्थात् प्रत्येक विषय में नाम जितने निश्चित तथ्यों का संकेत करता है उन्हें विवेकशक्ति स्पष्ट रीति से अलग-अलग पहचानती है।) अतएव स दर्शित परिच्छेद में जहाँ सुकरात स्त्री और पुरुष के रश्मि मनुष्यों की चर्चा करता है वहाँ जानेपक से यह तर्क कराया जाता है कि स्वयं सुकरात के नियमानुसार भिन्न भिन्न प्रकार के स्वभाव के लिए भिन्न भिन्न रश्मियों को निश्चित करना चाहिए अथवा जिसका जसा स्वभाव हो उसे वसी ही रश्मि का पात्र समझना चाहिए। सुकरात ऐसे तर्कों को क्लिष्ट या वाक्कलह मानता है। जो 'यक्ति इस ढंग से विवाद करता है वह भिन्न भिन्न स्वभाव' और 'भिन्न भिन्न रश्मि'—गणों के पीछे पड़ा है तथा एक शब्द को पकड़कर दूसरे का पीछा करता है। कितने विशिष्ट प्रकार की भिन्नताएँ हैं—वह इस ध्यानवीन का कण्ट नहीं उठाता। ऐसा तर्क करनेवाला इस खास प्रसंग में यह जानने का यत्न नहीं करता कि स्त्री और पुरुष के स्वभाव की भिन्नता के कौन से विशिष्टरूप हैं और भिन्नता के कौन से विशिष्टरूप के लिए कौन सी आजीविका उचित मानी जायेगी। प्लेटो विवेकशक्ति के विषय में गुण के कुछ स्थूल भेदों की कल्पना से विचार आरम्भ करता है। ये भेद निरन्तर रहते हैं चाहे उन्हें पहचानें या न पहचानें। यथाय विवकशक्ति का काम यह है कि वह इन भेदों को उजागर करे और उन्हें समझकर निणय करे। साधारण भाषा में कुछ भेद स्थिर हो गये हैं उसकी श्रद्धावली में वस्तुओं का एक श्रेणीकरण रहना है जिसका उपयोग साधारण लोग किया करते हैं। लेकिन अक्सर

ये भेद सचमुच नहीं होने अथवा वे बिलकुल ठीक तरह के भेद नहीं हैं, ये सब कामचलाक सतलव रखत हैं, इसीलिए वह प्रामाणिक तर्कशास्त्र शास्त्रों के मामूली उपयोग और मामूली दृष्टि की परिचर्चा का नित्य विरोध और आलानना करता है। वह दावा में समुचित उपयोग को जानने की विधि है अर्थात् शास्त्रों का किस प्रकार उपयोग किया जाये ताकि ये वस्तु की मिथ्या धारणाओं को प्रकाशित करने के उद्देश्य वस्तुओं के यथार्थ गुणों का, समार की वास्तविक व्यवस्था का बोध करा सकें।

एक दृष्टि में प्लेटो ने दृष्टिविद्या की विधि का जो वर्णन किया है, उसे समझने के लिए विश्व रचना की एक निश्चित कल्पना से परिचित होना जरूरी है। ज्ञान प्राप्ति की विधि के सम्बन्ध में प्रत्येक मनुष्य की कल्पना अन्ततः सत्य के स्वरूप-सम्बन्धी उसकी धारणा से ही परती जा सकती है। चिरकाल से मनुष्य ने तथ्यात्मक विवेकशक्ति और सम्परहित विवेकशक्ति में भेद माना है। प्लेटो वस्तुमान के मूलभाव की आध्यात्मिक कल्पना करता है। इसी का प्रतिबिम्ब उसने द्वारा प्रस्तावित ज्ञान-पद्धति की कल्पना में मिलता है। यदि हम ससार का पूर्णबोध हो जाय तो वह क्या ससार होगा— इसकी कल्पना प्लेटो ने की है। उसके अनेक सम्बन्धों से स्पष्ट है कि उसने ससार की समष्टि के सन्निबद्ध रूप में कल्पित किया था। हम इसे जीव कह सकते हैं अथवा इस अतलाभित अंगुष्ठात्क सम्पूर्ण रचना कहा जा सकता है जिसका प्रत्येक अंग या भाग दूसरे अंगों या भागों के और साथ-साथ समष्टि के सदस्य में समझा जा सकता है। इसकी प्रत्येक शाखा लघुत्व की भीमा में भी समष्टि के मौलिक लक्षणों को व्यक्त करती है। (भारतीय दर्शन की भाषा में कहें तो अणु भी महत् के सम्पूर्ण मूल गुण अभिव्यक्त करता है।) जब विद्वत् की यह व्यवस्था है तब वस्तुमान के किसी भी अनुसंधान में हम इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए कि हम इस व्यवस्था का दर्शन कर सकें। वस्तु के इस लक्षण के अनुसार विवेकशक्ति का मूलभाव निश्चित किया जा सकता है—प्लेटो इसी तरह से विवेकशक्ति की कल्पना करना है। जैसी वस्तु हो उसी के अनुरूप विवेकशक्ति का मूलभाव रहना चाहिये। इस वह फेड्रस (Phaedrus) में दृष्टान्त से समझाने का प्रयत्न करता है। 'यादगान की मूलवर्ति एक पिण्ड के समान है। फिर इसी सम्बाद में वह अनाड़ी तर्कशर्ता की तुलना मूल रसाइय से करता है जो पिण्ड की स्वाभाविक सन्धिगुणता को समझ बिना जोड़ या ग्रथियों को आरपार काट देता है। इस प्रकार एक आगिक समष्टि के रूप में विद्वत् की कल्पना प्लेटो के ज्ञान-सम्बन्धी विचारों को परम स्पष्ट गुण प्रदान करती है।

वह अपने प्रमुख विचार का अभिव्यक्त करत हुए कहता है कि समग्र ज्ञान अनेक म एक तथा एक म अनेक के निरूपण से उभरता है। जीवधारी के भाव को समझने के लिए यह तर्कनौका अभिव्यजना है क्योंकि प्रत्येक जीव अनेक म एक है उसके हर अंग का बोध उस समष्टि के सम्मम ही हो सकता है और समष्टि अंग म समाहित है। केवल एक की ओर या केवल अनेक की ओर ध्यान देने से कुछ नहीं समझा जा सकता। फाइलसस (Philebus) म यह विचार विस्तार से समझाया गया है वहाँ प्लेटो संन करता है कि वस्तुमात्र म एकत्व तथा सामात्व के सह-अस्तित्व का मूलभूत तथ्य ही हतुविद्या का सत्ता है। हम विश्व म कही भी परती लगायें अनेक म एक मिलता है। जहा कही हम किसी वस्तु की सत्ता का अभिधान करते हैं हम दखते हैं कि उसका सम्बन्ध म एक म अनेक वस्तुआ का अभिधान करना सम्भव है। यह भी नितम विदित होता है कि प्रत्येक वस्तु किसी प्रजनन तत्व, नियम या सिद्धांत का विशिष्ट मूतरूप है अथवा यदि वह स्वतः चाई भावात्मक सिद्धांत या वस्तुमात्र का गुणधर्म है, तो वह विविध प्रकारों म मूल होने पर भी उन सभी म अपने एकत्व का अधुण रखता है। (पचम अध्याय म इस कल्पना स हम पहल ही परिचित हो चुके हैं।) अतएव जरूरी है कि वस्तुज्ञान को प्राप्त करने की ऐसी परिपाटी होनी चाहिए जो इस मूलभाव की मायता पर आधारित हो। तदनुसार ज्ञान की परिपाटी होनी चाहिए जो इस मूलभाव की मायता पर आधारित हो। तदनुसार ज्ञान की परिपाटी के आशय मे हतुविद्या एव दोहरा प्रक्रिया हो जाती है जो वस्तु समुच्चय (अवयव) और श्रणी विभाग (व्यतिरेक) पर आश्रित रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि अनेक मे एक की दृष्टि स ही जब सदैव सत्य का बाध सम्भव है तो उसकी प्रतीति के दो विवस्व हो सकते हैं उसका विविध प्रकारों की ध्यान नीत स आरम्भ करके उस एकत्व की प्राप्ति करें जो सवय वस्तुसय म व्याप्त है अथवा एक मूलनियम या सिद्धांत से आरम्भ करें और देखें कि अनेक प्रकारों मे उमे किम विधि स विभाजित किया जा सकता है।

हम स्वीकार करना होगा कि प्लेटो के युग से आज तक काननिक पद्धति व यही दो पहलू हम सरल विद्या मे माने जात हैं। आगमनात्मक तक (अवयव द्वारा अनुमान) म विभिन्न प्रकार के पदार्थों का परीक्षण करके उनका अन्तवर्ती सनातन नियम या सिद्धांत को निश्चित किया जाता है जो मिद्धानन समुच्चय की विधि है। नियमनात्मक तक म (सामान्य स विशेष का अनुमान) प्रदत्त कल्पना या तथ्य स आरम्भ करके उसके विशिष्ट सयोगों मे उसका शोध करना होता है

तथा यह भी देखना है कि सामान्य नियम नये पदार्थ में प्रयुक्त होता है। प्लेटो की भाषा में कहेंगे कि किस प्रकार एक स्वयं अनेक में विभेदता ग्रहण करता है। इस ही श्रेणी विभाग के नियम का समकक्ष समझना चाहिए। समुच्चय में हम अपनी प्रकृतितत्त्व समता का प्रयोग करते हैं जिस पूर्ववर्त्ता में समग्र दर्शन कहा गया है। यद्यपि रिपब्लिक में निगमन शब्द का अर्थवाची ग्रीक शब्द का उपयोग नहीं किया गया है तथापि प्रामाणिक तर्क इसी विधि का अनुसरण करता है—यह पंचम अध्याय में कहा गया है। कलहपूर्ण तर्क की असफलता के बाद में भी वही बताया गया है कि वह एक वस्तुतत्त्व के विभिन्न वर्गों का ठीक तरह से पहचानने के कारण विफल होता है। अनेक इन्द्रियविषयों में स्थित उनके निर्माणारम्भ हेतु का सङ्गठन करना वस्तु समुच्चय का प्रतिपादन है। विभिन्न इन्द्रियविषयों में निर्माणारम्भ हेतु के दर्शन करना श्रेणी विभाग है। कारण यह है कि विनिष्ट मूलरूपा का बाह्य ही अनवृत्ता है जिसका आशय यह है कि हमें इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान समग्र से पहले होता है। और इन्द्रियगत विषयों की विविधता में एकत्व का मूलद्रव्य ही रूप है। परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि रिपब्लिक में इसी सिद्धांत के अभिप्राय का विस्तार किया गया है। प्रत्येक रूप स्वतः दूसरे रूप से सम्बन्ध रखता है और अन्ततः वस्तुमान के समस्त रूप परस्पर सम्बन्ध के फलस्वरूप एक सिद्धांत में परिणत होने हैं।

इस प्रकार समय तक किन्हीं एक रूप से विचार आरम्भ करना है और रूप सोपान पर चलता हुआ उस परम अख्यय सिद्धांत या तत्त्व तक पहुँच जाता है जो विश्व का मूलधार है। और मूल्य से इसी प्रकार उतरता हुआ स्थूल तक दर्शन कर सकता है। प्लेटो इस वर्णन के द्वारा विज्ञान के आदर्श की ओर मार्ग करता है जो उसकी तर्कविधि की कल्पना का परिणाम है। प्रामाणिक विवेक शक्ति वस्तु समुच्चय तथा श्रेणी विभाजन के संयोग में रहती है। इन दोनों को सम्पूर्ण रीति से व्यवहार में लाना एक में बहुत्व और बहुलता में एकत्व का पूर्ण दर्शन सत्ता के सम्बन्ध में पूर्णज्ञान है। इन दोनों रीतियों में से एक का भी त्याग करना अनुचित तक है। 'फाइलेबस' (Philebus) में प्लेटो कहता है कि बहु सत्यक मनुष्य उतावली में एकत्व से चलकर एकदम बहुविधता का आश्रय लेते हैं और दूसरे बहुततर 'योगसामान्य सिद्धांत में विनिष्ट उदाहरण तक पहुँच जाते हैं अथवा निपट उतावले होकर वस्तुओं का एक समूह में एक ही नियम को ग्रहण करना चाहते हैं।

इस तबविधि का प्रयोग विविध प्रकार से सत्य की खोज उसका संचार अथवा उसकी परिभाषा के हित में किया जा सकता है। इन्हीं तीन प्रमुख प्रयोगों पर प्लेटो ने विचार किया है। सत्य की खोज का प्रथम विज्ञान की सत्य सम्बन्धी पूर्वधारणा के अनुरूप हुआ करता है। खोज की पद्धति के बारे में उस इस बात का विचार ध्यान रखना पड़ेगा कि जो कुछ उसने खोज में पाया है उससे तब तक कभी सन्तुष्ट न हो जब तक उस मूलवस्तु या नियम की समस्त विविधता में मग्न पदार्थ में मूल होकर दिखायी न देव और जब तक मूलभाव के सभी विशेष रूपों की एकत्व में परिणति वह स्वयं न देख सके। रिपब्लिक में नैयामिक का प्रधान गुण यह बताया है उसमें वस्तुओं की परिभाषा करने की शक्ति है। ग्रीक दशान में परिभाषा का व्यापक प्रभाव है—परिभाषा करने की योग्यता उसका आदर्श रहा है। तत्पद्धति की इस कल्पना को परिभाषा से कस जोड़ा जाय ? जब हम किसी वस्तु की परिभाषा करना चाहते हैं तो वह वस्तु एक अथवा अनेक जातिगत रूपों या नियमों का कोई विशिष्ट रूप ही हो सकती है। उसकी परिभाषा करने में समय होना अथवा उसकी समुचित कल्पना कर सकना तभी मायक है जब हम यह जान सकें कि वह वस्तु किस रूप अथवा रूपों का निश्चित चीन का विचार है ? उदाहरणार्थ सिर्फ इतना समझना कि कोई निश्चित कम सत्त्वम है—उसके विषय में निश्चित कल्पना नहीं मानी जा सकती। सत्त्वम के सम्बन्ध में समुचित कल्पना तभी सम्भव है जब हम यह जानें कि वह कम किस अभिप्राय में सत् है अथवा कम की निराली परिस्थितियों में वह सत् को कितनी उत्तम रीति से उपलब्ध कर सकता है। इससे इस तरह से भी कहा जा सकता है कि प्रकृत वस्तु जिस मूलतत्त्व का उद्गारण है मूलतत्त्व की भूमिका में उसका स्थान निर्धारित करना परिभाषा है। प्लेटो रिपब्लिक में बतलाता है कि हेतु विद्या ही एकमात्र परिपाटी है जो व्यवस्थित ढंग से अमूर्त वस्तु की परिभाषा करने का प्रयास करती है। उसमें वस्तु की परिभाषा प्रक्रिया का सकेत मिलता है। जिसकी परिभाषा करना है उस अपनी सजातीय वस्तुओं से पृथक् कर लेना चाहिये। परन्तु यह पृथक्करण की प्रक्रिया वास्तव में सहति या घनीकरण प्रक्रिया का दूसरा पहलू है जिसमें अमूर्त रूप अथवा नियम किस प्रकार दूसरे रूपों अथवा नियमों से सम्बन्धित है यह स्पष्ट होता है। कभी-कभी हमें बतलाया जाना है कि आधुनिक विज्ञान का सत्य वस्तुओं के धनीकरण अथवा उनकी व्याख्या है। ग्रीक विचारक केवल परिभाषा करना ही अपना ध्येय समझते थे। किन्तु किसी वस्तु की धनी में रखना या उसकी व्याख्या करने का भावार्थ भी

ज्ञान की क्रमबद्ध व्यवस्था में वस्तु का उत्तिष्ठान विनिश्चित करना भर है और परिभाषा करने का भी यही प्रयोजन है ।

सप्तम अध्याय में एक पूर्वचिन्तित परिच्छेद में प्लेटो हेतुविद्या के उद्देश्य का विवचन करता है । तबज्ञान के प्रथम आवेग में सत्य मस्तिष्क किस अनगण्य ढंग में आचरण करने लगता है—क्योंकि उसने सोचने लगने दिया है । हर घड़ी अमुक वस्तु को उसने सबका भिन्न वस्तु प्रमाणित करने की धुन उस पर सवार हो जाती है । विचारसक्ति के इन आरम्भिक सङ्गणकों में प्लेटो हेतुविद्या के प्रथम चिह्न मानता है और समझता है कि क्या नाम एक तथा अनेक के सह अस्तित्व सम्बन्धी विलक्षण तथ्य की आरम्भिक अनुभूति से जुड़ा हुआ है । इसे प्लेटो विवचनात्मक चिन्तन के जागरण को अङ्कित करने का स्वाभाविक ढंग समझता है । हम इस ही चुक हैं कि उसका मतानुसार चिन्तन का आरम्भ उस अनुभूति से होता है जिसमें अमुक वस्तु तबमुर अमुक नहीं है अपर्याप्त एक अनेक भी है । हम देखते हैं कि प्लेटो के समस्त विचार विमर्श में इसी प्राचीन तत्त्वविषयक समस्या के चारों ओर एक प्रणाली की सभी कल्पनाएँ टपी हुई हैं । यही आत्मविषयक उत्पन्न का आरम्भिक रूप है जो अपने आप मानवचित्त में प्रस्तुत होता था ।

अब हम हेतुविद्या को सम्पूर्ण विज्ञान के रूप में दर्शन का ध्यान करेंगे । अथ सम्वादों की अपर्याप्त गणितिक में हेतुविद्या (Dialectic) शब्द का यही अभिप्राय प्रमुख है । छठवें अध्याय में अन्तिम परिच्छेद में इस कल्पना पर चर्चा हो चुकी है जहाँ प्लेटो ने विचार की परिभाषा उसके परिपूर्ण अभिप्राय में की है और उस बोध से भिन्न बताया है । जिस तत्त्वविधि की चर्चा अभी तक हम करते आये हैं उस सम्यक् रीति से निभाया जाय तो जो परिणाम होगा वही सम्पूर्ण विज्ञान के रूप में हेतुविद्या है । बार-बार हम विधि और परिणाम का उल्लेख करते हैं मानो वे एक दूसरे से भिन्न दो स्वतन्त्र पूर्ण धारणाएँ हों । प्रश्न है क्या दर्शन विधि है अथवा परिणाम ? वह परिणाम है क्योंकि दर्शन में जैसे-जैसे हमारी गति बढ़ती है हम निम्नी वस्तु की उपलब्धि का भान होता है । किन्तु इसके साथ विवश होकर हम यह कहना पड़ता है कि ज्ञान मध्य में कोई परिणाम अन्तिम नहीं होता । अनन्त ज्ञान एक शाश्वत विधि है । इतना ही नहीं, ज्ञान प्राप्ति की विधियाँ बना करती हैं और ज्ञान की दिशा में प्रत्येक नया हम इन विधियों में संशोधन करता है । पूर्णज्ञान तथा ज्ञानाजय की विधि के सम्बन्ध में प्लेटो की जैसी धारणाएँ हैं उनमें स्पष्ट समानता है । उन मनोदशा को पूर्ण ज्ञान कहते हैं जिसमें वस्तुमात्र पूर्णतः एक व्यवस्था में सूत्रबद्ध होकर आविर्भूत

होती है। वह ऐसी व्यवस्था है जिसमें वस्तु का प्रत्येक अवयव अपने सूक्ष्म विवरण के साथ उचित स्थान का अधिकारी है। और अतः उसे मानवचित्त प्रत्येक दूसरे अवयव से तथा मूलतत्त्व से सम्प्रति दखता है। यही मूलतत्त्व इन सबको एकत्व में बाँध देता है। सत्य की खोज में हेतुविद्या प्रणाली के प्रयोग का अर्थ उत्तरोत्तर यह बोध करना है कि वस्तुमात्र अनेक में एक ही नहीं है अपितु किस प्रक्रिया से अनेकत्व में एकत्व घटित हुआ है। वस्तुमात्र की हेतुविद्यात्मक दृष्टि निरन्तर श्रद्धापूर्वक वस्तुओं के परस्पर सम्बन्धों के चिन्तन में डूबी रहती है। यदि हम इस प्रकार की परिपाटी के जादि से अर्थ की कल्पना करें तो हमें सम्प्रति विज्ञान के रूप में हेतुविद्या का आभास मिल जायगा। साधारण अर्थ में तक विषयक प्रक्रिया के सहारे हमें यह परिणाम नहीं मिलेगा। यह तभी सम्भव है जब तत्त्वों का समष्टिगत समार हमारे अवलोकन के समक्ष खुल जाय अतः अर्थ विज्ञान के परिवार में हेतुविद्या विज्ञान की एक शाखा नहीं है। इस शाखा का उपयोग दो तरह से किया जा सकता है। यह एक सावन्त्रिक प्रणाली है जिसका प्रयोग मानवी विचार से सम्बद्ध समस्त प्रश्नों के लिए किया जा सकता है और भिन्न भिन्न दशाओं में विभिन्न प्रकार से इसे प्रयुक्त करना होगा। अथवा इस आदर्श विज्ञान के रूप में अपनाया जाय जो समस्त विज्ञानों की व्यवस्था है। ऐसा आदर्श है यह जिसकी साधना केवल एक सीमा तक तक है। किन्तु फिर भी यह मानव ज्ञान की प्रगति के लक्ष्य का दखान तो करता ही है।

४ शिक्षा के समूचे पाठ्यक्रम की योजना

अभिभावकों की शिक्षा के आरम्भिक अध्ययन क्रम का उल्लेख हम कर चुके हैं। अब यह और बताना है कि यह अध्ययनक्रम जीवनभर उन्हे कितना प्रभावित करेगा तथा किन लक्षणों के आधार पर अध्ययन की हर आगामी अवस्था में प्रवेश करने की पात्रता किसे मिल सकेगी? भागी शासकों का चयन लक्ष्य है और इसी दृष्टि से प्लेटो फिर चयन की आवश्यकता का दन्तापूर्वक आग्रह करता है। केवल उन व्यक्तियों का चयन करना चाहिए जिनके चरित्र में एकनिष्ठा तथा बौद्धिक कुशागता या आगुग्राहिता के परस्पर पूरक गुणों का संयोग हुआ हो। वह कहता है कि जिस कठोर बौद्धिक अभ्यास में उनको रहना पड़ेगा, उसके लिए शारीरिक श्रम की अपेक्षा घब की जरूरत अधिक होगी। जिन व्यक्तियों को प्लेटो 'पगु' कहता है उन्हें राज्य के नए चुनन के दम्परिणाम पर वह काफी विस्तार से चर्चा करना है। पगु वह है जो एरागी हा अथवा जिसका स्वभाव के सभी अंग विकसित नहीं हुए हों। बौद्धिक श्रम को ही मानकर सिर्फ व्यायाम

विज्ञान तथा दान की शिक्षा

की रुचि पशुता' का एक नमूना है। इसी तरह व्यायाम की उपेक्षा करके केवल बौद्धिक श्रम की रुचि भी पशुता' है। ऐसा ही स्वभावजन दोष यह भी है कि सत्य की कम से कम परवाह की जाये। प्लेटो व क्वेन को आधुनिक भाषा में सत्यप्रता हो कि वह सिर्फ झूठ धाला का ही देख न माने बल्कि मिथ्या विचारों के दुष्प्रभाव से भी उसे शृणा हो। इन सभी आवश्यक लक्षणों को प्लेटो सत्य में इस तरह कहता है कि आरम्भ में अनिभावक शरीर और मन दोनों स्वस्थ होना चाहिए। इन चर्चा के अनिमित्त भाग में यह अपनी इस उत्कटता के लिए क्षमा की आशा भी करता है।

प्रस्तावित उन्नत अध्ययनक्रम का अभ्यास जिन लोगों को करना है उन्हें युवावस्था के आरम्भ में ही उसका प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। उनका प्रारम्भिक पठन-पाठन कम से कम अनिवार्य हो। लगभग सत्रह या अठारह वर्ष की आयु तक सी दशवर्ष की शिक्षा दी जाये जिसका विवरण पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है। इसके साथ विज्ञानों का सरल ज्ञान भी कराया जाय परन्तु उसमें मिथ्यात का समावेश न रहे। इसके बाद बीस वर्ष की आयु तक केवल व्यायाम विषयक प्रशिक्षण दिया जाय जिसका यथापठान शारीरिक और सैनिक अभ्यास सम्मिलित होना चाहिए। इसका प्रधान लक्ष्य यह है कि युवाजन राज्य सेवा में निपुण बनें और आंतरिक शक्ति तथा बाहरी शत्रु से राज्य की सुरक्षा में वे समय हों। फलतः उन्हें भावी कृतव्य निर्वाह के लिए बलिष्ठ शरीर का आधार और साथ-साथ आत्मसमय तथा धन का समुचित अभ्यास मिलेगा। यह शारीरिक प्रशिक्षण इतना बढोढ़ होगा कि इस अवधि में वे बौद्धिक कार्य बिलकुल नहीं कर सकेंगे। कि तु प्लेटो कहता है कि व्यायाम के अभ्यास में मनुष्य के चरित्र का जसा उभार होता है वह उसकी मूल प्रकृति का यथाय परिचय देता है। बीस वर्ष की आयु में फिर उन व्यक्तियों का चयन किया जायेगा जिन्होंने अपनी इस अवधि की शिक्षा में विशेष गुणों का प्रमाण दिया हो। इस प्रकार चुने गये अभ्यासार्थियों की शिक्षा की अगली उन्नत श्रेणी में प्रवेश किया जायेगा। इसके दो भाग होंगे। तीस वर्ष की आयु तक व्यवस्थित वैज्ञानिक पाठ्यक्रम जारी रहेगा। इस अवधि में विशेष ध्यान इस बात पर रहे कि इन व्यक्तियों में हेतु विद्या की शक्ति के चिह्न दिखायी देते हैं या नहीं। अर्थात् उनमें समग्र दान की शक्ति का आभास मिलता है या नहीं। साथ साथ सावजनिक कार्यों का प्रशिक्षण भी जारी रहेगा जिसका मुख्य भाग सैनिक विद्या हो। इस भाग की शिक्षा का

मानण्ड यह होगा कि मनुष्य स्थिरमति है या नहीं और शिक्षाक्रम में ग्रहण किये गये सिद्धांतों के प्रति अटल विश्वास रखता है अथवा नहीं। तीसरे वर्ष की आयु में फिर चयन किया जायेगा। इस प्रकार अब तक प्रशिक्षित व्यक्तियों में से जिन्हें मान्यता दी जायेगी, वे शुद्ध हेतुविद्या के अध्ययन में दीक्षित होंगे और आगामी पाँच वर्षों तक इससे अतिरिक्त अन्य कोई कार्य उन्हें नहीं दिया जायेगा। (सम्भवतः इसमें नीति विषयक तथा मानव जीवन सम्बन्धी सिद्धांतों का समावेश करने का अभिप्राय है। कारण यह है कि इसी प्रसंग में प्लेटो हेतुविद्या के उपद्रवों का उल्लेख करता है। यदि शिक्षा तबतः सिद्धांतों के प्रति अटल निष्ठा के अभाव में भी अपात्रों को हेतुविद्या का अध्ययन कराया गया तो उसके गम्भीर दुष्परिणाम होंगे।) पैंतीसवें वर्ष की आयु में सावजनिक सेवा का वास्तविक गम्भीर कार्य होना है जो पंद्रहवें वर्ष तक जारी रहेगा। इन वर्षों में नासक पदों के उपयुक्त अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। अभिभावकों को शुभाशुभ के विविध रूपों से वास्तविक सम्बन्ध करना होगा जिसके फलस्वरूप शासक की योग्यता का उनमें सहज विकास हो सकेगा। जिन परिस्थितियों का सामना उन्हें हर घड़ी करना पड़ेगा उसमें फलस्वरूप उनकी यह जाँच निरन्तर हाँती रहेगी कि वे सभी निशाओं में एक साथ समुचित ध्यान दे सकते हैं या नहीं। अब तक की इस तपस्या में सफल व्यक्ति पचासवें वर्ष की आयु प्राप्त करने पर बवल सत् या ध्येयसत् के अध्ययन के पात्र माने जायेंगे तथा इस सत्यबोध की उद्योति का आश्रय लेकर राज्य का शासन तथा सगठन सँभालेंगे। उन्हीं सर्वोच्च परिपक्व में नियुक्त किया जायेगा जोर वे सत् के सद्भावित्व अध्ययन तथा नासनिक व्यवहार के कार्यक्रम में लगे रहेंगे। अतः में मरणोपरांत सावजनिक सम्मान के साथ उनका शवाधान किया जायेगा और यदि इच्छी व दक्षी वक्ता की अनुमति मिलेगी तो दियपुरुष के अनुरूप उनकी पूजा की जायेगी अथवा उन्हें हर हालत में देवगण के आशीर्वाद तथा अनुकम्पा के विशेष पात्र माना जायेगा।

इस परियाजना के व्यवहार में ज्ञान के लिए किसी सगठनात्मक तंत्र की बात का कोई महत्त्व नहीं है और इसकी व्यावहारिकता की जाँच करना भी निरर्थक है। स्वयं प्लेटो बवल यह घोषणा करता है कि वह आन्ध्र राज्य का विवचन भर करना चाहता है। प्रश्न यह है कि इसमें ऐसा कौन सा यथार्थ सत्य है जो मानवजाति के लिए हितावह हो सकता है और हम किस प्रकार प्लेटो के सिद्धांतों को उद्धारित कर सकते हैं? प्रथमतः इसमें शिक्षा विषयक यह विचार मिलता है कि मनुष्य स्वभाव की सहज आवश्यकताओं की पूर्ति करने में शिक्षा

विज्ञान तथा दान की गिता

पद्धति को समर्थ होना चाहिए। दूसरे यह कल्पना भी उपयोगी है कि मानवता का जब तक उन्नतिशील होने में सक्षम है, तब तक शिक्षा जारी रहना चाहिए। शिक्षा जीवनव्यापी प्रक्रिया है क्योंकि गिता का सहजभाव यह है कि वह आत्मा को जीवित रखती है। जब शिक्षा की अवधि आयु के केवल प्रथम पच्चीस वर्षों में सीमित कर दी जाती है तब हम अज्ञान में इस मानवी दुर्बलता के सम्मुख समपण करते हैं। तीसरे, मनुष्य-स्वभाव के उत्पन्नगामी अभियान में उत्पन्न सम्पूर्ण वस्तु पुत्र शिक्षा के महत्वपूर्ण अंग हैं घम कता विज्ञान दान तथा अत्याय शासकीय समस्याएँ और समाज—सभी का शिक्षा व प्रयोजन में उपयोग करना चाहिए। इन प्रसंग में हमें जान होना है कि प्लेटो क्या तथा विज्ञान, अध्ययन तथा व्यावहारिक जीवन, अथवा मानव मस्तिष्क के अंग महत्वपूर्ण धर्मफलों में किसी प्रतिस्पर्धा की कल्पना तक नहीं करता। इन सभी को वह एक शृंखला की कड़ियाँ मानकर चरता है।

प्लेटो ने शिक्षा की उच्चावस्था का निरूपण बहुत मनोयोगपूर्वक किया है बहुत समय उसमें लगाया है परन्तु वह हमका लाभ केवल थोड़े से व्यक्तियों तक ही सीमित रखना चाहता है। उसकी धारणा है कि हम जिस नियत अवधि के बाद आजकल शिक्षा समाप्त कर देते हैं वस ही बहुतेरे के लोभ भी अध्ययन छोड़ देने जिन्हें इस प्रकार के शिक्षाक्रम में प्रवेश दिया जायेगा। समूचे शिक्षा क्रम का लाभ प्राप्त करनेवाले बहुत थोड़े से व्यक्ति ही अन्ततः राज्य शासन के सूत्रधार होंगे। यदि प्लेटो की भावना के अनुरूप प्रशिक्षण का लाभ राज्य के नितात प्रभावशाली व्यक्तियों को दिया जा सके तो निश्चय आज जमा आधुनिक शासन है उससे वही अधिक सक्षम वह होता। स्पष्ट है कि यदि हम शासन के कर्तव्य को इस सबसे कठिन और सर्वोच्च श्रेणी में रखते हैं तो निश्चय ही उसका निमित्त प्रशिक्षण और उत्तम उपकरण आवश्यक हैं।

समाज और आत्मा के ह्रास की क्रमिक अवस्थाएँ

द्वितीय से सप्तम अध्याय तक रिपब्लिक में प्लेटो ने मानवात्मा की योग्यताओं के चरम उत्कर्ष का तत्कालीन चित्र अंकित किया है। इसी तरह अष्टम और नवम अध्याय में मानवात्मा के पतन की अवस्थाएँ का विवेचन है। पहले चित्र से विनिर्दिष्ट होता है कि मनुष्य चाहे तो इतनी ऊँचाई तक पहुँच सकता है कि वह दिव्य तत्त्व के समान हो जाये। दूसरे में हम देखते हैं कि हिंसक पशु के तुल्य अधम बन सकता है। हमने पहले चित्र को इसलिए तत्कालीन कहा है कि पूर्ण राज्य अथवा पूर्ण राज्य की रचना प्रक्रिया की कतिपय अवस्थाओं का वर्णन प्लेटो लगातार इस तरह करता है मानो प्रक्रिया की हर अवस्था किसी ऐतिहासिक क्रम से दूसरी के बाद चली आती हो। हम जानते हैं कि यह प्रक्रिया इतिहास के सच या विपरीत है। प्लेटो का आशय यह नहीं है कि कोई राज्य इस प्रकार इतिहासक्रम से विकसित हुआ है। वह शुद्ध तत्कालीन विकास का वर्णन करता है जिसका आधारपूर्ण विकसित समाज के प्रमुख तत्त्व का मनोवैज्ञानिक अन्वेषण है। अष्टम तथा नवम अध्यायों में ऐतिहासिक क्रम का आभास विनैप रूप से दिखायी देता है। इसमें इतना अधिक रोचक तत्त्व है कि अनेक भाष्यकारों ने प्लेटो को ग्रीस की राजनीतिक समाज के विकास का वर्णन करनेवाला समझ लिया। यही आधार लेकर उन्होंने उसकी गम्भीर आलोचना भी कर डाली और बताया कि वह जिन शासनिक विधाओं की बात करता है, उसके वर्णन में उनका उल्लेख तक नहीं है। छिद्रावर्णन से सरल कोई दूसरा काम नहीं होता। परन्तु यह अवलम्बनीय है कि प्लेटो इन सहज वस्तुओं से अनभिज्ञ रहा होगा। जरा गहराई से देखने पर इस प्रसंग में भी उसके प्रवचन का क्रम मनोवैज्ञानिक और तत्कालीन है। उसने अपने समक्ष यह प्रश्न रखकर विचार किया है मानवात्मा हमारे वर्णन के अनुरूप है। उसमें शुभ और अशुभ दोनों योग्यताएँ हैं। यदि उसकी अशुभ योग्यताओं के

समाज और आत्मा के हास की क्रमिक अवस्थाओं

उपशमन का प्रबोधन किया जाये और उसकी अशुभ प्रवृत्ति को स्वच्छन्द रहने दिया जाये तो उनकी बुरा दुर्गति होगी और उसे बिन विपद्वापस्याओं से गुजरना पड़ेगा ? मनुष्य के अशुभ में अशुभ का कुछ न कुछ उपशमन अनात्मभाव से मदा होता रहता है। ऐसी परिस्थितियाँ निरन्तर बनी रहती हैं जो किसी भी प्रवृत्ति को निरकुश और अबाध ढंग से अपनी पूर्ति नहीं करने देती। किन्तु प्लेटो के समान दानन चाह तो किसी भी एक प्रवृत्ति के परिणाम का तत्सम्मत विवेचन कर सकता है। प्रस्तुत अध्यायों में अशुभ का आदगवादी इतिहास अंकित किया गया है जबकि पिछले अध्याय शुभ का आदगवादी इतिहास विवरण हमें दे चुके हैं।

रिपब्लिक में प्लेटो ने मनुष्य जीवन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने का उत्तरदायित्व लिया है। (मनोविज्ञान शास्त्र का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया गया है।) इस ढंग से यहाँ वह ग्रीक इतिहास तथा ग्रीक जीवन की विशद व्याख्या करना चाहता है। उसने अपने समस्त एक प्रश्न रखा है हम किस प्रकार यह प्रतिष्ठित करें कि मनुष्य-स्वभाव के भीतर कुछ प्रबल वृत्तियाँ की सक्रियता ग्रीक जीवन के विविध घ्यत्त रूपों का आदिघात है ? इस ध्येय के निमित्त सामग्री प्राप्त करने के लिए उसने सम्पूर्ण ग्रीक जीवन का अनुसन्धान किया है और इन अध्यायों में सामान्यतः मानव प्रकृति का और विशेषतः ग्रीक स्वभाव का अत्यन्त बिलक्षण ज्ञान एकत्रित कर रखा है। समाज रचना के प्रत्येक अंग का वर्णन वास्तव में किसी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रभुत्व की अभिव्यक्ति है जिसे स्वच्छन्द छोड़ देने से समाज के जीवन में तथा व्यक्तिगत जीवन में कुछ परिणाम अवश्यम्भावी हैं। आधुनिक युग में इसी ध्येय में अनुरक्त कोई भी जिनासु पूछ सकता है कि प्रजा तान्त्रिक भावना का सारभूत तत्त्व क्या है ? परिभाषा करने के उपरांत वह फिर प्रश्न कर सकता है कि ससार की तथावधित विभिन्न प्रजातन्त्रीय पद्धतियों में यह भावना कहाँ तक प्रकट हुई है ? केवल प्रजातन्त्रीय देशों तक ही उसका अनुसन्धान सीमित नहीं रहेगा, वह उन देशों में भी प्रजातन्त्र के तत्त्व दृढ़ होगा जहाँ शासन सही अर्थों में प्रजातन्त्रात्मक नहीं है। यदि समस्त संकलित सामग्री का वह एक खाजा तैयार कर ले, तो ऐसा विवरण प्रजातन्त्र के किसी पयाय रूप से मेल नहीं खायेगा, तथापि प्रजातान्त्रिक भावना के साधारण परिणामों की जो कल्पना उसने की है उसका सचित स्वरूप उससे अवश्य प्रकट होगा। यहाँ प्लेटो ने यही परिपाटी अपनायी है।

प्लेटो बिन प्रवृत्तियों की गतिविधि का पता लगाना चाहता है ? उसने आत्मा की जो कल्पना की है उसका विनाश विवेचन द्वितीय में चतुर्थ अध्याय में किया

जा चुका है। आत्मा एक वस्तु है किन्तु वह त्रिविध है। उसकी साधारण नियमित तथा आदर्शमय दशा में से प्रत्येक अपना समुचित योग देकर समष्टि के बुद्धिसंगत स्पष्टीकरण में सहायक होती है। आत्मा की इस त्रिविधि दशा में समाज का समावेश अपन-आप है क्योंकि आत्मा अपनी प्रत्येक क्रिया से दूसरी आत्माओं का साथ जुड़ती रहती है। आत्माओं का आदर्श-समवाय (जनमण्डल) वही वहला मकता है जिसमें वैयक्तिक आत्मा की क्षमताओं का पूरा विकास हुआ है और उसकी आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति हो सकी है। ऐसा तभी होगा जब मनुष्य का दशानतत्त्व शासन करे यथा कि उसका यही तत्त्व अपने यथाय हितों का बोध पान में उसे समय बनाता है। इतना ही नहीं, उसमें यह सामर्थ्य भी आती है कि वह समग्र हितों के अनुकूल या सावजनिक जीवन बिता सकता है। दशानतत्त्व के शासन की आधीनता के अतिरिक्त दूसरा कोई भी संगठन अपनी मर्यादा के भीतर अधूरा होगा और ऐसे संगठन में मनुष्य-स्वभाव के तत्त्वों की परस्पर सम्बन्ध सूत्रता साधारण नहीं रहनी। इसलिए अनुभव की प्रगति वास्तव में विघटन की प्रगति है। अर्थात् जिस क्रम में यह विघटन क्रिया आगे बढ़ती है उसी तरह समाज के विभिन्न अवयव या तत्त्व अथवा व्यक्तिगत आत्मा के विविध अंग बराबर अनुमित क्रमों में उत्तरोत्तर अग्रसर होते हैं। प्लेटो जिसे महाजनतन्त्र या समृद्ध जनतन्त्र का नाम देता है और जो अधःपतन की प्रगति का प्रथम चरण है वह जीवन की ऐसी अवस्था है जिसमें स्फूर्ति-पूर्णभाव का आधिपत्य बना रहता है। इसलिए उसमें से दशानतत्त्व तिराहित नहीं होना इतना ही होना है कि दशानतत्त्व नीचे उतर आता है और अपने कर्तव्य से विच्युत होकर स्फूर्ति का दास बन जाता है। अधःपतन दिशा में दूसरा चरण बुभुक्षा के प्रभुत्व बढ़ने पर उठता है और स्फूर्ति और तब उसके दास तथा साधन हो जाता है। इस ही उच्चकुलतंत्र कहते हैं जिसका अन्तर्गत जीवन का लक्ष्य पार्थिव इच्छाओं का संतोष है। लेकिन इस तन्त्र में भी एक दिशा में बाह्य व्यवस्था रहती है जो बुभुक्षाओं की भीड़ को एक प्रमुख बुभुक्षा के आधिपत्य में रखती है। इसके आगे बुभुक्षा की परिधि में ही पतन की प्रगति बढ़ती रहती है। सम्पत्तिलिप्सा के आधिपत्य से अवकाश पाकर बुभुक्षाएं अब वर्तमान ढंग से प्रभुत्व के हेतु जूझती हैं और सिद्धान्त के अभाव में भी उनमें एक प्रचार का अस्थायी साम्य उभर आता है जिसे प्रजातन्त्र कहते हैं। जब यह बुभुक्षा साम्य क्षुद्रतम जनो की अखण्ड निरकुशता में परिणत हो जाती है तब वह पतन प्रगति का अन्तिम चरण है। अनेक क्षुद्रतम मनुष्य एकत्र हो जाते हैं जो समाज के सावजनिक जीवन के अनुरूप रचनात्मक भी नहीं होते, उनका समान स्वाधरत कोई नहीं हो सकता। अत्याचार अथवा प्रजापीडन यही है।

इन अवस्थाओं में प्रत्येक को जमा अंकित किया गया है, उसमें हम व्यक्ति-मनुष्य और समाज (जनमण्डल) का सम्बन्ध अच्छी तरह समझ सकते हैं। प्लेटो मनुष्य और राज्य का यथावत वर्णन करता है और वह उस प्रक्रिया का वर्णन भी करता है जिससे वह जन्म है वस है। इनमें से प्रत्येक विवरण व्यक्ति की अन्तरस्थ मनोवैज्ञानिक दशा का प्रतिरूप है और यदि राज्य में उसका व्यवस्थापन होता है तो उससे राज्य की गतिविधि का स्वरूप बदल जाता है परन्तु प्लेटो का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इस योजना का व्यक्तिकवल तद्गुण राज्य में ही रह सकता है। उच्चकुलतन्त्र का उदाहरण लीजिए। प्रत्येक उच्चकुलतन्त्रीय मनुष्य पापविषय सम्पत्ति के सिद्धांत का अनुचर होता है। जब तक वह अविवल भाव से सम्पत्ति संचयन नहीं करता तो वह उच्चकुलतन्त्रीय है। यदि समाज में इस प्रवृत्ति का बहुसंख्यक मनुष्य यथार्थ और उच्च शक्ति का समर्थन भी करता सम्प्रदायित राजनीति उच्चकुलतन्त्र का आविर्भाव निश्चित है। ऐसे व्यक्ति स्वभाव से दोष जाता पर शासन करने का प्रयास करेंगे और उनके प्रमुख धर्म का आधारभूत सिद्धांत ही उनके सविधान की रूपरेखा का नियामक होगा। इस प्रकार उच्चकुलतन्त्रात्मक राज्य तद्गुण सिद्धांत में आसक्त व्यक्तियों का विभाजन होगा। परन्तु उच्चकुलतन्त्र शासन के बिना भी समाज में इस प्रवृत्ति का अन्तर्निहित संकट है। इस दृष्टि से हम प्लेटो से उन वर्णन का भाव्य कर सकते हैं जिनमें इन तन्त्रा के एक प्रकार से दूसरे में रूपांतर का उल्लेख किया गया है। जसा पहले कह आया है, प्लेटो इन तन्त्रा का कोई ऐतिहासिक सम्मान नहीं देता जो किसी ग्रीक सविधान का विकासक्रम से जुड़ा हो। उसने इन्हें गिने व्यक्तियों और समाज के इतिवृत्त से प्रमुख लक्षण चुने हैं। और एक निश्चित सिद्धान्त को निरूपित करने के उद्देश्य से उन संप्रहीत लक्षणों के मिश्रण को एक विशिष्ट दशा में प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ उसने उच्चकुलतन्त्र में प्रजातन्त्र का अवस्थान्तर का विवरण किया है। यदि कोई समाज इस दशा में पहुँच जाये कि उसके अग्रगण्य व्यक्ति सम्पत्ति-संग्रह को ही एकमात्र लक्ष्य मान लें तो देर सवेर यह प्रवृत्ति समाज (जनमण्डल) के सामर्थ्य की बुनियाद को खोखली कर देगी और उसने बदले कोई घटिया दर्जे का शासनतन्त्र उभर आयेगा। यही दुर्दशा व्यक्तिगत जीवन अथवा कुटुम्बों की हो जायेगी जहाँ उन्होंने जीवन का प्रधान धर्म धन संचयन बना लिया। प्रत्येक चित्रावन के सभी वर्णित लक्षण भीतर भीतर चलनवाले मनोवैज्ञानिक परिवर्तन का द्योतक है और इनको विस्तार से समझने वृक्षन का जरूरत है। इतिहास का दार्शनिक विवेचन का सर्वप्रथम प्रयास

इन अध्यायों में मिलता है। इतिहास दर्शन का अभिप्राय यह है कि इतिहासज्ञ उन नियमों अथवा सिद्धांतों को देखने में सक्षम हुआ है जिनकी क्रियाशीलता मानव इतिवृत्त में प्रदर्शित हुई है। प्लेटो ने मानव स्वभाव की मूलगत प्रवृत्तियों का चयन किया है और वह उनके प्रकाश में ग्रीक इतिहास का भाष्य करता है। जिन प्रवृत्तियों का वह वर्णन करता है उनके सक्रिय होने का प्रभाव ऐतिहासिक घटनाओं में जसा का तसा नहीं मिलता किन्तु ग्रीक समाज में उनके लक्षणों को उसने गुप्तरीति से आचरण में पलित होते देखा है।

अन्त में प्लेटो मनुष्य तथा समाज की जिस आदर्श-पुनर्स्था को अंकित कर चुका है उसके बिलकुल विपरीत स्वरूप को यहाँ रगता है। पुरपोत्तम वही है जिसका अन्तःकरण अपनी समाज के जीवन से यथामग्नत्व समरस हो गया है और अतः इसी के सहज फलस्वरूप विद्वरचना के नियम उसके जीवन के अभिन्न अंग बन गये हैं क्योंकि वह स्वयं तथा समाज इस विद्वरचना के अवयवमान हैं। मनुष्य कभी पूर्णतः इस आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु जितनी प्राप्ति उसे होती है उसी अनुपात में वह सज्जन बनता है। जिस मात्रा में मनुष्य सावजनिक जीवन का कोशल उपलब्ध करता है वही उसके सद्भाव और उसकी महानता का प्रमाण है। (आश्चर्य नहीं है कि वह इस सावजनिक जीवनयापन का विज्ञापन करे।) अथवा उसके सद्भाव और उसकी महानता का प्रमाण यह है कि वह अपने आपको जो कुछ वह स्वयं है उसके परे किसी वस्तु में अभिन्न भाव से समर्पित करने की क्षमता रखता है। यह मानव-दृष्टि दार्शनिक राज्य विचारों के लिए जितना लागू है उतना तुच्छतम वस्तु के पद निर्वाह हेतु भी है। इस प्रकार समाज में नराधम वह है जो नितान्त सक्तीय तथा स्वार्थी है। जो व्यक्ति स्वेच्छाचारी के सिद्धान्त की मूर्ति है वह प्लेटो के अनुसार अपनी शुद्धतम बुभुक्षा के लिए सबस्व निष्ठावर कर देता है। मान लीजिये कि हम नष्ट होने का स्वेच्छाचारी मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियों में फँस जाता है तब भी वह अपनी निरंकुश लालसा का दास होने के कारण स्वेच्छाचारी ही बना रहता है किन्तु अनुकूल परिवेश में वह आकण्ड स्वेच्छाचारी हुए बिना नहीं रह सकता क्योंकि उसकी लालसा बराबर प्रबल ही रहेगी। ठीक इसी तरह दर्शन के उमरी प्रवृत्ति के अनुकूल राज्य व्यवस्था सुलभ हो जाय तो वह उसका सम्राट—व्यवसायकर्ता बन सकता है। दर्शन की ठीक प्रतिमूर्ति स्वेच्छाचारी है। दार्शनिक सम्राट अपने चतुर्दिक प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वस्तु के साथ समरस होता है। स्वेच्छाचारी का समूचा व्यक्तित्व एकान्तरूपमयी लालसा के अधीन होता है इसलिए वह नितान्त अकला-एवासी

समाज और आत्मा के हास की क्रमिक अवस्थाएँ

हुआ करता है वह अपने आत्मभाव का स्वयं शत्रु है, मनुष्यमान तथा ईश्वर का वरी है। कहने के लिए वह राज्य का व्यक्ति है निरुत्तु वास्तव में उसे अधिक शक्ति दूसरा नहीं होता।

जिस पतनाभिमुख मार्ग में हम निम्नतम दशा की प्राप्ति हाँती है उसमें मनुष्य का जीवन का निर्धारित लक्ष्य कम होता है उसकी मनुष्यता के लिए लज्जास्पद बनता जाना है। जब लक्ष्य ही भ्रष्ट होने लगा तो उसकी पूर्ति में लग जीवन के विविध अवयवों की दुर्गति का क्या कहना। प्रत्येक कदम पर शिक्षा के यथायथ सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिकाधिक होनी चलती है और आत्मा अपने सम्पूर्ण पोषण के अभाव में अजर होती जाती है।

पतन की इन विविध अवस्थाओं का विवरण आदर्श राज्य के समय आरम्भ होता है। उत्कृष्ट राज्य के नाश का आरम्भ कैसे होता है? इस प्रश्न के साथ प्लेटो के समस्त वास्तव में अनुभव के उद्गम की खोज का दुस्तर काम उपस्थित हो जाता है। ऐसा बयां कर होता है कि मसार जमा पूरा या उत्कृष्ट हो सकता है कैसे नहीं है? लेकिन प्लेटो ने आदर्श समाज के महाजनन में परिवर्तन को इन तरह अंकित किया है मानो वह कोई ऐतिहासिक घटनाक्रम हो। प्लेटो अपने युग के ग्रीस में जीवन के उन्नत रूपों से परिचित था। परन्तु पूर्वकाल में मनुष्य जीवन का अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण रूप वास्तव में विद्यमान थे और जिनके विषय में उसने विचार किया था नहीं—यह कहना असम्भव है। इतना निश्चित है कि वह ग्रीक समाज के जिन जीवन-रूपों का श्रेष्ठ मानता था उनमें भी उसे मानव जीवन के भावी उन्नत रूपों की मिलती-जुलती अपूर्ण आशुति दिखायी देती थी। परन्तु इनमें यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि पूर्ववर्ती जीवन रूपों को वह विद्यमान जीवन पद्धति से अधिक उन्नत समझता था। उसने गुणदोष विवेचन का निजी आदर्श मानदण्ड बना रखा था। स्वाभाविक है कि विद्यमान समाज के जिन नमूना की जाँच वह करना चाहता है उन्हें अपने आदर्श मानदण्ड से परस्पर उमन बहुत विद्यमान हुआ पाया। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि उसे अपने आदर्श में हट निष्ठा थी। फिर भी वह अपने आदर्श की बान्ना को बराबर मानता रहता है और कहता है कि मानव सत्ताओं का परम उन्नत रूप भी स्थायी नहीं हो सकता। प्लेटो के मन में जा विचार रहा है उसका अनुमान हम इन प्रश्नों से कर सकते हैं 'क्या हमारी वर्तमान यास्थीय सम्पत्ता की प्रगति स्थायी रूप से हानी जायगी अथवा उसका अस्तित्व चिरस्थायी हो सकता है?' क्या किसी भी राष्ट्र का जीवन हासविहीन हो सकता है?

प्लेटो की धारणा है कि जिमी भी समाज के ह्रास का कारण उसके नासबो म फट तथा उत्पातमूलक दलब दी है। जब तब उनके मन म मल है तब तक समाज का विघटन असम्भव है। इतना तो ठीक है लेकिन सरस्वती देवी ही जान सकती है कि हमारे आदर्श राज्य म पुन और चमत्कृत का आरम्भ किस क्षण होगा। प्लेटो इस तरह व्यंग विनोद का पुन देकर तब गम्भीर बात करता है, जब उम लगता है कि प्रस्तुत प्रश्न का वास्तविक उत्तर देना सम्भव नहीं है। उम समय भी वह यही ढंग अपनाता है जब आत्मा की चरम भवितव्यता के सम्बन्ध म वह पुराण अथवा काव्य की भाषा का आश्रय लेता है। यहाँ वह कहता है हम यही समझ लें कि सरस्वती देवी हमारी दृष्टी उड़ा रही हैं माना हम अबोध गिनु हा और हम तीक्ष्ण ध्यस्य के पात्र हा।

इम व्यापारिक उत्तर का आधार यह नियम है कि अस्तित्व पान के बाद प्रत्येक वस्तु का भाग अवश्यम्भावी है। अतएव मानव समाज चाहे जितना सुसंगठित हो उसका अस्तित्व बिनाग स बच नहीं सकता। इस समाज के बिनाग का क्या रूप होगा? इस प्रश्न म वह एक और सामान्य नियम का उल्लेख करता है जो समस्त जीवधारी अथवा आत्मा तथा देह के संयोगजनित प्रत्येक वस्तु को लागू होता है। समस्त सजीव वस्तुओं के लिए अपने स्वभाव के अनुसार पूरक निदिष्ट अवधि रहती है जिस पर उनकी सत्ता क्रिया की क्षमता और शक्ति निर्भर हुआ करती है। बीच बीच में मनुष्य देहगत आत्माओं की जीवनी शक्ति क्षीण हो जाती है और पहने की अपेक्षा सन्तानोत्पत्ति का ह्रास होता है। यदि इस दुःस्थिति काल म कुछ सन्तान होती है तो उसम जाति के हीन लक्षणों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। सब समाज का ह्रास होना अनिवार्य है। प्लेटो सन्तान की किसी निश्चित संख्या का उल्लेख पहली के ढंग से करता है जो एस सकट को अवधि की द्योतक होती है। हम इस खास संख्या को महत्त्व देने के चक्कर म न पड़ें। इस परिच्छेद में प्लेटो अपने इस विश्वास को बताता है जिसके अनुसार सन्तान संख्या सम्बंधी कुछ नियम निर्धारित हैं और जिसे निश्चित ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। किंतु वह कहता है कि समाज के श्रेष्ठ विद्वानों की मति भी इन्द्रिय सुख से दूषित हुए बिना नहीं रहती। अतएव सन्तानोत्पत्ति के नियमों को ठीक तरह समझना उनके वश के गहरा होता है और इसी कारण उनकी भूल के फल स्वरूप जो बच्चे जन्म लेते हैं वे अपने माता पिता से बहुत घटिया हुआ करते हैं। जब ह्रास एक बार शुरू हो जाता है तो उसम बराबर बढ़ि ही होती है। इस प्रकार मानव समाज अपने जीवन के नियमों की नाममयी के कारण स्वयं क्षय का आह्वान करता है।

समाज और आत्मा के हाम की क्रमिक अवस्थाएँ

प्लेटो को किसी तरह यह सूझ पड़ा था कि मनुष्य-समाज एक छय म सजीव वस्तु है और उसके विकास तथा छय के कुछ अपने अलग नियम भी हैं। इस कथन को सिद्ध करने की कोशिश वह नहीं करता कि तु आज तक उसका यह मौलिक विचार ज्या का ल्यो बना हुआ है कि प्रत्येक जाति की प्राणगति के निर्वाह की कुछ अनुकूल तथा प्रतिकूल स्थितियाँ होती हैं जिनका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। बहुतेरे सोचा को अभी तक यह मान लेना स्वाभाविक लगता है कि राष्ट्र का प्रत्येक हास उमकी जीवनीगति क किसी अपयय से होता है। ऐमे नियम अवश्य हैं जिन पर इस जीवनीगति का अपध्यय अथवा उसकी स्थिरता आधारित है चाहे उन नियमों की खोज करना असम्भव ही क्यों न हो।

अतः समाज का अपनी आरम्भ दशा से गिर जाना दुर्निवार है। समाज के जिन थोछ रूपों को हम देखते हैं, वे भी मनुष्य स्वभाव के सर्वोच्च तथा निम्नतम लक्षणों से समन्वित के परिणाम हैं। थोछ महाजनतन्त्र के दोष जिन विशेष लक्षणों से प्रकट होते हैं? इसे जब आदम राज्य के मानदण्ड से परखते हैं तो इसके अन्तगत दोष दो, खास ढगों से प्रकट होते हैं—दासकत्व सम्पत्ति सञ्चय करने लगता है और निजी सम्पत्ति की सस्या पहला दोष है। सामित जनसमुदाय को शासक वग अपन अधीन और अपना दास समझन लगता है—यह दूसरा दुगुण है। पहले दोष के फलस्वरूप राज्य के शासक तथा शासित व हिता मे जो पूण अभेद रहना चाहिये उसका लोप हो जाता है। समवाय (जनसमूह) के विभिन्न वर्गों म जिस पूण सहयोग तथा आगान प्रदान का सम्बन्ध नितात आवश्यक है वह दूसरे दोष के कारण नष्ट हो जाता है। सामितजन दासकत्व वग को अपना रक्षक और प्राता मानें तथा शासकगण शासित जनसमूह को अपनी भौतिक आवश्यकताओं का दाता मानें। इसके विपरीत जहाँ समाज का विभाजन राजा और प्रजा दास तथा स्वामी मे हुआ, उमी छण परस्पर सेवा भाव और समान हित का सम्बन्ध समाज न जाता है।

प्लेटो इन तथ्यों के मनोवैज्ञानिक उद्गम का पता लगाता है। मनुष्य में स्थायित्व स्वभावतः प्रबल है जिसको छूट देने से ये परिणाम होते हैं और इस छूट से जाहिर है कि मनुष्य स्वभाव म विवेक नामक जो सर्वोपरि तत्त्व है उस पदच्युत कर दिया गया है। उसके स्थान पर मूर्खता राज्य करने लगती है जिसकी प्रेरणा से व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के बिना दूसरी बात नहीं सूझ पड़ती। महा जनतन्त्रीय मनुष्य का एवमान छय व्यक्तिगत उत्थय है अर्थात् अपन थोछ चिन्तन

प्लेटो की धारणा है कि किसी भी समाज के ह्रास का कारण उसके नासको म फट तथा उत्पातमूलक दलब दी है। जब तक उनके मन में मेल है तब तक समाज का विघटन असम्भव है। इतना तो ठीक है लेकिन सरस्वती देवी ही जान सकती है कि हमारे आदश राज्य में घूट और वमनस्य का आरम्भ किस क्षण होगा। प्लेटो इस तरह यग विनोद का घुट दवर तब गम्भीर बात करता है जब उस लगता है कि प्रस्तुत प्रश्न का वैज्ञानिक उत्तर देना सम्भव नहीं है। उस समय भी वह यही ढंग अपनाता है जब आत्मा की चरम भवितव्यता के सम्बन्ध में वह पुराण अथवा काव्य की भाषा का आश्रय लेता है। यहाँ वह कहता है हम यही समझ लें कि सरस्वती देवी हमारी हमी उड़ा रहा है माना हम अबोध शिशु हों और हम तीक्ष्ण यग्य के पान हों।

इस व्याख्यात्मक उत्तर का आधार यह नियम है कि अस्तित्व पाने के बाद प्रत्येक वस्तु का नाश अवश्यम्भावी है। अतएव मानव समाज चाहे जितना सुसंगठित हो उसका अस्तित्व विनाश से बच नहीं सकता। इस समाज के विनाश का क्या रूप होगा? इस प्रश्न में वह एक और सामान्य नियम का उल्लेख करता है जो समस्त जीवधारि अथवा आत्मा तथा दह के स्यामजनित प्रत्येक वस्तु को लागू होता है। समस्त सजीव वस्तुओं के लिए अपने स्वभाव के अनुसार पूरा निदिष्ट अवधि रहनी है जिस पर उनकी स तति क्रिया की क्षमता और शक्ति निर्भर हुआ करती है। बीच बीच में मनुष्य गहनतम आत्माओं की जीवनी क्षति क्षीण हो जाती है और पहले की अपेक्षा सन्तानोत्पत्ति का ह्रास होता है। यदि इस दुरावस्था काल में क्रुद्ध सन्तान हाती है तो उसमें जाति के हीन लक्षणा का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। तब समाज का ह्रास होना अनिवार्य है। प्लेटो सन्तान की किसी निश्चित संख्या का उल्लेख पहले के ढंग से करता है जो ऐसे संकट की अवधि की धोतक होती है। हम इस खास संख्या को महत्त्व देने के बचकर में नहीं पड़ें। इस परिच्छेद में प्लेटो अपने इस विश्वास को बताता है जिसके अनुसार सन्तान संख्या सम्बन्धी कुछ नियम निर्धारित हैं और जिन्हें निश्चित ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु वह कहता है कि समाज के श्रेष्ठ विद्वानों की मति भी इन्द्रिय सुग से दूषित हुए बिना नहीं रहती। अतएव सन्तानोत्पत्ति के नियमों को ठीक तरह समझना उनका बस के बाहर हाता है और इसी कारण उनकी भूल के पन स्वरूप जो बच्चे जन्म लेते हैं वे अपने माता पिता से बहुत घटिया हुआ करते हैं। जब ह्रास एक बार शुरू हो जाता है तो उसमें बराबर बढ़ि ही होती है। इस प्रकार मानव समाज अपने जीवन के नियमों की नामगंजा के कारण स्वयं क्षय का आह्वान करता है।

प्लेटो का किसी तरह यह मूल पड़ा था कि मनुष्य-समाज एक अथवा सजीव वस्तु है और उसके विकास तथा शय के कुछ अपने असंग नियम भी हैं। इस कथन को सिद्ध करने की वांछित वह नहीं करता किन्तु आज तब उसका यह मौलिक विचार ज्यों का त्यों बना हुआ है कि प्रत्येक जाति की प्राणशक्ति के निर्वाह की कुछ अनुकूल तथा प्रतिकूल स्थितियाँ होती हैं जिनका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। बहुततर तोगा का अभी तक यह मान लेना स्वाभाविक लगता है कि राष्ट्र का प्रत्येक ह्रास उसकी जीवनीशक्ति के किसी अपव्यय से होता है। ऐसे नियम अवश्य हैं जिन पर इस जीवनीशक्ति का अपव्यय अथवा उसकी स्थिरता आधारित है चाहे उन नियमों की गोज करना असम्भव ही क्यों न हो।

अतः समाज का अपनी आत्मा दगा से गिर जाना दुर्निवार है। समाज के जिन श्रेष्ठ रूपों को हम देखते हैं वे भी मनुष्य स्वभाव के सर्वोच्च तथा निम्नतम लक्षणों से समन्वित के परिणाम हैं। थोड़ा महाजनतन्त्र के शेष किन विशेष लक्षणों में प्रकट होते हैं? हम जब आदर्श राज्य का मानचित्र से देखते हैं तो इसके अन्तर्गत दोष दो, तास दोनों में प्रकट होते हैं। शासकवर्ग सम्पत्ति-संचय करने लगता है और निजी सम्पत्ति की सस्या पहला दोष है। शासित जनसमुदाय को नामक-वर्ग अपने अधीन और अपना दास समझने लगता है—यह दूसरा दुष्गुण है। पहले दोष का फलस्वरूप राज्य का शासक तथा शासित के हितों में जो पूर्ण अभेद रहना चाहिये उसका लोप हो जाता है। समवाय (जनसमूह) के विभिन्न वर्गों में जिस पूर्ण सहयोग तथा आशान प्रदान का सम्बन्ध गितान्त आवश्यक है, वह दूसरे दोष का कारण बन जाता है। धार्मिकजन नामकवर्ग को अपना रक्षक और आता मानें तथा नामकवर्ग शासित जनसमूह को अपनी भीतिक आवश्यकताओं का दाता मानें। इसका विपरीत जहाँ समाज का विभाजन राजा और प्रजा, दास तथा स्वामी में हुआ, उसी क्षण परम्पर से का भाव और समान हित का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है।

प्लेटो इन तथ्यों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का पता लगाता है। मनुष्य में स्वायत्तत्व स्वभावतः प्रकट है जिसको छुट देन से ये परिणाम होते हैं और हम छूट न जाहिर है कि मनुष्य स्वभाव में विवेक नामक जो सर्वोपरि तत्त्व है उसे पदच्युत कर दिया गया है। उसके स्थान पर यशस्विता राज्य करने लगती है जिसकी प्रेरणा से व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का बिना दूसरी ध्यान नहीं मूल पड़नी। मनु-जन-प्रभु मनुष्य का एकमात्र ध्येय व्यक्तिगत उत्थप है अर्थात् अपने श्रेष्ठ चिन्तन

क्षण म भी इस ढंग का मनुष्य केवल करने लाभ की बातों में डूबा रहता है। यशलिप्सा की इस प्रवृत्ति के अनेक लक्षण स्पार्टा के जन जीवन म मिलते थे जिन्हें प्लेटो बहुत कुछ ठीक समझता है। स्वत्वाधिकार का सम्मान ध्यायम तथा सनिक गिणन की ओर विशेष रूचि दासकर्म का सहभोज तथा व्यापार निषेध उनम से कुछ प्रमुख लक्षण हैं। लेकिन इनके कारण विवेक की इतनी अप्रतिष्ठा का गयी कि वह सनिक संगठन तथा ब्यूट्र का दास बना दिया गया। इसलिए विवेक स्वतः गुणहीन हो जाता है। आम लोग व मन मे विनम्र गुणसम्पन्न व्यक्तिया के प्रति एक साधारण सख्य दिखायी देता है। इससे सिद्ध होता है कि विवेक जब अपने परम ध्येय समवाय (जनमण्डल) के उत्कर्ष से पथभ्रष्ट हो जाता है तब उसकी सरलता और सन्निष्ठा लुप्त हो जाती है। और जब सर्वोच्च ध्येयतत्त्व को चोट पहुचती है तब समाज का समष्टिजीवन दुःखग्रस्त हो जाता है, भौतिक वस्तुआ की बुभुक्षाएँ आरंभ की प्रेरणाएँ बन जाती है क्योंकि निश्चित मर्यादा मे रहने के बजाय और जीवन की सहज जरूरतों का अवयव होने के स्थान पर वे स्वयं अपना प्रभुत्व जताने लगती है समाज उनके आधिपत्य का मानो स्वीकार कर लेता है। प्लेटो की दृष्टि म इसका प्रधान लक्षण तृष्णा है अथ लालुपता है जो कहने को जरूर इस समाज म वजित है पर आखिर गुराकर गुप्तरूप से वह प्रबल हो रही है। बुभुक्षा या भूख का उन्मूलन नहीं हो सकता और मनुष्य स्वभाव म निहित उन्नत वृत्तियाँ के परिष्कार म हम जितने असफल होंगे तुच्छ वस्तुएँ उतने ही वेग से प्रभावी होनी जायेंगी। इस तरह प्रतिष्ठा के निमल बहिरंग की जोड़ म सबसे घटिया गुण का विकास हुआ करता है। अस्तु न अपन युग की स्पार्टा समाज म भी वानूनी प्रतिष्ठ के विपरीत इस तृष्णा के गुप्त विकास का संकेत किया है। महाजनतन्त्रीय राज्य के वर्णन मे बताया है कि अथ लोभ की प्रवृत्ति बढ़ने वन्ते वह सामाजिक जीवन की प्रधान शक्ति बन जाती है। फलतः राज्य संस्थाओं की इसी के अनुसार अपना तौर-सरोकार बदलना पड़ता है जिसके कारण राजनीतिक सत्ता विवश होकर सम्पत्ति पर निर्भर हो जाती है।

यही प्रक्रिया महाजनतन्त्रात्मक व्यक्ति के जीवन म गुरु हो जाती है। खास तरह के महातन्त्रीय व्यक्ति को सज्जन अर्थात् दशवक्त्र का पुनर्बताया गया है। एम राज्य म श्रेष्ठ पुरुषों को सावजनिक जीवन से निकाल दिया जाता है और सभी सावजनिक काम स्वार्थी और सदाचारहीन लोग के हाथ म चला जाता है। प्रभावलिप्सा के कारण वह अपने पिता के रणदण से घृणा करने लगता है और जन सेवा के धंधे से जाँच मूदकर डुबकी लगाता है। कुछ देर तक बचे

सुखे क्षील के प्रभाव में वह ठीक तरह चलता है लेकिन यह बलि बहुत जल्दी पुरानी पड़ने लगती है निबल हा जाती है, विवेक भी इसका समयन नहीं कर पाता । मनीजा यह हाता है कि वह बहुत थोड़े समय बाद दुराग्रह में बदल जाती है । तीन वं वंघन को ताढ़कर सृष्णा निखज्ज बन जाती है और अंत में घन लोलुपता नगरूप में नाचने लगती है । ममा तभी होता है जब मनुष्य के जीवन में सदाचार को नित्य सुरक्षित रखावाल समीठात्मक विवेकतत्त्व की उपेक्षा की जाती है ।

प्लेटो ने 'लाज' (Laps) के एक परिच्छेद में स्पार्टा की जीवन विद्या पर अपनी मम्मति अरित की है । वह बतनाता है कि स्पार्टा जाति जिस आत्म नियंत्रण पर बड़ा गव करती थी, वह सरट तथा मोठा की स्थिति के बजाय विषयभोग के प्रलोननों से घूँव में मिल जाती थी क्योंकि वह विषय-सुख की श्रुती का अम्मास नहीं था । अररतू के समान प्लेटो भी स्पार्टा व एक गुण पर आसक्त था । ग्रीस में केवल स्पार्टा जाति ही ऐसी थी जिमने सोच-समझकर जीवन का एक मिद्धात अपनाया था और उसे अपने आचरण में उतारा था । उक्त दोनों लेखक निदिधत प्रकार की निगा के प्रति उसकी तत्परता व्यवस्था तथा अनु शासन के प्रति उसकी आस्था नया दगव पतस्वरूप समाजतंत्र में व्यक्ति के अतलय की सराहना करते हैं । किन्तु इन दोनों विद्वानों की सूक्ष्मदृष्टि में स्पार्टा का जीवन तथा उसके समाजतंत्र के उद्देश्य अत्यंत सवीण थे ।

मनुष्य स्वभाव का तीमरा तत्त्व भृगु या युमुषा है । जब स्फूर्तिमूलक प्रेरणा इस प्रयत्न बनने का अवसर देती है तब मनुष्य जीवनक्रिया पर यह हावी हो जाती है और धनलिप्सा उगवा नितांत शिष्ट रूप है ।

उच्चकुलतंत्र के सम्बन्ध में प्लेटो का धारणा यह है कि वह जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं के लिए युमुषाया का आधिपत्य है । यदि इन युमुषाया को स्वाधीन रखा जाय तो वे हितकारी हो जाती हैं । वह सविधान का ऐसा रूप है जिसमें सम्पत्ति का सुखे तीर से जीवनोद्देश्य माना जाता है जो जीवन धारण का त्वन्नेष्ठ अभिप्राय है और जिस पाने के कारण एक आदमी दूसरे से बहतर बन जाता है । राज्य में अल्पम्य मनुष्य जिस चीज को जीवन का परम सत्य मान लेत हैं, उसकी अभिव्यक्ति और मायता वह राजनीतिक सविधान है जिसमें धनिकवग का राजनीतिक सत्ता मिलती है । इस प्रकार के सविधान को स्वीकार कर नन के जो अरथमिक महत्त्वपूर्ण साम रूप के परिणाम हात हैं, अब उनका

वर्णन किया जाता है पहले राज्य की एकता अधिक धिन्न भिन्न हो जाती है क्योंकि समवाय (जनमण्डल) के सुख सन्तोष का ध्यान रखकर प्रत्येक वर्ग जब तक अपने निश्चित उत्तम का पालन करता है तब तक ही एकता रहता है। इस प्रकार के सन्निधान का फल यह होता है कि दो वस्तियाँ या पुर धन जान हैं। एक म धनिक समाज रहता है और दूसरा निधनो का पुर रहता है। कस सम्भव है कि समान हिता की चिन्ता का सूत्र हट बना रहे जबकि परस्पर विरोधी हिता से एक समवाय के दो खण्ड हो जाते हैं। दूसरे राज्य की आन्तरिक एकता जैसे-जैसे क्षीण होती है, उसकी शक्ति में क्षिणिलता बढ़ती जाती है। धनिकवर्ग सोचता है कि निधन जनसमूह को शस्त्रादि देना उसके लिए सकट प्रद हो जायगा, धनिकवर्ग स्वयं उत्तरोत्तर सैनिक योग्यता को खोने लगता है क्योंकि दरिद्रवर्ग से निभय हो जाने पर सैनिक कुशलता तथा सजगता की ओर पहले जैसा ध्यान देना जरूरी नहीं समझा जाता। शारीरिक ह्रास भी इसी से शुरू हो जाता है। तीसरे सम्पत्ति लाभ की वृद्धि के साथ साथ अपनेआप धन का अपभ्यस्य बराबर बढ़ता जाता है। ऐसे कानून बनाये जाते हैं जो सम्पन्न अभिजात समुदाय को ही लाभ पहुँचाते हैं और सम्पत्ति के अधिकार से निधन को वंचित करने के रास्ते निकलने रहने हैं। इस सम्पत्तिवान-वर्ग के बाहर ऐसी दरिद्रता रहती है जो लगातार कमाली के कारण खतरनाक चरित्रहीन समुदाय को बनावा देती है और इस दरिद्रवर्ग में उझाऊ खाऊ आदतों के बिगड़े रईसा के जुड़ते रहने से उसकी आबादी बराबर बढ़ती जाती है। इस खतरनाक जमात पर काबू रखने के लिए जबरदस्ती दमन करने की जरूरत होती है तबिन कोई सामन्य बल प्रयोग के भरोसे बहुत समय तक टिक नहीं पाता।

इस वर्णन में उच्चकुलतन्त्रीय मनुष्य का जो साका मिलता है उसमें हम ग्रीक जीवन की खास तसवीर देख सकते हैं। जो लोग राजनीतिक प्रतिष्ठा के अभिलाषा होते हैं उनके विरुद्ध ईर्ष्यापूर्ण आरोपों का अभियान निरन्तर चलता है और इसी के कारण वे बर्बाद हो जाते हैं। नतीजा यह होता है कि चरित्रवान जनसमूह सावजनिक कायस्थ से ऊँचकर उस तिलाजलि देने लगते हैं। इन कड़ुवे अनुभवों के बाद उनकी दृष्टि सन्तुष्ट हो जाती है और वे उद्योग धर्म की ओर मुड़ जाते हैं। विवेक की फिर अप्रतिष्ठा होती है और वह धन कमाने के हलके काम का जरिया बन जाता है और तब मनस्वी व्यक्ति को सम्पत्ति तथा सम्पन्न जनसमूह की भक्ति का बरबस अभ्यास करना पड़ता है। इससे शिक्षा की उपेक्षा का एक सिलसिला शुरू होता है जिससे कमश चरित्र नीचे ही नीचे गिरता जाता

है। उच्चकुलतन्त्रीय मनुष्य के बाहरी जीवन में गिप्टता, अवस्था तथा प्रतिष्ठा दिवायी देती है परन्तु धन की कमी व वृथवापनी भ्रम के कारण अभी तक दबी हुई दूसरी तन्त्रालु बुभुक्षाएँ अपने मुँह खोलना शुरू कर देती हैं। राज्य में धनिकवर्ग जिस प्रकार निधना को ठीक राह बताने के बजाय उह दबाकर रखन में लगे रहते हैं। इसी तरह 'यक्ति' के भीतर घालोलुपता इनकी प्रलवती हो जाती है कि वह चरित्र की दूसरी सद्वृत्तियों का उपयोग करने के बजाय उह जकड़ देती है और इसीलिए उसके अन्तर्गत में वैद वृत्तियाँ एक होकर उपद्रवी तत्त्व का रूप धारण कर लेती हैं। अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का सदुपयोग करने में अयोग्य होने के कारण राज्य के समान मनुष्य भी बग़ावर निर्बीय होता जाता है।

प्रजानन्द के उद्भव का विवरण दत्त हुए प्लेटो उन सिद्धान्तों का अधिक स्पष्ट उल्लेख करता है जिनको वह मनुष्य जीवन के क्रमिक ह्रास का मूल कारण समझता है। सबसे पहले जीवन के ध्येय या सन्तान के स्वरूप में धीरे धीरे परिवर्तन होना लगता है जो इस ह्रास के लक्षणों का संकेत करता है। दूसरे, जब मनुष्य को किसी वस्तु की भूख लगती है तो वह भूख दिनान्तिन प्रबल होती है जब तक उसकी आत्मा तन्त्रिक रचना में कोई इसमें प्रबल गति में नियन्त्रित करनेवाला न हो। मनुष्य का हागक्रम भी इसी सिद्धान्त का अनुगामी है। ह्रास के हर अंग ने कदम पर उसके जीवन का सर्व इस भूख के पैर में चला जाना है। उच्चकुलतन्त्र का जो निश्चित लक्ष्य माना जाता है और जिसकी अतृप्त भूख को उसमें बढ़ावा मिलना है उसी में प्रजानन्द के उद्भव का मनोवैज्ञानिक प्रयोजन निहित है। सम्पत्ति ही प्रत्येक काय का उद्देश्य होता है। कानून बनाते समय उसमें धनोलुपता को सुलतौर पर मायता दी जाती है क्योंकि राज्य के सत्ताधारी जब इस अपने जीवन का प्रमुख सिद्धान्त मानते हैं। अतः में यही अवगृह्य का सिद्धान्त उच्चकुलतन्त्र के विध्वंस का कारण होता है। व्यक्तियों को सम्पत्ति-समृद्ध के साथ का सुभौता देने में इस तन्त्र के कानून अमल में रहते हैं और इसीलिए यह तन्त्र नष्ट हो जाता है। प्लेटो ने जो ही तरीके बताये हैं जो इस सम्पत्ति समृद्ध का रोक मकर हैं। पहला निजी सम्पत्ति का दूसरे लोग द्वारा हविमान पर वर्जित विमल अल्पमह्यक सम्पन्न व्यक्तियों को अधिक से अधिक सम्पत्ति-ग्रहण में वर्जित किया जा सके। दूसरा वज्र वस्तुओं के कानूनों को रद्द करना जिसमें पित्रूलगर्भों जमात की वर्गों की राकी जा सके। परन्तु उच्चकुलतन्त्र में इनमें से एक भी कानूनी कायवाही नहीं की जाती क्योंकि हम राज्य के प्रमुख सत्ताधारी अपने वर्ग के अधिराधिक लोग का सम्पत्ति को कानूनों तर्जिने में या उनकी सुमीवन में महायना के बहाने शपटन का घात लगाये

रहते हैं। धनतृष्णा के कारण इस तंत्र के शासकगण निस्तेज और अशक्त हो जाने हैं जनता इनकी कमजोरी पहचान लेती है। फलतः उच्चकुलतंत्र का तहता उलट जाता है। इन तृष्णालु शासकों को हटाने में विदेशी महायता अथवा इन्हीं के आपसी चगड़ा का उपयोग किया जाता है। इस तरह प्रजातंत्र का श्रीगणेश होता है।

प्लेटो के ढंग का प्रजातंत्र वह है जिसमें अरस्तू सम्पूर्ण या शुद्ध प्रजातंत्र समझता था। उसके दो आधारभूत सिद्धांत हैं—स्वतंत्रता तथा समानता। मनचाहा करने की प्रत्येक व्यक्ति को छूट, स्वतंत्रता है और हर आदमी हर तरह से दूसरे के बराबर है—यह समानता है। प्रजातंत्र के संविधान के यही दो प्रबल सिद्धांत हैं। ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट होता है कि इन सिद्धांतों पर आधारित संविधान समाज रचना के आदिम सिद्धांत का गुरो तरह उत्सर्जन करता है। उस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है और उसे वही काम करना चाहिये जिसकी योग्यता उसमें है। इसके अतिरिक्त यह कुछ नहीं कर सकता। इसकी उपेक्षा करने प्रजातंत्र समान तथा असमान योग्यता के व्यक्तियों को समानता का भार सौंपता है। सारांश प्रजातंत्र को प्लेटो जिस ढंग से समझता था उसके अनुसार प्रजातंत्र पर यह आरोप है। शासन के विरुद्ध यह आरोप अत्यंत कठोरता से लगाया गया है। प्रजातंत्र का विश्वास है कि किसी भी व्यक्ति के विशिष्ट प्रकार से शासन की योग्यता प्राप्त करने या उसके योग्य बनने की कतई जरूरत नहीं है।

प्रजातंत्र के अनुरूप मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में वही लक्षण प्रबल रूप से प्रकट होते हैं जिनका वर्णन अभी किया गया है और जिनके प्रति जनता समय-समय करती है। इसलिए प्रजातंत्र का स्वरूप भी उसके चरित्र के ढंग पर बनता है। प्रजातंत्र की मनोवैज्ञानिक नींव है। साधारणजनता में एक नयी भूल का उदय होता है जिसका स्वरूप प्रजातंत्र में दिखायी देने लगता है। उच्चकुलतंत्र में जीवन की अनियाय मांगों को अत्यंत समर्थित, प्रतिष्ठित तथा एकाग्रता से आधिपत्य करने का अवसर मिलता है। प्रजातंत्रीय मनुष्य को कोई निश्चित भूख नहीं उभरती बल्कि भूख का व्यापक रूप शासक पर सवार हो जाता है। प्रजातन्त्रात्मक राज्य के समान प्रजातंत्रीय मनुष्य निश्चित सिद्धांत के अभाव को ही सिद्धांत मान बैठता है। इस तंत्र के अनुरूप मनुष्य को उच्चकुलतंत्रीय व्यक्ति से भिन्न बताने के लिए प्लेटो आत्मा के बुभुक्षात्मक तत्त्व का विभाजन करता है। बुभुक्षा के दो प्रधान ढंग हैं आवश्यक तथा अनावश्यक। आवश्यक बुभुक्षा वे है जिन्हें त्यागा नहीं जा सकता और जिनका संतोष समष्टि मनुष्य के लिए हितावह है। अनावश्यक बुभुक्षाएँ शिक्षा तथा अभ्यास के पक्षस्वरूप त्यागी जा सकती हैं। इनकी पूर्ति

समाज और आत्मा के ह्रास की क्रमिक अवस्थाएँ

से किसी प्रकार का हित नहीं होता। आवश्यक बुभुक्षाओं को घनाजन की बुभुक्षा भी कहा जा सकता है क्योंकि इनके कारण उपयोगी वस्तु की वृद्धि होती है। अना-वश्यक बुभुक्षा को व्ययशील बुभुक्षा कह सकते हैं क्योंकि उनसे किसी वस्तु का उत्पादन नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्न की बुभुक्षा जब तक शरीर के लिए हितकारी है तब तक वह उपयोगी और आवश्यक है। उससे शरीर में बल का निमाण होता है। मर्यादा के पर अन्न की भूष अनावश्यक तथा निर्माणहीन हो जाती है। प्रजातन्त्र के अनुरूप विशेष सक्षणयुक्त मनुष्य वास्तव में उच्चकुलन-प्रात्मक-प्रति-की-सन्मान है जिसमें निर्माणात्मक इच्छाएँ ही प्रबल होती हैं। उनके लालन-पालन में पिता का कोई लाभ नहीं मिलता और वह प्रचलित शक्तों के अनुयायी तथा दुराचारी समाज में पट्टक जाता है। अपने विवेक व पापण की कोई सामग्री उमरे पास नहीं रहती। इसलिए उसकी बुभुक्षाओं को मूलबद्ध करने में वह सबया निरु-पाय हुआ करता है। ऐसी दशा में वह बहुमुखी और विचित्र प्रकार की बुभुक्षाएँ ग्रहण करती हैं। फिर भी उनके दो वग नियम जा सकते हैं। कुछ ऐसी बुभुक्षाएँ होती हैं जिन पर तकवृद्धि के अकुश का थोड़ा सा प्रभाव बना रहता है और य कुछ गुण में जनन बुभुक्षाओं पर नियन्त्रण रक्त पानी है। इन बलगाम बुभुक्षाओं को मनुष्य के परिवार की परम्पराएँ बनावा देती हैं। शत्रु जब तक सम्मत बुभुक्षाओं का नियन्त्रण, मनुष्य की आंतरिक विवेकशक्ति का सहयोग नहीं पाता तब तनुषक बुभुक्षाएँ जा अभी तक कावू में थी, बाहरी दबाव के हटते ही नये नये अकुर के रूप में फूट पड़ती हैं। ऐसे मनुष्य के विवेकगूँय मस्तिष्क पर नकरी विवेक हावी हो पाता है। झूठे सिद्धांत उसकी ऊपर बुभुक्षाओं के सपाय सन्नि-वटा बराग्य का रूप धारण करते हैं जिससे तथाकथित ननिकता के मिथ्या ज्ञान की बलई खुल जाती है। यह दीशासस्कार की अवस्था है जिसमें पहचान आत्मा भ्रमजाल से मुक्त होती और अनक वस्तुओं का सही रूप को पहचान लेने में समर्थ होकर उन्हें यथाय नाम स सम्बोधित करती है। उदाहरणार्थ सज्जाभाव को उसका सही नाम बाधरता दिया जाता है। इस अवस्था को पारकर आत्मा स्वच्छ द हो जाती है अथवा मनमानी करने की छूट पा जाती है जिस दूसरे शब्दों में अराजकता कहते हैं। ऐसी जीवन की प्रवृत्ति अतत एक प्रधान आवेग को निरन्तर बना देती है जो निरकुण प्रजापीडन कहलाता है। लेकिन यदि भाग्य अनुकूल हुआ तो आयु वयन पर इस बलक का आदमी अपनी बुभुक्षाओं में एक प्रकार के सामग्र्य या समझौते की दशा में पट्टक जाता है और तब वह जसा मौका-बसा वर्तव्य को अपना सिद्धान्त मान लेता है। अच्छे या बुर के भेद में कोई मार नहीं है—यह उमरा

विश्वास बन जाता है फिर तो हर तालसा को अपने भाग्य का खेल समझकर वह उसी में खप जाता है। सत्ता और यभिचार दशन क्रीडा, आलस्य, राजनीति युद्ध बागी बारी से उसे फँसते रहते हैं। और मजा यह है कि इसे वह अपने स्वभाव का स्वतंत्र विश्वास मानता है। प्रजातन्त्रात्मक राज्य में इस ढंग का मनुष्य माधारणतः प्रशंसा और स्पर्धा का पान बन जाता है।

जिस तरह उच्चकुलतन्त्र से प्रजातन्त्र का आविर्भाव हुआ, उसी प्रकार प्रजातन्त्र से निरकुशता का सिद्धांत का जन्म होता है। प्रजातन्त्र जिस नियन्त्रणरहित स्वतन्त्रता को मायता देता है उसका मनमाने उपयोग का फल निरकुश शासन है। वैसे तो हर बुभुक्षा अवृत्त होती है। स्वतन्त्रता का उपभोग की जो प्रजातन्त्रात्मक अभिलाषा है स्वभावतः वह दिनदूनी रातचोगुनी होती जाती है अगर उस पर नियन्त्रण न रखा जाय। प्रजातन्त्र का उग्र प्रकार में जिन विचित्र सस्थाओं को अपनाया जाता है उनका प्रादुर्भाव इसी स्वच्छाचारिता से होता है। यह प्रवृत्ति दूतनी बलवती होती जाती है कि साधारण जन नाशुकमिजाज हो जाते हैं और इस मामले में रत्तीभर बर्घन सहन नहीं कर सकते। प्लेटो का मत है कि प्रति क्रिया सिद्धांत के अनुसार मामल और जीवधारी की शारीरिक दशाओं में परिवर्तन हुआ करते हैं। राजनातिक समबाय के इतिहास में इसी तरह प्रतिक्रियात्मक प्रभाव धीरे पड़ता है जिसके अनुसार एक दिशा में असमय होने पर उसकी प्रतिक्रिया अनित असमय बिल्कुल विपरीत दिशा में भी प्रकट होता है। इसी प्रकार प्रजातन्त्रात्मक राज्य में निरकुश स्वच्छादता से अमर्यादित शासक्य का जन्म होता है। प्लेटो इस खास तरह की क्रांति का वर्णन करते हुए प्रजातन्त्रात्मक राज्य के तीन खण्डों का संकेत करता है। उन उडाऊ खाऊ बिगड़ रईसों और धन के सट्टे बाज लोगो का एक गिरोह बन जाता है जो उच्चकुलतन्त्र में पनपा था परंतु प्रजातन्त्र राज्य में वही सिरमौर बन जाता है और उसी की तूनी खोलती है। दूसरा वर्ग वह है जिसमें शासकभाव से धन कमाने का सिलसिला बनाय रखनेवाले लोग होते हैं और जिनका धन पर समाज के परोपयोगी व्यक्ति मौज करते हैं। तीसरे वर्ग में उन व्यक्तियों को गिना जाता है जो परिश्रम करके जीवनयापन करते हैं। सद्धातिक दृष्टि से इसी जन समुदाय को शासकवर्ग कहा जाता है क्योंकि इही का वोट की सहायता सबसे बड़ी होती है। परंतु ये लोग सावजनिक कार्यों में तभी तब बग़ावर दिलचस्पी रखकर भाग लेते हैं जब तक इन्हें इस कार्य के लिए पैसा दिया जाता है। नतीजा यह होता है कि जिस राजनीतिक सट्टेबाज या दुस्ताहसी जनसमुदाय की पैठ राज्य में हो जाती है वह धनिका से रूपया ऐंठकर इस बहुमन

समाज और आत्मा के हानि की क्रमिक अवस्थाएँ

नागरिक समूह की तरीदा करता है। नागरिक धनिकचय का घय दृष्ट जाना है और वह इन मौकापरमत्त लोग की लूट को रोकने का उपाय करता है। प्रतिक्रिया यह होती है कि धनिकचय के विरुद्ध भयंकर प्रचार शुरू किया जाता है और उद्योगिकता के पिछड़े बताकर उह राजद्रोह के घड्यत्रकारी सिद्ध करने की कोशिश होने लगती है। जब यह उद्योगिकता कापी बन जाती है तो सबसे अधम और निलज्ज राजनीतिक अवसरवादी मैदान में गड़े होकर जनता की मित्रता का ढोल बजाते हैं और प्रजापति के समक्षेष्ट रक्षाक हाथ का नावा करता हैं। इस तिलमिले में यह नरायण राजनीति अपने किसी धनिक विरोधी का एकाबार छूत कर डालता है जिससे फलस्वरूप उससे भीभाग्य की घटी का निणय हो जाता है और जनता का यह प्राता निरकुण शासक बन बटता है। फिर तो यह आपा गो बैठता है और उससे छूती हाथ बराबर हत्या की ओर बढ़ते जाने हैं। वह प्रचार करता है कि 'राज्य का शत्रु उसने प्राण का भूने हैं और इसी बहाने जनता को मजबूरन राजी करने वह अंगरक्षकों की नियुक्ति करता है। जहाँ सशस्त्र शक्ति उसके इशारे पर आगापानन करता लगी उस निरकुण शासक की सत्ता मिल जाती है। तब सत्तापद की जहरता और अनेक प्रकार के भय से बाध्य होकर वह अत्याचार के छोटे-छोटे कामों में रात दिन लगा रहता है और समझता है कि इसी ढंग से उसका सत्ताधिकार स्थायी होगा।

जो छोटी व्यक्तिगत चरित्र में क्रूर अत्याचारी स्वरूप के उदभव को समझाने की दृष्टि में आत्मा के बुभुक्षात्मक तत्त्वा का फिर विभाजन करता है। अनावश्यक बुभुक्षाओं में बुद्ध बिलकुल हिंसक जगती जानवर के अनुरूप अनियन्त्रित हुआ करती हैं। परम सपनी मनुष्या में भी इनका निवास रहता है परन्तु वे इसे अपने वश में रखा करते हैं अथवा केवल स्वप्न में इनको प्रकट होने का मौका मिलता है क्योंकि तब आत्मा विवेक की मर्यादा से मुक्त हो जाती है। इन्हें बनीभूत नहीं किया जा सकता। जीवन के सद्बध्य में बहुतेरी दृष्टाएँ उपयोगी बनायी जा सकती हैं परन्तु इन पर किसी का वश नहीं चलता। अत्याचारी निरकुण मनुष्य वह है जो एकांत प्रवल बुभुक्षा का कीतदास होता है और वही क्रूरनामक का वास्तविक भीषण रूप हुआ करता है। प्रजातंत्रानुयायी मनुष्य से यह व्यक्ति बिलकुल निराश होता है। प्रजातंत्रात्मक पुष्प घीरे घीरे अपनी आत्मिक एकता को खोजता है किन्तु फिर भी उसका विभिन्न दृष्टाओं में बचा चुका साम्य या सत्तुलन रहता है जितनी दूर तक यह सत्तुलन बरकरार है वह प्रजातंत्रीय भावना का सिद्धांत करता है और सिद्धांतहीन सिद्धांत की शिदधी बिताता है। परन्तु यह

देर तक नहीं दिक्ता । पहले तो कुछ बुभुक्षा की तृप्ति की तड़प होती है और बहुत जल्दी केवल एक भूख सबसे प्रबल होकर अपना आधिपत्य बना लेती है । ज्योंही किसी एक भूख का जातक बना वह बढ़ता ही जाता है और राज्य के निरकुश शासक के समान अपना प्रभुत्व विस्तार करके व्यक्ति का सम्पूर्ण चरित्र अपने पेट में रख लेता है । एकांत पाशबी वासना की चंगुल में फसा मनुष्य उसकी पूर्ति के लिए कौन सा पाप नहीं कर सकता ? यदि राज्य में इस वनक के लोग थोड़ी सख्या में रहेंगे तो पापकर्मिया का समूह छाटा ही होगा । किंतु जब यह उच्छ खल चरित्र सहज साधारण रूप धारण कर नेता है तो सर्वोपरि अत्याचारपटु मनुष्य जो एकांत प्रबलतम वासना के अधीन होगा, वही राज्य का क्रूरतम शासक बनगा ।

○ ○

न्यायनिष्ठ तथा अन्यायी जीवन की तुलना

अभी तब युटिपूर्ण राज्य-पद्धतियाँ और जीवन के सदोप व्यक्तिगत नमूना का वर्णन किया जा चुका है। इस क्रम के अंत में आगामी राज्य के संस्था विपरीत नष्टनाशकारी राज्य का स्वरूप प्रकट हुआ है। इसी तरह 'मायोचित' जीवन के बिलकुल विरुद्ध जीवन का नमूना भी दर्शन का विषय है। प्लेटो इन जीवन स्थितियों का मुख्य मूल्य तोय की चर्चा करके बताना चाहता है कि अन्यायपूर्ण मनुष्य का प्रतिद्वंद्वी 'न्यायनिष्ठ' पुष्प होता है। इसके आचरण का मिलान उसने तीन तरह से किया है और यही विभिन्न दृष्टिकोण ओलम्पिक प्रतिद्वन्द्विता के समरूप हैं। इस प्रसंग में ग्लाउन अन्याय की चर्चा करते हुए विजयी पक्ष की घोषणा करने का माध्यम बताया जाता है। अंतर् द्वितीय अध्याय में जिन विवादविद्वा का आरम्भ हुआ था, उसका विधिवत समाधान यहाँ हो जाता है।

आगे जो चर्चा है वह असंतोषजनक है। साधारणतः चेतना की विभिन्न अवस्थाओं के परस्पर-सम्बन्धों का प्रतिपादन सदैव असंतोषकारक ही रहेगा। कोई व्यक्ति यह सिद्ध नहीं कर सकता कि मेरा जीवन अथवा मेरे जीवन के सुख का स्वरूप दूसरे की अपेक्षा अधिक अनुकरणीय है क्योंकि हर आदमी अपने सुख का ठीक निर्णायक स्वयं वही है। किन्तु यदि प्रस्तुत चर्चा के समान विवाद आरम्भ होने के पूर्व ही, विवादी व्यक्ति विचारणीय प्रश्न पर नियंत्रण कर चुका हो तो हम इतना ही कर सकते हैं कि उसके नियंत्रण के आधारभूत सिद्धांत की परख करें और गुणदोष विवेचन प्रक्रिया के जो नियम उसने अपनाये हैं, उन्हें जानें। प्लेटो ने इन विभिन्न जीवन-पद्धतियों में तुलना करने के लिए जो सिद्धांत स्थिर किया है उसी से यह चर्चा आरम्भ करना है। यह तुलना मनुष्य के बटि रंग की नहीं बल्कि उसके अंतरंग जीवन की मूल्य परीक्षा पर आधारित होगी

जिसके अनुसार समार के समझ अपनेआपको प्रदर्शित करनेवाले स्वरूप के बजाय हम उसके नग्न, अनावृत रूप को देखेंगे। प्लेटो की पद्धति का अनुसरण करके कह तो हम समष्टि मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर विचार करेंगे।

(१) सबसे पहले वह सुन म गोप के प्रमुख रूपांशों में से तीन का चुनता है स्वतन्त्रता सम्पत्ति तथा भय निवृत्ति। प्रजातांत्रिक उच्चकुलतन्त्रात्मक तथा महाजनतन्त्रीय लक्षणयुक्त मनुष्य जिन जीवन दृष्टियों की पूर्ति के लिए प्रयत्नवान् होते हैं उनका समाधान इन तीनों से हो जाता है। इस चर्चा में अलिप्त किसी बुद्धिमान और निष्पक्ष व्यक्ति की हेतुसिद्धि से प्लेटो यह प्रश्न रखता है यथायत स्वतन्त्रता कौन है यथायत सम्पत्ति कौन है और यथायत भय कौन है—परम धार्मिक अथवा निष्ठा जयानी? इस परिच्छेद का सबसे महत्वपूर्ण विषय स्वतन्त्रता की कल्पना है जो इस प्रश्न का मूल में है। वेशक यह कहना सरल है कि स्वेच्छाचारी मनुष्य परम स्वतन्त्र है क्योंकि वह जो चाहे ठीक वही कर सकता है। अगर परिस्थिति उसे पूरी तरह से बंधे चढ़ने का मौका देती है और वह अत्याचारी शासक हो जाता है तो वह स्वयंभूत मर्यादातिमान तथा निरकुश होना है। इसके विपरीत प्लेटो का दावा है कि ऐसा मनुष्य गुद गुलाम है क्योंकि अगर उसके समूचे अंतरंग को देखो तो विदित होगा कि दूसरे सभी मनुष्यों की अपेक्षा जो वह चाहता है उसका शतांश भी उसे सुलभ नहीं है। इच्छानुबल स्वतन्त्रता की कल्पना का यह सीधासादा वस्तुस्थिति है जो चाहे उसे करना स्वतन्त्रता है। परम स्वतन्त्र मनुष्य जो चाहता है उसे सर्वाधिक कर लेता है और इसका भावाध यह है कि जो वह चाहता है उसे वह सम्पूर्ण मनोयोगपूर्वक करता है। स्वेच्छाचारी मनुष्य का सम्पूर्ण अंतरंग अघर मल्लत्कता रहता है क्योंकि मनुष्य स्वभाव के कुछ अंश या विलग अंश ने उनका शेष सम्पूर्ण स्वत्व को दास बना लिया है। 'गार्जियस' (Gorgias) में प्लेटो दृढतापूर्वक यह विस्वास प्रकट करता है कि अत्याचारी शासक अपने मन का या मनोवांछित कोई काम नहीं कर पाता। 'मनो वांछित काम का यहाँ आशय यह है कि वह काम जिसे सचमुच वांछनीय कहा जा सके। यथायत वांछनीय वह है जो आत्मतत्त्व वांछनीय समझें और आत्म तत्त्व का अर्थ है समष्टि मनुष्य। प्लेटो तथा अरस्तू के निनिर्देशन में एक व्यवस्था की निश्चित कल्पना का अंतःसूत्र है जो पार्थिव ही नहीं प्रत्युत नतिक जगत् को पिरोता है। यदि हम अपनी मूलप्रकृति के सन्तोष में रुचि रखने हैं अथवा यदि हम अपने परम उत्कर्ष के अभिलाषी हैं तो हम उक्त व्यवस्था का अनुशीलन करना चाहिए। इसीसे जुड़ा हुआ यह विचार भी ध्यान में रखना होगा कि

उत्तम स्वभाव एक ढंग से अधम स्वभाव के सत्य की प्रतीति है जिसे या भी कहा जा सकता है कि अधम प्रकृति अपने ध्येय की पूर्ति उत्तम प्रकृति के परितोष में मानती है। जो शुद्ध है वह महान् बनने की लालसा के चरमबिंदु पर पहुँचकर जिस सत्य में परिणत हो जाता है, वही उत्तम है। तदनुसार स्वतंत्रता अथवा मनोवांछित कार्य करना किसी भी या प्रत्येक इच्छा को न तुष्ट करने की शक्ति नहीं है अपितु उन इच्छाओं की पूर्ति करनेवाली शक्ति है जिसमें ममष्टि व्यक्ति या आत्मतत्त्व का परितोष निहित है।

इस परिच्छेद में आगे सूच्य धन की कल्पना का उत्पन्न किया गया है जो 'यूटोस्मैण्ट' के सम्पत्ति विषयक विचार के समरूप है और जिस तीमर आशय में पहले बनाया जा चुका है। उस प्रसंग में ध्येय इस पक्ष में नहीं है कि अभिभावक धन और भूमि से सम्पन्न हो। तक यह है कि यदि वे अपने पद के अनुसृत्य आचरण करेंगे तो उनका सदैव साम्प्रतिक सम्पत्ति का लान मिलता रहेगा। उनके विपरीत स्वेच्छाचारी व्यक्ति सरामर दरिद्री होता है क्योंकि वह हमेशा अभाव महसूस करता है और कभी उस तोष नहीं मिनता, उसमें पूर्ण होने की सामर्थ्य ही नहीं होती। इसका अलावा, ऐसी व्यक्ति की आत्मा निरन्तर किसी न किसी भय से प्रस्त रहती है अथवा एक पक्ष भी उगाव भाग्य में नहीं लिखा।

तो स्वेच्छाचारी आत्मा बाल अभिलाषाओं की बस्ती होती है। इस आदेश दुःख की पूरी उपलब्धि करने के लिए स्वेच्छाचारी व्यक्ति के स्वभाव की चरम परिणति परिपूर्ण अत्याचारी शासक बनने में है। जिस प्रकार दानव अपने समग्र चरित्र की उपलब्धि तभी करता है जब उनके लिए अनुकूल राज्य का संपादन मिल जाय स्वेच्छाचारा मनुष्य का भी यही हाल है। कबन उभी समय उनके नागरिकी दुःखों का सुखकर प्रवृत्त हान का अवसर मिलना है जब वह समवाय (जनमण्डल) का शासक बनता है और तभी परम एकाकी के चरम दुःख की चाटी पर वह विराजमान होता है। सुख समृद्धि की आदेश स्थिति वही है जहाँ मनुष्य अपने यशु बापवा से पूर्ण सहचारीभाव की अनुभूति कर सक। अत्याचारा सामक स्वजना से सबथा विच्छिन्न हो जाता है। इतना ही नहीं स्वतंत्र और गतिमान दीपान पर भी वह निरन्तर भय की चपेट में पड़ा रहता है।

२ पापनिष्ठ तथा अयायी की तुलना के दूसरे भाग में यह प्रश्न है कि इन विभिन्न जीवन दशाओं का मिलान प्रसन्नता की दृष्टि से किस प्रकार किया जा सकता है? प्लेटो ने इस विचार की ध्यानयोग मनोविज्ञान के ढंग पर की है जिसमें आत्मा विषयक उसकी कल्पना सुस्पष्ट होती है।

जैसा चतुर्थ अध्याय में हम विदित हो चुका है आत्मा की तीन विधाएँ या भाग हैं—तकसम्मत् भावनात्मक और बुभुक्षाशील । इनमें से प्रत्येक का एक इच्छानुवर्ती विषय होता है और उस इच्छा के परितोष से उत्पन्न प्रसन्नता भी उसके साथ रहती है । इस प्रकार प्लेटो आत्मा के दो उच्च भागों में इच्छा का भाग देखता है और तीसरे भाग में सामान्य इच्छा का प्रचलरूप मानता है (जैसे भोजन की इच्छा, सत्य की इच्छा अथवा अन्य किसी वस्तु की इच्छा) और इसी का वह सजीव जयवाली इच्छा मानता है जो अथेजी भाषा की एपीटाइड (बुभुक्षा) के साधारण पार्थिव इच्छा का अभिप्राय में आती है । तीसरे अभिप्राय में ही आत्मा के तृतीय भाग की इच्छा का उल्लेख प्लेटो करता है । हमारे स्वभाव के इस भाग की विभिन्न इच्छाओं पर कुछ पार्थिव इच्छाएँ अपनी उत्कटता के कारण इतनी प्रभुता जमा लेती हैं कि उन्हें बुभुक्षा के नाम से सम्बोधित करना ही पड़ता है । किन्तु अन्य विषयों को छोड़कर यह बुभुक्षात्मक भाग पार्थिव सम्पत्ति के लिए याकुल रहता है क्योंकि दूसरी बुभुक्षाओं की तृप्ति का सामान्य उपकरण यही है । इसीलिए प्लेटो इसे आत्मा के सम्पत्ति वासी अथवा लाभकारी भाग का नाम से पुकारता है । आत्मा के इस बुभुक्षापक्ष से घटत व्यक्तियों का उल्लेख करते समय प्लेटो उच्चकुलतन्त्र, प्रजातन्त्र और स्वैच्छाचारीतन्त्र के पात्रों में कोई भेद नहीं रखता । बुभुक्षारत मनुष्य से उसका अभिप्राय विषयासक्त मनुष्य नहीं है । वह ऐसा मनुष्य है जिसे गारिरीक स्वच्छन्दता और सन्तोष की इच्छा अधीन रखती है । उसका विचार संप्रत्येक राज्य में बहुसंख्यक मनुष्य बुभुक्षात्मक स्वभाव के होते हैं । यह नहीं है कि वह अधिकांश लोगों को विषयासक्त और कामुक मानता है बल्कि इसलिए कि दैहिक आनन्द की लालसा ही बहुसंख्यक मनुष्यों को बन्दीभूत रखती है । अतएव इस परिच्छेद में सरलाय की दृष्टि से पार्थिव लाभ की कामना को आत्मा की इस विधा का लक्षणात्मक आनन्द मानना होगा । दूसरे भाग के भावनात्मक तत्त्व की कामना के लिये विषय हैं—विजय वरेण्यता और विजय के गुरस्कार । इस सघन प्रियता और प्रतिष्ठा-लोलुपता की विधा भी कह सकते हैं । अतः में, तकसम्मत् विधा की कामना जैसी वस्तुस्थिति है उसे वसा ही जानने का यत्न करती है और इसीलिए वह ज्ञान तथा विवेक में अनुरक्त होती है ।

इस प्रकार मानव जाति की तीन श्रणियाँ हो जाती हैं जो आत्मा के इन तीन तत्त्वों में से प्रत्येक की प्रधानता के आधार पर बनती हैं । प्रत्येक श्रेणी अपने आनन्द को सर्वश्रेष्ठ समझती है तथा अन्य दो श्रणियों से सम्बद्ध आनन्द को ह्य

मानती है। कौन उत्तम निणयकर्त्ता है— इस हम कस जानें? बुद्धिमत्तापूर्ण अनुभव तथा विवेकशक्ति के द्वारा ही इसका निणय किया जा सकता है। इन तीन प्रकार के मनुष्यों में से किसका अपना अनुभव इतना बड़ापका है कि वह निणय करने में समर्थ हो? साधारण मनुष्य पाश्चिमी साम्राज्य के आनन्द पाने हैं। दशमन की अपने आरम्भिक जीवन में उसका अनुभव हो चुका था। जीवन का सुख जीने के फलस्वरूप कीर्ति का सुख प्रत्येक व्यक्ति के इस सन्ध के लिए प्रयत्न से मिलता है। सफलता और उसके पुरस्कार पर किसी खास व्यक्ति का ठेका नहीं है। इसलिए व्यक्तिगत अनुभव के नाते दशमन दूसरे के अनुभव से परिचित है परन्तु दूसरे उसका अनुभव स अवगत नहीं होते। दूसरे के अनुभव उसके समान बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं हुआ करते। जहाँ तक विवेकशक्ति की बात है उससे अधिक नैपुण्य किसी और व्यक्ति में नहीं होता। अतएव यह श्रेष्ठ निर्णायक है।

यह दलील ठीक नहीं है क्योंकि प्रस्तुत विषयसंगत ज्ञान का समुचित समाधान वैयक्तिक अनुभव के आधार पर ही सम्भव है। अगर किसी मनुष्य से यह कहा जाये कि उसके निजी अनुभव से दूसरे की आनन्दानुभूति श्रेष्ठतर है तो यह बात उसे अवगती नहीं क्योंकि उसे स्वयं उस आनन्द का कोई अनुभव ही नहीं हुआ है। इसलिए यदि इस प्रकार का आग्रह उससे किया जायगा तो उस अपने व्यक्तित्व के महान् तथा शुद्ध स्तरों की कल्पना का अभ्यास करना जरूरी है। तभी सम्भव है कि वह दूसरे के अनुभव को अपना अनुभव बना सकेगा। किंतु वह परिच्छेद बहुत मनोरंजक है। इनमें आत्मा के जिस दार्शनिक तत्त्व का उल्लेख किया गया है उसमें प्लटो का अभिप्राय यह नहीं है कि दूसरे को छोड़कर और उनकी बराबरी से संभव किन्हीं दार्शनिक तत्त्व का अस्तित्व है। आत्मा के दार्शनिक तत्त्व से यह मानव प्रकृति के परिपूर्ण रूप की ओर खेन करता है। व्यक्ति के इस परिपूर्ण रूप से नीचे उतरने पर अनुभव क्रमशः सकुचित होता जाता है। ‘प्रतिभा’ कहलानेवाले व्यक्तिगत गुण का उद्गाहरण लेकर इस ओर मुग्ध रूप से लिया जाय। जेवमपिपर का व्यक्तित्व दूसरे का बहिष्कार करने नहीं बना था, उसने सभी सम्भव जीवनानुभवों को आत्मसात किया था। ऐसे प्रतिभावान् की कृतियाँ की हम सुवाच नहीं पाते क्योंकि हम उसके समकक्ष अनुभव नहीं हुए हैं। यही कारण है कि मानवजाति का बहुत बड़ा जन्ममुदाय ऐसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति की रचनाओं को दुर्बोध समझता है। किन्तु जिस मानव में उसकी रचनाओं का आस्वादन करके हम उसके अनुभव के भागीदार होते हैं उतना ही हम अपने अनुभव की अपेक्षा अधिक व्यापक अनुभव का साम पाने हैं। हम सावधानी रखनी होगी कि अनुभव

प्लेटो का जो आशय है उस हम गलत न समझें। प्लेटो यह कहता है कि आशयनिक आत्मा दूसरा के अनुभव को अनिवार्य ग्रहण करती है, तब यह मतलब नहीं कि दर्शन प्रतिभावान् कवि के समान, जीवन के विविध प्रकारों की जाँच करके निमित्त ससार भर में दौड़घूम करता रहा है। अभिप्राय यह है कि उद्यकोटि का मनुष्य धृष्टजना को अपने अनुभव का मायोदार बनाकर अधिक मानाजन करता है जिसके लिए उसे उतना धर्म नहीं करना पड़ता जितना वह पाता है। वास्तव में यह सही स्थिति है।

(१) प्लेटो जीवन के इन विभिन्न प्रकारों के सुख सन्ताप का मिलान दूसरे के साथ करता है। वह प्रश्न को इस रूप में नहीं रखता—इन सुखों में से श्रेष्ठतम कौन है? या सबसे अधिक वाछनीय कौन है? बल्कि अत्यधिक वास्तविक सुख कौन सा है? क्षुद्रकोटि के जीवन का आनंद सचमुच कोई आनंद नहीं पहचानता। पहले, वह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि जो यथायत्न आनंद नहीं है, वही भ्रमवश निरंतर आनंद मान लिया जाता है। सुख अथवा आनंद पीड़ा का अभाव या उससे निवृत्ति नहीं है। इसी तरह यथायत्न पीड़ा आनंद का अन्त नहीं है। आनंद और पीड़ा के बीच एक तटस्थ प्रदेश होता है जहाँ दोनों में से एक का भी घास नहीं रहता। जब पीड़ा नहीं रहनी और इस मनोदशा में लोग पहुँचते हैं तो उसे आनंद कहते हैं। ठीक उस आनंद के आत ही जो मनोदशा चाहती है उस पीड़ा कहते हैं। लेकिन तबदृष्टि से यह सरासर मूर्खता है कि आनंद अथवा पीड़ा के अभाव की दशा या आनंद तथा पीड़ा की मिली-जुली स्थिति सम्भव है। यह तटस्थ दशा एक प्रकार की अचलता या क्रियाशून्यता है जबकि आनंद और पीड़ा अथवा सुख और दुःख आत्मा के स्पन्दन हैं। सीधेमादे उदाहरणों से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि ऐसे सुख या आनंद हैं जिनके पहले दुःख या पीड़ा की भूमिका नहीं थी और जिनका अन्त दुःखरहित या पीड़ाहीन होता है परन्तु वैहिक सुख या आनंद में बहुतेरे ऐसे हैं जो सुख या पीड़ा की निवृत्ति से अनुभूत होते हैं। अभी-अभी उल्लिखित सिद्धांत के अनुसार इन्हें यथायत्न सुख नहीं कह सकते। लेकिन यह आसानी से समझा जा सकता है कि बहुतेरे लोग वस इन्हें सुख का नाम देते हैं। जो जादमी नीचे लेटा हुआ है अगर वह उससे ऊपर की तरफ आधी दूर भी ऊँचा उठेगा और अगर उसने उस आधी ऊँचाई के आगे कभी कुछ नहीं झाँका तो वह समझेगा कि वह शीपभाग पर ही पहुँच गया है। इसी प्रकार पीड़ा या दुःख के ये विराम उन लोगों को सुख या आनन्द जैसे लगते हैं जिन्होंने सच्चे सुख को चखा ही नहीं। तो सच्चा सुख है

क्या ? मुख उस वस्तु से परितोष पान का फल है जो स्वभावतः तृप्णीम् होती है। मुख की सचाई परितोष की सचाई के अनुपात में होता है। यदि परितोष क्षण भंगुर है और अभाव पुनः पुनः लगता है तो सच्चा परितोष और मच्चा मुख नहीं हो सकती। तो सवाल है सच्चा मुख है क्या ? जो हम फिर उस प्रश्न के समक्ष पहुँचाता है मानवात्मा का सर्वोपरि सत्य तत्त्व क्या है ? अथवा हम अपनेआप का क्या अर्थ करते हैं ? क्योंकि सच्चा परितोष यही दे सकता है जो हमारे सच्चे स्वत्व को मुष्ट कर सके।

प्लेटो की इस बात को समझना कठिन है कि कुछ मुख सच्चे होते हैं या नहीं। भाव-सम्बन्धी सत्य के विषय में जितने प्रश्न होते हैं वे सब कठिन हुआ करते हैं। एक ढंग से सम्पूर्ण भावपूज सत्य है, जो हम लगता है, वह हम लगता है और प्लेटो हमसे साथ झेड़ खाँट करता है—यह हम न समझ बैठें। लेकिन जिस किसी वस्तु की मच्चाई की प्रस्तावना घनाया जायेगा, उसके लिए भी यह बात लागू है। एक मानी में हर चीज यथाय है। जब हम पूछते हैं क्या यह यथाय है ? तब हमारा मतलब यह नहीं है क्या यह जो है वही है ? बल्कि क्या यह वही है जो हमसे स्थिति होता है ? अथवा क्या इसमें वह निहित है जिसे हम समझते हैं कि उस इसमें निहित रहना चाहिए ? अथवा क्या यह उसी तरह सम्बद्ध है जैसा सम्बद्ध होते हम मानते हैं ? अथवा क्या यह वही स्थिति है जहाँ हम इसे स्थिति समझते हैं ? सब तो यह है कि जब हम किसी वस्तु के यथाय होने की जिज्ञासा करते हैं तब हम यथायता के अतिरिक्त किसी और चीज की पृथक्ता किया करते हैं। मुख की छाँटकर दूसरी भावना का उदाहरण लेकर माना कोई पृष्ठ बैठे क्या मैं यथायत ऊँच हूँ ? तो क्या यह कोई समझाने का सवाल होगा ? तभी वह मायक प्रश्न हो सकता है जब उसका आशय यह हो जो मुझे लग रहा है क्या मेरी देह की कुछ प्रशियाओं से सम्बद्ध होने के कारण कोई गरीर विज्ञानवेत्ता उसे ऊँचता के समान मानेगा ? अथवा यदि मैं थर्मामीटर लगाकर देखूँ तो क्या उसका पारा ऊँचता की ओर नाप बतायेगा ? अथवा एमे ही कोई अन्य उदाहरण ले लीजिए। बुद्धि मानी में यह प्रश्न करना या उसका उत्तर देना तभी सम्भव है जब जिस भाव से उसका सर्वोपरि है उससे अलावा किसी दूसरी वस्तु को आर उसका सन्नेत हो। प्रश्न करने का अभिप्राय ही भाव की आजमाइश करना है और वह स्वयं अपनी आजमाइश नहीं कर सकता, अज्ञान के लिए उसके अनिश्चित किसी अन्य वस्तु की जरूरत पड़ेगी। हमी को प्लेटो के मुख और दुःख के यथायता विषयक प्रश्न से मिलाकर देखें तो इस पर कोई बहस करना नामुमकिन है कि आदमी को मुख

अथवा दुःख का भान होता है अथवा नहीं होता—यही उक्त "अथ" का बहुत स्पष्ट अर्थ होगा। (कहने हैं न कि आप किसी व्यक्ति के भावा के परे उससे दलील नहीं कर सकते।) यदि प्लेटो का प्रश्न बुद्धिसंगत ढंग से पूछा और समझाया जा सकता है तो सुख अथवा दुःख के आशय में किसी अन्य वस्तु का संकेत प्रच्युत रहगा।

अब प्लेटो सन्तुष्ट होने के अर्थ में सुख का विवेचन करता है जो उसकी परिभाषा का स्वाभाविक ढंग है। इस अर्थ में आत्मभाव का विशेष भाग अपने उपयुक्त विषय से तूष्णीम होकर सुख ग्रहण करता है और इस उपयुक्त विषय के बिना किसी दूसरी वस्तु से उसे सन्तोष नहीं होता। पानी से भूख और ठोस अन्न में प्यास नहीं बुझ सकती। इसीसे हम यह स्थिति मिलता है जिसके सहारे प्रश्न पूछा जा सकता है कि नितांत यथाथ सुख क्या है? अगर उत्तर में यह कि नाना वस्तुओं की सहति होते हुए भी आत्मा या आत्मभाव एक वस्तु है तो यह पूछना बोधगम्य है कि सन्तोष की विविधता में कौन सा प्रकार आत्मभाव की नितांत यथाथ रूप में सन्तुष्ट करता है? प्लेटो का भावार्थ यही है जब वह पूछता है कि सबका यथाथ सुख कौन-सा है। वह अपना प्रश्न निरदल और सुगम तरीके से पूछता है। क्या आत्मभाव या आत्मा को धुंध की वृष्टि से उसी तरह सन्तोष मिलता है जिस तरह का सन्तोष उस सत्य की उपलब्धि में होता है? सन्तोष जितना स्थायी होगा उतना ही वह यथाथ कहला सकता है। हम जानते हैं कि भूख को सन्तुष्ट करने पर जो परिश्रम होता है वह नाममात्र की स्थायी हुआ करता है। हम निरंतर भूखे होते रहते हैं और आपु के बन्ने के साथ हमारी भूख अधिक सन्तुष्ट नहीं हुआ करती। इसे दूसरे ढंग से यह जो आत्मभाव याने से सन्तुष्ट हुआ है वह आत्मभाव का प्रधान भाग नहीं है और वह ऐसा भाग भी नहीं है जो हमारे आत्मभाव में नित्य तथा स्थायी रूप से विद्यमान रहता हो। हम ऐसे आत्मभाव की कल्पना करें जिसे स्थूल भूख के सिवा अन्य किसी भूख को सन्तुष्ट नहीं करना है और फिर पता लगाय कि उसे कितना सन्तोष मिला अथवा हम यह पूछें कि वह आत्मभाव का कितना अंश है उसकी यथाथता का परिमाण क्या है? हम इस याद रखें कि आत्मभाव तथा आत्मभाव का सन्तोष विभाज्य तत्त्व नहीं है। उपलब्ध सन्तोष ही आत्मभाव है। ऐसा मनुष्य सदैव दुःख या पीड़ा से सन्तोष और सन्तोष से दुःख के चक्कर बाटता रहेगा। इन दोनों छोरों के बीच सतत उतार चढ़ाव में वह उलझा ही रहेगा। तब हम विवश होकर कहना पड़ेगा कि इस प्रकार के जीवन में प्राप्ति सन्तोष अत्यन्त नगण्य है वह जीवन का सबका तुच्छ अंश है और वह आत्मभाव भी आत्मभाव का निरा स्वल्पांश है। अब हम एक और सवाल करें जो आत्मी

ज्ञान के लिए जीता है उससे हम घृणा क्या करते हैं ? इसका आधारभूत कारण यह है कि हमारी मान्यता के अनुसार उस मनुष्य में दूसरी योग्यताएँ परितोष न निमित्त हैं और उसके आत्मभाव का जो भाग भोजन से परितृप्त होना है वह उसका तुच्छांग है। प्लेटो की भाषा में कहें तो जो मनुष्य भोजन के लिए जीता है वह एक अपूर्ण अंग के नाम पर अपनी समष्टि व्यक्ति-मत्ता की बलि चढ़ा देता है। अलग अलग तरह के सतोषों का महत्त्व परचन की बहुत बढ़िया बसोटी महसूसाल पूछना है कि प्रत्येक सतोष से व्यक्ति के अंतस्व का कितना भाग ईमानदारी से तुष्ट होता है। कतिपय परितोषों के धार्मिक रूपा पर विचार करें तो इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि परिष्ठाप के इच्छे-पूरा दानों में ही आत्मभाव का अस्तित्व नहीं रहना, प्रत्येक परितोष समष्टिरूप आत्मभाव के परितोष में योगदान करनेवाला अंगमात्र है जो इस तथ्य से विनिर्मुक्त है कि परितोष की घड़ी में भी हम परिष्ठाप का अनुभव हो सकता है।

जीवन के उन्नत और निम्न रूपा के गुणों की तुलना प्लेटो इस ढंग से व्यक्त करता है—उन्नत जीवन रूप में आत्मा के एक बड़े भाग की कामना संतुष्ट होती है। अर्थात् इस बड़े भाग में समष्टि आत्मा अपिब अच्छी तरह से अपनी स्वाभाविक सामर्थ्य का बोध पाती है। इस विचार के प्रतिपादन में वह अनेक दलीलें और उपमा देता है। पहले तो आत्मा के साप मिलान परके उसके उन्नत और निम्न का उदाहरण देता है। जीवन के सुख और दुःख की दशाओं की तुलना वह आत्मा में ऊँचे उठने और नीचे उतरने की प्रिया से करता है। (बहुतेरे लोग सुख को ऊँचे उठने के भाव जतायते हैं।) वह इस उपमा को घड़ी गम्भीरता से प्रयुक्त करता है और उसके प्रदत्त की हम इस ढंग से व्यक्त कर सकते हैं—आत्मा किस प्रकार के परितोष से सर्वोच्च दशा का अनुभव करती है और अत्यधिक स्वायी रूप में उत्थप की दशा में बनी रहती है ? इस उपमा का भावार्थ यह है कि प्रत्येक आत्मा सतत भाव में उन्नत और निम्नगामी होती रहती है और स्वाया उत्थप किसी के वश का नहीं है।

प्लेटो हृदयपूर्वक यह विचार प्रेष करता है कि सबसे अधिक सख्या उन दहिक बुभुक्षाओं की है जिनके परितोष का सुख सुस्पष्ट रूप से सापक्ष ढंग का होता है। इसी को प्लेटो और अरस्तू 'मिथित सुख' कहते हैं। इन सुखों में सबसे बहुरो की उत्कटता इस कारण मायूम होती है क्योंकि पूर्वगत दुःख या पीडा की भूमिका में इनकी अनुभूति होती है। यों समक्षिये कि बीते हुए दुःख का भाव यत्तमान सुख में बोलता है और उसे मनोहर बना देता है। इस प्रकार के सुख

विमल सुख नहीं है शुद्ध नहीं है और जैसा प्लेटो फाइलेबस (Philebus) में बतलाता है कुछ दगाआ में यह कहना भी असम्भव है कि कोई भावना सुख है या दुःख है। इसी कारण तिकत मधु वाक्याश का आविष्कार करके हम इस मना दशा का वर्णन करते हैं।

देह सम्बन्धी बुभुक्षा की तृप्ति लगातार एक दशा से दूसरी दशा में बड़े जोर से और सुस्पष्ट परिवर्तन से सुलभ होती है। शायद इसी कारण प्लेटो सुख को एक स्पन्दन-व्यापार का नाम देता है। सभी प्रकार के सुखा में हम यह भान हाता रहता है कि हम एक दशा से बहुत कुछ बढ़कर दूसरी दशा में प्रवेश करते हैं। जब कोई मनुष्य सुखी होता है तब उस लगता है कि वह एक मनी दशा को छोड़कर, जो सुख की बहुत कुछ नियेधात्मक स्थिति थी किसी नई मनी दशा में प्रवेश कर रहा है। अस्तु के मतानुसार वेशक यह ठीक है कि सुख का सही भाव परिवर्तन का बोध नहीं है किन्तु फिर भी वह परिवर्तन तो है। (जब सुख या दुःख की अनुभूति के लिए हम किसी नितान्त अपरिवर्तनीय जीव की कल्पना कर सकते हैं ? प्लेटो का यह कथन हमें विरोधाभास जसा जान पड़ता है कि दिव्य जीवन की पुष्टि सुख या आनन्द से नहीं की जा सकती। हम बहतर हालत के लिए परिवर्तन की क्षमता का लाभकारी मानते हैं लेकिन साथ साथ यह भी मानते हैं कि परिवर्तन की जरूरत हमारी किसी गूढि का विज्ञ है। इस प्रकार संवधा परिवर्तनहीन जीव को हम अपने-आप से इतना ऊँचा समझ लेते हैं कि उस परिवर्तन की जरूरत ही नहीं है अथवा उसे इतना जड़ समझते हैं कि वह जो है उससे बहतर बनने की योग्यता ही उसमें नहीं है।) बहुत से लोग प्लेटो की इस बात से सहमत होंगे कि परितीय के उन्नत प्रकारों में परिवर्तन का भाव अवचित ही उग्र और प्रमुख हुआ करता है असा बह बहिक सुखा में पाकिता है उन्हाहरणार्थ, कला का आनन्द इसी उन्नत सुख का एक प्रकार है।

लेकिन यहा एतराज की गुजायश मालूम पड़ती है। चाहे उन्नत अथवा निम्न ढग का परितीय हो क्या यह बिल्कुल जरूरी नहीं है कि उसके पहले आकाशा या चाह की स्थिति मौजूद हो ? हम यह भी जानना चाहेगे कि प्लेटो दैहिक बुभुक्षा की अतृप्त प्रवृत्ति पर भी क्यों लम्बी बहस करता है और हठपूर्वक दहिक परिताप का परिताप नहीं मानना चाहता मगनो काई ऐसा भी परिताप रहा है जिससे काई इच्छा तुष्ट हुए बिना नहीं रही ? इन प्रश्नों का उत्तर हम प्लेटो के उस विचार में मिलगा जिसके अनुसार परिताप चिरस्थायी होता है। मान की चाह एक प्रयोजन है और ऐसी चाह है वह जो कभी पूरी तोर पर सतुष्ट नहीं

होता। किन्तु इस चाह का परितोष चाहे जितना अपूरत हा आत्मा परितोष के पढ़ने की दशा में फिर कभी वापस नहीं मुड़ती, परितोष के साथ प्रगति का बोध होता है आत्मा निश्चित रूप से अग्रसर होगी है और हर परितोष आत्मा का एक स्थायी तत्त्व बनकर अभ्युत्थ रहता है। आत्मा का जो भाग दहिक सुखों से तोष पाता है, वह उस तोष को रद्द नहीं सकता, वह तोष छोड़ता रहता है। प्लेटो इस दशा की तुलना जहाज से करता है। गार्जियस (Gorgias) में इस रूपक का विस्तार किया गया है। उनकी आत्मा का बुभुक्षात्मक भाग जो केवल इसी के लिए जीने है, छेड़ेवाले जहाज के समान है। इस परिच्छेद का भावाप यह है कि अगर सचमुच कोई आत्मभाव है तो उसका परितोष विरथायी ही होना चाहिए। सच तो यह है कि आत्मा या आत्मभाव उतना ही समझो जितना वह मसार से ग्रहण करता है। इसलिए जब उस मिलनेवाला सन्तोष नरवर है तो आत्मभाव भी नरवर है अर्थात् आत्मभाव अस्तित्वरहित है। हम अपने सन्तोष के विभिन्न प्रकारों की परग करके के लिए यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि जब हम सन्तोष उपलब्ध हो जाता है तब वह यहाँ तक हमारा स्थायी अंग बनता है ?

इस परिच्छेद में और गार्जियस (Gorgias) में कतिपय सुषा के असन्तोष जनक स्वरूप की धारणा उनका भ्रमात्मक स्वरूप से सम्बद्ध की गयी है। यह बात हम ठीक तरह समझ लें कि जो हम तोष के सबूत है उसका एवज जो तोष नहीं के सबूत, उसे ग्रहण कर देना एक तरह का मानसिक खेल है। कवे प्लेटो सामान्यतः बौद्धिक धन से परितोष पान की नित्य असमयना का घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। प्लेटो मानता है कि ज्ञान के क्षेत्र में सत्य की गिनती उपलब्धि होती है और उस जितना आत्मज्ञान किया जाता है, उतनी ही आत्मा है। इसी तरह इच्छा या वासना के क्षेत्र में आत्मा उतनी ही है जितना वह ग्रहण करती है और व्यपनानी है। ज्ञान तथा विषयवासना दोनों क्षेपों में आत्मा जिसका ध्यान करती है उसी के रूप में वह बन जाती है। इसमें सन्देह के क्षेत्र में यदि हम अनित्य और अमर का अभिन्न अंग बनते हैं तो हम भी अनित्य और असमय हा जाते हैं।

सम्पन्न में प्लेटो बलशाली है कि दहिक वासनाओं की सन्तुष्टि के लिए जीने के बारे में जो कहा गया है, वहाँ आत्मा के स्फूर्तिप्रद तत्त्व के परितोष से विपके रहने के लिए भाग्य होती है। व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की तलाश निरी प्रतिष्ठा के लिए दूसरों पर विजय अथवा क्रोध की अव्यक्ति वृष्टि के पीछे दौड़ना स्फूर्तिप्रद आत्मभाव के लक्षण है। इसके बाद अथवा परिच्छेद महत्त्वपूर्ण है। हल्के ढंग के सन्तोष

उच्चस्तरीय सन्तोष की तुलना में कम सत्य और यथाय नहीं है परन्तु उनमें जा यथायता है वह उसी अनुपात में रहती है जिसमें वे ऊँचे दर्जे के सन्तोष के लिए उपयोग होते हैं। यह परस्पर विरोधी कथन जान पड़ता है। कुछ ऐसा कारण है जो यह कहने को बाध्य करता है कि कामना या इच्छा जितनी निष्प्रयोजन होगी उतनी ही अधिक तूष्णीय वह रहती है। इसी का प्लेटो उल्टा करके कहता है, अष्टम और नवम अध्यायों में लगातार वह कहता रहता है कि आत्मा का कोई एक अंग उसकी सम्पूर्णता से जितना हटता जायेगा उसी परिणाम में सन्तोष कम होता जायेगा। बहुत स्थूल उदाहरण ल लीजिये जो आदमी भोजन को जीवन का एकमात्र ध्येय समझता है उस छान की क्रिया में टिकाऊ सन्तोष कभी नहीं मिलेगा जबकि इस आदमी की विपरीत वृत्ति का मनुष्य भोजन को किसी उच्चकोटि का अभीष्ट पूति मानता है, इसलिये उसका सन्तोष अपश्चाद्वृत्त स्थायी होता है। जैसा मत्त पाल कहते थे मैं लाऊ या पिऊँ सब कुछ ईश्वर की शान में करता हूँ। यह भारतीय जन की सहज भावना है कि खाना पीना सब ईश्वर रापण है। अत्यन्त तुच्छ सन्तोषों में भी यह भावना हो सकती है कि पशु पुष्पास वही किसी ऊँची और व्यापक पूति के निमित्त प्रत्यक्ष छोटे से छोटा काम है। इसी भावना से पुष्पास के परितोष की स्थायित्व और तुष्टि मिलती है जो निन्दे सन्तोष में नहीं होती। फिर इसी प्रकार की तुष्टि में पुष्पास का अनुकूल परितोष मिलता है जो उसका निजी परितोष है।

यहाँ पट्टचक्र जीवन की दो विधाओं के परम सुख की त्रिविध तुलना हो चुकी है। स्वेच्छाचारी आत्मा का परम सुख अधम से अधम काम में सफलता प्राप्त करना है राजोचित आत्मा उत्कृष्ट मनोदशा में परम सुख का अनुभव करती है। इन दो जीवन-पद्धतियों में जो अन्तर हम देख चुके हैं उसका उपसंहार प्लेटो एक अद्भुत गणितीय वक्तव्य द्वारा करता है। आत्मा के त्रिविध स्वरूप की जो चर्चा वह आरम्भ में कर आया है उसी पर तीनों जीवन-पद्धतियाँ आधारित हैं। इनमें जो भेद हमने पाया है यदि उस एक आयाम में नापें तो कहना होगा कि महाजनतन्त्रीय मनुष्य का सर्वोच्च आत्मतत्त्व सदैव अस्त-तुष्ट रहता है। दानन या राजा की आत्मा के समग्र तत्त्व परितुष्ट होने हैं। अतएव दानन के परितोष से मित्रान करन पर महाजनतन्त्रीय आत्मा का सन्तोष दानन के सन्तोष का दो तिहाई रहना है। उच्चवृत्त-प्राप्तक मनुष्य का जीवन केवल पुष्पास-तत्त्व को तुष्ट करन में जुटा रहता है इसलिए दानन की तुलना में उसका परितोष एक तिहाई है। यदि उच्चवृत्त-तन्त्रीय जीवन से इस मिलान का आरम्भ

वर्गे तो याद रखना होगा कि इस प्रकार के जीवन में बुभुक्ष का आविर्भाव होता है और बुभुक्षात्मक आत्मा के तीन विभाग होते हैं। तो उच्चबुद्धिमान जीवन की तुलना में प्रजापतित्रिंश मनुष्य का परितीय दो तिहाई हुआ करता है और स्वेच्छा-चारी जीवन का स तोप एक तिहाई। इस प्रकार स्वेच्छाचारी जीवन की सत्पुष्टि मयादा दशमज्ञ के परितीय का नवा भाग होनी है किंतु यह मापन प्रणाली इनके भेद की पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर सकती। तीन आयामों में ही हम इस जगत् की माप करना पड़ेगी। रेखा खींचकर उसे वग का रूप देना होगा और वग की घन की आकृति देनी पड़ेगी। तभी पूरी तरह स तृप्तिरहित तुलना हो सकेगी। परिणाम यह हुआ कि दशमज्ञ सम्राट का परम गुण निरंकुश शासन की तुलना में $६ \times ६ \times ६ = ७२६$ गुना पूरा होता है।

इस प्रसंग में इस समूचे विवाद के आरम्भिक बिन्दु और प्रौसीमकस के प्रतिवाद की ओर ध्यान दिलाने के लिए मुक्तांत फिर उपस्थित किया जाता है। प्रौसीमकस की दलील थी कि परिपूर्ण अयाय ही मनुष्य का यथाय हित है। मुक्तांत मनुष्य जीवन के प्रमुख तथ्यों को स्पष्ट जैसा न व्यक्त करके यह सिद्ध करता है कि अयाय मनुष्य के हित का साधन ब्यावर नहीं हो सकता। इस खण्ड की विचारधारा मूलतः हित विषयक समूचे प्रश्न का आत्मा के अन्तरस्थ जीवन से सम्बद्ध करती है। सुख, हित, लाभ सभी की व्यञ्जना मनुष्य के गुह्यतम आन्तरिक जीवन की दृष्टि से अथवा आत्मा के सारभूत तत्त्व के सम्भ्रम रखकर ही करनी चाहिए। इस खण्ड की टक ही यह है 'अपनी आत्मा के निमित्त मनुष्य को विनिमय में क्या देना चाहिये' 'लाभ या प्राप्ति की चर्चा हम कर चुके हैं—परन्तु शयत परमार्थेच्छ वस्तु क्या है ?

आरम्भ में पेटो मनुष्य स्वभाव के विशेषण की पुनरावृत्ति करता है। वस्तु वैदिक रूप में ही मनुष्य एक नहीं है बल्कि वह आत्मभाव या आत्मा की दृष्टि से भी एक है। लेकिन इस ऐक्य के साथ-साथ वह जटिल प्राणी है। मनुष्य की रचना के तत्त्वों पर यहाँ एक नवीन दृष्टिकोण मिलता है। उसके बुभुक्षात्मक तत्त्व को बहुगीर्ण पशु के रूप में अंकित किया गया है और उससे मित्र लगातार बदलते रहते हैं उसमें नये सिर उत्पन्न करने की अद्भुत सामर्थ्य है। इस पशु का कुछ भाग पालतू है कुछ भाग दुर्गत है। मनुष्य स्वभाव का सबसे बड़ा तत्त्व इसी पशु के रूप में रहता है। स्मृतिमान या भावनात्मक तत्त्व सिंह के समान है। जब पेटो मनुष्य की भूलवस्तियों को पशु के रूप में अंकित करता है तब उस केवल अलवार सीली नहीं समझ लेना चाहिए। उसका निश्चित विद्वान् था कि

जीवन का अम्युस एव सतत् प्रक्रिया है जिसमें जीवन के विभिन्न रूपा वा तारतम्य हैं। जो भी कारण हो आत्माका व उत्थान पतन का क्रम जीवन के प्रत्येक मूलरूप के तदनुकूल आचरण से जुड़ा हुआ है। यह भी सत्य है कि मनुष्य की आत्मा के कल्पित तत्त्वा वा यथाथ सादृश्य दूसरे जीवधारियों व वृद्ध स्वभाव मत तत्त्वा से बना रहता है। इस विचार को विकास की आधुनिक कल्पना का नवीन अनुमोदन भी मिल जाता है। मनुष्य स्वभाव का तीसरा तत्त्व भले वह स्वल्पतम हो, सही मानी म मानवी तत्त्व है वही हमारे मनुष्य का अनर्हित रूप है। इसी को मनुष्य में निम्नतम का अधिष्ठान बहकर सम्बोधित किया जाता है। यह बहुत महत्वपूर्ण विचार है जिसके आधार पर मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी सिद्धांत का निरूपण सम्भव है यद्यपि इस प्रसंग में बहुत अधिक ध्यान इस बात पर नहीं दिया गया है। किंतु प्लेटो तथा अरस्तू का मत है कि मनुष्य स्वभाव में ईश्वर वरर किसी सदोष रूप में अधिष्ठित है और इसी ईश्वरीय या निम्न सात्त्विक व कारण चाहे वह कितना ही स्वल्प हो उसका स्वभाव विनिष्ट रूप से मानवी है। उसी कल्पना में ईसाई मत की मानव रूप ईश्वर सम्बन्धी पूर्वांश मुक्ति का अभिप्राय निहित है। प्लेटो यथाथ मानव स्वभाव को ईश्वरीय गुण से सचमुच अभिन्न मानता है। लेकिन इस विचार का निरूपण प्लेटो और अरस्तू दोनों ने नहीं किया।

अतः मानव यह है। इसी विनियम के आधार पर वास्तविक लाभ और उपलब्धि का विचार करना होगा। जब कोई यह कहता है कि मनुष्य-स्वभाव के यथाथ हित की उपलब्धि अयाय से ही सम्भव है तब वह क्या कहता है—यह उसकी समझ में नहीं आता इसलिए उसे समझाने का उपाय करना है। इसी द्वारे से प्लेटो नैतिक अच्छाई और बुराई या शुभाशुभ के प्रमुख जाने माने रूपा का उल्लेख करता है और मनुष्य स्वभाव के विनियम में उन्हें परखता है। यही 'यायोचित जीर सुसंस्कृत है जो मनुष्य स्वभाव के प्रत्येक गुणगुण को अपने यथाथ मानवी-तत्त्व की आधीनता स्वीकार करा सके। अयाय तथा अधम वह है जो हमारे मनुष्य को निहित पशु का दास बना दे। जब मनुष्य नीच वृत्त करना हितकारी या लाभप्रद मानता है जैसे रिसवत लेना, तब असल में वह समझता है कि अपनी पत्नी या सत्तान से अधिक मूल्यवान् वस्तु मानवी तत्त्व को अन्तरस्थ निष्ठात अनीश्वरीय वस्तु का गुलाम बनाना अधिक लाभजनक है। असयम अथवा लम्पटता का अर्थ ही है—अपने अन्तरस्थ दुर्दांत जीव को उच्छिन्न पल बनाना। स्वच्छन्ता और अस तोष अथवा क्षोभशीलता हमारे स्वभाव में

यायनिष्ठ तथा अन्यायी जीवन की तुलना

सिंह के समवक्ष तत्त्व का अनुचित समावेश होने से उत्पन्न होती है। स्फूर्ति और बुभुक्षा दोनों ही इन विकारों में क्रियमाण रहते हैं। महाजनतन्त्रीय मनुष्य में स्फूर्तितत्त्व का आतंक छाया रहता है। इसी कारण वह स्वच्छन्द या हठी बन जाता है। बताया जा चुका है कि किस प्रकार स्फूर्तितत्त्व के आधिपत्य में कतिपय उग्र बुभुक्षाएँ अनात्मभाव से प्रबल होती रहती हैं क्योंकि मनुष्य के अंतर का परमतत्त्व अपने राज्यासन से वंचित कर दिया गया। तदनन्तर इस स्फूर्तितत्त्व की दुर्बलता के फलस्वरूप स्वणता, भोगविलास और इनके अनुवर्ती दुर्गणों को खुलकर प्रकट होने का अवसर मिल जाता है। बुभुक्षाओं की भीड़ के सामन स्फूर्तितत्त्व की गुलामी का मतलब है—चाटुकारिता और नीचवर्ति का प्रकोप। फलतः जो सिद्ध हम अनुभव करते थे वह निरा वानर बन जाता है। अन्त में अश्लीलतासूचक ग्रीक शब्दों के द्वारा प्लेटो इस पतन की अन्तिम दशा का वर्णन करता है। इस दुर्गुण का विकास कुछ धर्मा या पेशों के साथ होता है जो शैक्षसिधिर द्वारा मेकेनिक (कारीगरी के डग के पेशे) या यन्त्रवत् शब्द से घृणास्पद अर्थ में व्यक्त किये गये हैं। ग्रीकजन का विचार था कि यन्त्रवत् पेशों में ऐसी सिद्ध होती है जो प्रत्येक दशा में परिपूर्ण न होने पर भी इस बदलीलता के दोष को बढ़ावा देती है। प्रत्येक राष्ट्र कुछ पेशों की हेय मानता है, उन्हें राष्ट्र के कलक समझता है और उन पेशों के क्रियाकलाप से ही कुछ शब्द चुनकर उनका वर्णन करता है जैसे चाटुकारिता या परजीवी वृत्ति शब्द जो अनेक दुर्व्यसनों का परिचय देते हैं। जिन पापकर्मों के नाम गिनाये गये हैं उनमें यही आशय व्यक्त होता है कि यथाय मानवी तत्त्व बुभुक्षात्मक अर्थ के अधीन दास हो गया है।

इस प्रकार प्लेटो सक्षेप में तरह तरह के दुर्व्यसनों के मूलभाव का संकेत करता है। वे सब अन्तःकरण के विघटन की आकृतियाँ हैं, दासता के विविध रूप हैं। मनुष्य के समक्ष यह प्रश्न है उचित दास्य या दासता क्या है ऐसी गुलामी जो गुनाह का हनन नहीं करती? वह ऐसी दासता है जो मनुष्य के अन्तःकरण की श्रेष्ठता के आधिपत्य में रहती है। मनुष्य में जो कुछ है उसका प्रत्येक तत्त्व उसके दिव्य या ईश्वरीय तत्त्व की सेवा में लगा रहे। सर्वोत्तम स्थिति तो यही है कि मनुष्य की अन्तरमत्ता में कोई प्रभुत्वशाली तत्त्व हो। लेकिन अगर यह नहीं है तो उसे बाहरी व्यवस्था का पालन करना चाहिए। इसी से उस सिद्धान्त की ओर हमारा ध्यान जाता है जो राज्य में कानून और वक्त्रों की शिक्षा का आधार है। युरक्लू में एनोमन ने कानून की व्याख्या करते हुए कहा था कि वह ऐसा वचन है जिस तकप्रिय मनुष्य जहाँ-जहाँ सम्भव हो, वहाँ विधिलेन कर सकता है या साथ

सकता है। परन्तु कानून सावजनिक विवेकशक्ति का मूलरूप है। भेदभाव से परे वह समवाय (जनमण्डल) के प्रत्येक मनुष्य का हितपी है क्योंकि वह मनुष्य की अन्तरात्मा में श्रेष्ठ तत्त्व का हितपी है। तदनुसार हम बालकों को यह छूट नहीं देते कि वे अपनी शिक्षा स्वयं शिक्षक बनकर प्राप्त करें। लेकिन जब वे गिनती का परिणाम से समर्थ विवेकवान् हो जाते हैं तब उन्हें अपने आचरण का नियम स्वयं करने का अधिकार मिल जाता है। नतीज शिक्षा की भी यही व्यवस्था है कि आरम्भ में कुछ समय तक मनुष्य को कुछ निश्चित नियमों का अनुसरण करना पड़ता है परन्तु धीरे धीरे ये नियम उसका निजी नियम हो जाते हैं।

इसलिए मनुष्य स्वभाव की यथाय रूपरेखा को जानते हुए, यह मानना असम्भव है कि अयायपूर्ण आचरण मनुष्य के लिए हितकारी हो सकता है। यदि कानून उसके अयायपूर्ण आचरण का भेद भी न लगा पाये और वह दण्ड से बच भी जाये तब भी उसे लाभ नहीं होगा। प्रेसीमेक्स यही मानता रहता है कि यदि मनुष्य मनचाहा क्रुक्रम करे और दण्ड से बचा रहे तो वह उत्पत्ति करेगा। परन्तु यहाँ यह दृष्टापूर्वक कहा गया है कि मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य पापपत्र बनकर दण्ड से बचा रहना है।

अतः में प्लेटो उन सिद्धांतों का सारांश देता है जिनके अनुसार बुद्धिमान व्यक्ति अपने जीवन की व्यवस्था करता है। पहले वह क्या सीखना चाहेगा? वह प्रत्येक विषय का उतना ही अध्ययन करना चाहेगा जितना उसकी आत्मा के उत्थान में सहायक होगा। जहाँ तक उसके शरीर का प्रश्न है वह पशुतुल्य सुखों की प्राप्ति को अपने जीवन का ध्येय नहीं मानेगा, केवल दैहिक शक्ति और स्वास्थ्य ही उसका लक्ष्य न होगा क्योंकि वह आरोग्य और बल का उतना ही महत्त्व स्वीकार करेगा जितना उसके अंतरस्थ विवेकबल की वृद्धि में उपयोगी होगा। आत्मा की समस्या के लिए ही वह शारीरिक सन्तुलन की चिन्ता करेगा। तभी वह आत्मवान् होगा। यह कथन मितलन के इस भाव के समान है 'सच्चे कवि का जीवन ही कविता बन जाता है।' सम्पत्ति के विषय में उसका नियम यह होगा कि उसके अंतरस्थ सविधान की मर्यादा के लिए जितनी सम्पत्ति आवश्यक है उतनी ही वह प्राप्त करना चाहेगा। अतः में कीर्ति और सत्ता के बारे में वह सदैव यह निश्चित करना चाहेगा कि उसका आंतरिक उत्थान में कीर्ति और सत्ता सहायक है या नहीं, तभी वह उनका प्रयत्न करेगा।

इसके बाद एक अद्भुत परिच्छेद शुरू होता है। जब कीर्ति की बात आती है तो ग्लोकन कहता है 'यदि कीर्ति की बात करोगे तो मैं सावजनिक जीवन के

कायों में भाग नहीं लूँगा।" सुखरात समझता है "वह अपने नगर में तो भाग लेगा परन्तु जन्मस्थान के नगर में विघाता का काँप होगा तभी उस वहाँ काम करना पड़ेगा।" छठे अध्याय में प्लेटो कहता है कि ईश्वर कृपा से ही वर्तमान समाज में महान् पुण्य नैतिक अथ पतन से बच पाना है और ईश्वर कृपा, मनुष्य की दृष्टि से, कोई ऐसी प्रक्रिया है जिसका टिकाना नहीं है। इसी मनादना में वह भाग कहता है कि आत्मस्वरूप की उपलब्धि के बाद विरता ही कोई मनुष्य सावजनिक जीवन को सुझावह अथवा आत्मा के उपयुक्त मानेगा। 'मनुष्य की साधुता और नागरिक की साधुता' नितांत विरल परिस्थितियाँ हैं ही साथ साथ मिलती हैं। परन्तु जो व्यक्ति आत्मस्वरूप हो जाता है वह पृथ्वी (अथवा स्वर्ग) पर बहती रहे, वहीं चला जाए, उसकी यह आदना दाना या उत्तमता सधदा और सबब उसका साथ रहनी है। 'रिपब्लिक' में प्लेटो दो परस्पर विरोधी भावनाओं के बीच झूलता है। उसकी प्रधान भावना यह है कि जब तक दशतन के अनुकूल, योग्य राज्य उसकी क्षमता को अवसर देने के लिए सुलभ न हो, तब तक अपने हित में और समार के हित में उसका श्रेष्ठ उपयोग नहीं हो सकता। समाज के नासनतन में परम उत्कृष्ट नीति मनीषिया का उपयोग न होना जो क्षति या हानि होनी है, उसका प्रभाव जीवन की हर दिशा में दिखायी पड़ता है किन्तु यह क्षति स्वयं मनीषी पर भी भयानक प्रभाव डालती है। इसी-की तह में दूसरी भावना भी दीगती है जो प्रस्तुत परिच्छेद के समान कई दूसरे परिच्छेदों में व्यक्त होनी है। ससार की गति जैसी है उसे ध्यान में रखकर साधारणजन की तरह यह स्वीकार करना पड़ेगा कि क्षान्तन तथा सावजनिक कायकलाप में विच्छेद अवश्यम्भायी है जिससे निष्पन्न निकलता है कि सामान्यतः मनुष्य का परमोत्कृष्टयुक्त जीवन सावजनिक क्षेत्र का जीवन नहीं हो सकता। थैसेटस (Theaetetus) में प्लेटो दाननिक जीवन का विवरण देने हुए इस बात का भी बात समझता है कि साधारण अथ म दाननिक जीवन सबका अनुपयोगी है। अनेक ईसाई लेखकों के चिन्तन में भी ठीक यही दा परस्पर सधय-शील भाव मिलते हैं। अपनी आत्मा की सबट से मुक्त रहने का विचार सासारिक जीवन के साथ मेल नहीं खाता। यह विचाराली ग्रीम में प्लेटो-युग के बहुत पहले से व्याप्त थी। लेकिन उसके पूर्व और पश्चात युगा में दशतन का विवरण मिलना है जो समझी और आधुनिक जीवन विताया करते थे। इसका विपरीत हम ईसाई मत का यह सिद्धांत भलीभाँति विन्ति है कि जनसेवा के काय में सलग्न हान से अथवा सामाजिक जीवन में सेवारत होने से ही इस धर्म के अनुरूप आचरण सम्भव है। यह विचार ग्रीक-दशम में सर्वश्रेष्ठ माना गया है और ग्रीक के नैतिक चिन्तन का परमश्रेष्ठ स्वरूप भी यही है।

काव्य-विषयक उत्क्रम

‘रिपब्लिक’ के शेष भाग से दशम अध्याय का पूर्वाद्ध विलकुल अप्रागमिक है। कला तथा काव्य का विषय प्रवेश अवस्थात और अस्वाभाविक है जिस यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। प्रारम्भिक वाक्या से ही हम यह निश्चित कर सकते हैं कि प्लेटो इन विचारों में किस तरह का सम्बन्ध सूत्र समझता है। नवम अध्याय के परवर्ती भाग में नये बिश्लेषण द्वारा मानव-स्वभाव की यथायथा को सुस्पष्ट किया गया है। शुद्ध तत्त्वों के प्रति आत्मभाव का समर्पण ही नैतिक दृष्टि से दुष्कर्म है। इसी आशय को दूसरे प्रकार से प्रस्तुत किया गया है कि मन दीन भाव से सत्तार के मायाजाल में निश्चेष्ट हो जाता है। अनुकृति कला के सम्बन्ध में पूर्व चर्चा में जो कुछ कहा गया है उसने आपत्तिजनक प्रभाव की ध्वनि भी इसी विचार से निकलती है। भावना की भ्रातिपूर्ण धारणा को यह कला प्रथम देती है। सबसे बड़ी हानि यह है कि इस कला के फलस्वरूप भावना का शुद्धान्त प्रबल होता है चाहे वह सुख हो अथवा दुःख। भावनागत शुद्धता के विषय में प्लेटो बहुत अजीब तरह से सोचता है। उसका कथन है कि भावनात्मक हीनता का अभिप्राय यह है कि वह किसी अस्तु और भ्रात वस्तु पर टिकी रहती है। इतनी दूर तक तो सम्बन्ध सूत्र का कुछ पता चलता है। फिर ‘रिपब्लिक’ की विचारधारा इस खण्ड से आगे भग हो जाती है। दशम अध्याय के अंतिम खण्ड से इसका कोई तारतम्य नहीं है जिसमें आत्मा के अमरत्व का निरूपण हुआ है और जो नवम अध्याय के अंतिम भाग का स्वाभाविक फल है। समूचे ग्रन्थ का यथाचित उपसंहार भी यही है। इतना ही नहीं, इन दोनों खण्डों के बीच इसी विषयवस्तु के अनेक नूतन संस्करणों के चिह्न भी सहज ही दिखायी देते हैं।

इस समूची परिचर्चा में बाग्योद्धा का स्वर है यद्यपि प्रारम्भ अध्यायचना से किया गया है। अतएव यह निष्कर्ष सहज ही होता है कि प्लेटो के काव्य

विषयक विचारों की बटुआलोचना की गयी होगी। शायद इसी कारण प्रचुर उपतापूर्वक वह काव्य की फिर विस्तृत आलोचना करने पर तुल गया। जो भी हो अपने युग के काव्य विक्षेपक दृश्यकाव्य व सम्बन्ध में वह अत्यन्त चिन्ता बातर स्वर में कहता है कि उसका प्रभाव सबका अनिष्टकारी है। होमर और अन्य कवियों के सम्बन्ध में यह व्यापक धारणा भी विमल है कि उनकी रचनाओं में शिक्षात्मक महत्ता का कोई गुण है। प्लेटो इस धारणा का बहुनियाम और घातक मानता है। उसे यह दावा भी निरर्थक लगता है कि होमर तथा अन्य प्रासद कवि सबकला-पारंगत, पाप या पुण्य आदि सभी मानवी गुणों के ज्ञाता यहाँ तक कि ईश्वरीय ज्ञान के भी धनी थे। वह नहीं मानता कि ग्रीस का गीता दाता होमर या और उनकी रचनाओं से अर्जित ज्ञान के भरोसे मनुष्य अपने समग्र जीवन की दिशा निर्दिष्ट कर सकता था। हमारी दृष्टि में हमारे केवल साहित्यकार थे। उसके काव्य से जीवन पद्धति की स्फूर्ति उठी मिलती। परन्तु प्लेटो के मनोभाव का समझने के लिए गहरी है कि हम उसके दृष्टिकोण को क्या समझ सकते हैं। इस विषय का वह अत्यन्त गम्भीरता के साथ निरूपित करता है। कभी कभी सांग को यह कहत सुना है कि होमर काव्य ग्रीस देश की बाइबिल थी। प्लेटो जो बात उक्त अर्थ में कह चुका है उसका सत्य इस अनाड़ी व्यास में छिपा हुआ है। वैसे तो स्वयं बाइबिल व सम्बन्ध में तर्कहित तथा विलक्षण दावा के कारण हम पर इसी तरह के आरोप हुए हैं।

प्लेटो की दृष्टि में काव्य ऐसे-सवासी जनता जनाने की अभिरुचि को फुलाने का एक बड़ा साधन है, उनकी स्फूर्ति का मण्डार है। अपने सम्बन्धों के हमारे विभिन्न परिच्छेदों में आति उत्पन्न करने के लिए शब्द शक्ति के विषय में जो कुछ उसने कहा है उस ध्यान में रखकर ही हम उसके काव्य सम्बन्धी मत का ग्रहण करें। स्वयं प्लेटो से महान् शब्दों का स्वामी आज तक नहीं हुआ। लगता है कि इसी कारण वह भाषा प्रयोग की कला के खतरा और कमजोरियाँ व बार में बहुत सचेत था। फिरेड्रस, (Phaedrus) में उसने आग्रहपूर्वक कहा है कि लगभग व चित्त में एक मत्त आविर्भूत होता है जिसे जीवन गन्त कहाँ चाहिए और जिसकी व्यञ्जना और अभिलष लिखित गन्त है चाहे वह अत्युक्ति हो काव्य हो अथवा अन्य कोई विधा हो, इसी दृष्टि से शब्द का महत्त्व है। जब तक लेखक की यह आस्था नहीं है कि उसके लिखित से वह अधिक जानता है तब तक वह सचमुच प्रवीण लेखक नहीं हो सकता। यदि उसे लगे कि गन्त स्वयं थोड़ा बस्तु है उसी क्षण वह अपने बोध से वंचित हो जाता है। (शब्द

और भाव' के अतविरोध में भी यही विचार व्यक्त होता है। अपने गुण में प्लेटो की यह धारणा थी कि गणानन्द के निमित्त ही साहित्य रचना की जाती थी। 'गार्जियस' (Gorgias) में वाद्य विषय पर त्रासद वाद्य को अत्युक्ति की श्रेणी में रखा गया है जो भीड़ को डकसाने और प्रसन्न करने की एक कला विषय माना जाता था। इस वाद्य को हलवाई और गधोघर की कला के सम कक्ष बताया गया है। एषस रगमच पर जो 'गोचनीय परिवर्तन' उगने देता था, उसका उल्लेख 'लाज' (Laws) में बहुत अधिक किया गया है। पुराने समय में श्रोता अपने स अधिक निपुण व्यक्तियों की रचना और उसके अभिनय से आनंदी लित हात थे। आजकल 'नाटकवाद' मात्र है जिससे अनुसार साधारण जनता की रचि नाटककार या अभिनेता का माना जाता है।

कला तथा वाद्य के विरुद्ध आगे में दो प्रमुख विचार हैं। पहला अनुकूलिता मूलरूप से वस्तु के चरित्रों को, उनके ऊपरी ढाँचे को अंकित करती है जो वास्तव में वस्तु का बहुत सुन्दर भाग है। यदि वस्तु के वास्तविक स्वरूप से धोले में आकर कोई उस सामान्य वस्तु मान लेता है—आशय है कि बहुतेरे लोग ऐसा ही करते हैं—तो वह मृगमरीचिका के समान रहता है। दूसरा, सामयिक कला जिन भावनाओं को जाग्रत करती है और उकसाती है विनाशकारी कला के सचमुच जगाने और उकसाने योग्य भावनाएँ नहीं हुआ करती। पोयटिक्स (Poetics) में अरस्तू ने वाद्य का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है उसके विलकुल प्रतिकूल चित्र प्लेटो अंकित करता है। इन दोनों के लेखन में यह विषय समान दृष्टिबिन्दु से निरूपित नहीं किया गया है। प्लेटो ने तो कला को अभि योगी मानकर उसकी भत्सना करने की ठानी है। वह उसकी अनयताओं का विवेचन करता है और उसके कथन बहुत कुछ सही भी हैं। लेकिन वह कला के दुष्प्रभाव की चर्चा इस तरह करता है मानो अनुकूलकला के मूलभाव से इन दुष्परिणामों का जन्म हुआ हो, केवल उसके अनुचित उपयोग से नहीं। अरस्तू के इसी विषय-सम्बन्धी निबन्ध में प्लेटो की दृष्टि से विपरीत चर्चा की गयी है। सम्भवतः अरस्तू त्रासदी के सारभूत तत्त्व और उसके श्रेष्ठत्व को ध्यान में रख कर उसकी परिभाषा करना चाहता था। उस इस बात की रसीभर परवाह नहीं थी कि उसकी परिभाषा का अनुरूप त्रासदी का नमूना कहीं मिलेगा अथवा नहीं क्योंकि उसकी चिन्ता त्रासदी का आदर्श स्वरूप अथवा विशिष्ट गुणों के निरूपण की ओर मुड़ी हुई थी। साधारण दृष्टि से इन दोनों मनीषियों का चिन्तन एक दूसरे से विपरीत है। अरस्तू वस्तुजगत् का आदर्श पक्ष प्रस्तुत करता

काव्य विषयक उत्क्रम

है जबकि प्लेटो एक विवादप्रिय जन के समान केवल विद्यमान तथ्यों का उल्लेख करना ही उचित मानता है।

इस परिचर्चा के तीन खण्ड हैं। प्रथम प्लेटो अनुकृति के मूलरूप का अनुसंधान करता है जिससे कला रूपावित होती है तथा इसी को वह कला का मूलतत्त्व सिद्ध करता है। द्वितीय और तृतीय खण्डों में वह बिल्कुल भिन्न पक्ष से कला की मीमांसा करता है और दो खण्डों में होने पर भी विषयगत एकता उनमें स्पष्ट है क्योंकि इन दोनों खण्डों में वह अनुकृति कला के आत्मा पर होने वाले अतमुत्ती प्रभावा का विवेचन करता है।

इस विवाद के प्रथम खण्ड में प्लेटो कला के अनुकरण तत्त्व का अतिनिहित सिद्धांत प्रस्तुत करता है। उसमें अनुमात्र कला की मूल प्रकृति विषयक जो नियम हैं उस चित्रकला का उदाहरण देकर समझाता है और इसी के निष्पन्न से काव्य की मीमांसा करता है।

कला अनुकरण मात्र है—प्लेटो के अनुसार इसका भावार्थ क्या है? आधुनिक लेखक जय कला को अनुकृति के रूप में देखता है तो उसका मन में शायद यह प्रश्न ही सकता है कि क्या कलाकार अपने अनुभव की प्रतिलिपि प्रस्तुत करता है अथवा वह सृजन करता है? प्लेटो के विवेचन में और जरस्तू के अधिवाश कथन में भी इस तरह की बात नहीं मिलती। प्लेटो इस पर ध्यान ही नहीं देता कि कलाकार मौलिक रूप से कुछ सृजन कर सकता है। उसका विचार बहुत स्थूल रूप से इस ओर है कि कलाकार किसी भी दशा में यथायथ जीवन के विषयों को सही रूप में अवित नहीं कर सकता, उनके कतिपय आभास भर प्रस्तुत करता है। जो कुछ है कलाकार, उसके नमूने पर नमून बनाता है। इस दृष्टि में काव्य और चित्रकला का एक ही आधार है चाहे उसके बहूतरे लक्षण एक दूसरे से मिलकुल भिन्न हों। स्पष्टतः चित्रकार वस्तुओं का चित्रण किसी निश्चित दृष्टि बिन्दु से रंगों के माध्यम से करता है। कवि रंग के समान शब्दों का उपयोग करता है। उसके शब्द जितना वर्णन करते हैं उससे अधिक उनकी महत्त्व नहीं हो सकती। कवि और लेखक उसी मात्रा में चित्रकार किसी आंगिक दृष्टिपथ से चित्र में प्रतिफलित वस्तु रूपों का प्रस्तुत करता है।

चित्रकार तथा कवि अनुकरण के अभ्यास से किसी प्रकार का उत्पादन अथवा निर्माण करते हैं। किंतु वह किस प्रकार का है? प्लेटो के अनुमात्र निर्माण की

तीन श्रेणियाँ हैं जिनके अनुरूप तीन विशिष्ट निर्माता हैं। प्रथम वह निर्माण जो प्रकृति की परम्परा में है और जिमका निर्माता ईश्वर है। इसी कारण ईश्वर को मूलतत्त्व या प्रकृति का निर्माता कहते हैं। द्वितीय, जीवन के उपयुक्त साधारण कृत्रिम वस्तुएँ जिन्हें गिल्पी या कारीगर बनाता है, वह ईश्वर की बनायी वस्तु से मिलती-जुलती चीज बनाता है अर्थात् जिस वस्तु का निर्माण ईश्वर है उसके विशिष्ट रूप को कारीगर या गिल्पी बनाता है। तृतीय, कारीगर जो चीज बनाता है उसका आभास देनेवाली भी निर्मित वस्तु ही होती है जिसका निर्माता चित्रकार है, वह उसी तरह वस्तु का आभास निर्मित करता है जिस तरह वस्तु को दण्ड में दिखाया जा सकता है। ब्रूत आसानी से हम समझ सकते हैं कि कलात्मक उत्पादन का यह विवरण प्रामाणिक नहीं है। तथापि कलाकार द्वारा निर्मित वस्तु और दण्ड के प्रतिबिम्ब में इतना साम्य तो है कि दोनों ही वस्तु को आंशिक आकृति को अंकित करते हैं। प्लेटो की राय में कलाकार प्रकृति के सामने दण्ड रखने से अधिक कुछ नहीं करता।

जो प्रकृति की परम्परा में है — इससे प्लेटो का तात्पर्य क्या है और इसी के पर्यायार्थी वाक्यांशों का भी क्या आशय है? वह एक उदाहरण देता है जिससे हम हस्त में पड़ जाते हैं। एक मेज या पलंग की कल्पना का मतलब क्या होता है, ऐसी मेज जो सहजरूप में मेज है, उस मेज की कल्पना जो सिर्फ एक ही है उससे अधिक नहीं उस मेज की कल्पना जो सचमुच मेज है जबकि जिन्हें हम मेज कहते हैं वे मेज नहीं हैं। प्लेटो की भाषा का अर्थ समझने के लिए हम इस ढंग से अपने अभिप्राय को व्यक्त करेंगे कि दो या अधिक बिलकुल विभिन्न प्रकार की मेजाँ में से प्रत्येक आकृति मेज का रूप या मनुना है। स्पष्टतः हम यह अर्थ प्रकट करना चाहते हैं कि उन मेजों में कुछ ऐसा है जो एक सा है और इसीलिए वह एक है। वे एक वस्तु के अनेक और विभिन्न रूप हैं और इसी कारण उस एक वस्तु का नाम इन सबको मिला है। इस सच्चाई में प्लेटो जिस परिणाम का निहित देखता है वह इस प्रकार है इनमें से प्रत्येक का प्रयोजन उसके नाम के अनुकूल है परन्तु इनमें से एक भी यथायत्न अपने प्रयोजन अथवा अपने नाम के अनुकूल नहीं है। और यह बिलकुल ठीक है कि प्रयोजन की दृष्टि से अथवा नाम की दृष्टि से इनकी साधकता नहीं है। प्रत्येक मेज का अपनी अयोग्यताएँ हैं प्रत्येक का नाश होता है। इसके अतिरिक्त वह अपने अभीष्ट की सवथा पूर्ति नहीं करती कोई भुटि उसमें जब चाहे मिल सकती है और अपने प्रयोजन की सिद्धि में उसे कुछ ग्रास परिवेश आवश्यक है। मेजों की विशिष्टता का यह तात्पर्य है। वे सब

समान अभिप्राय की चीजें हैं अर्थात् उनके प्रयोजन वास्तव में समान हैं परन्तु उनमें से एक भी मज नहीं है।

इस कल्पना का भावार्थ उन वस्तुओं के मात्रा में अधिक सरलता से स्पष्ट होता है जिनके विषय में हम आदमी या पूणता का भाव रखते हैं। उदाहरणार्थ अनेक 'यायीचित' वाय है, 'वाय' के बहुतरे रूप हैं जिनमें से प्रत्येक अपने नाम या आदिवा अभिप्राय-मान है। सुखी यह है कि हम आसानी से 'शुद्ध' 'वाय' की कल्पना की समझ जाते हैं जिसे समस्त 'यायीचित' वाय सदीपरूप से व्यक्त करते हैं। इसी कल्पना का प्रयोग प्लेटो ने मेजा और पलंगों में इस ढंग से किया है कि वह कब 'ग' और हास्यास्पद लगता है। मात्रा और पर जिस मेज की बात प्लेटो करता है, वही मज का कोई अस्तित्व नहीं है। फिर भी मेज के निर्माण का सत्य है और इस प्रकार से प्रत्येक वस्तु के सत्य का अस्तित्व सादृश है। हम इस सत्य का अस्तित्व को, अथवा इस अर्थ में यथाप मज के अस्तित्व की सत्ता की आत्मा व्यवस्था का अर्थ मान सकते हैं जिसे हम अधूर ढंग से समझ पाते हैं अथवा निमित्त वस्तु है अथवा जिस मृष्टिनिपन्ता के विल में अधिष्टित मानत है। शायद प्लेटो हमारे इस प्रकार के कथन पर टीका करेगा कि बात तो एक ही है बहने के तरीके अलग अलग हैं।

मेजा का मूलस्वरूप जिसे कारीगर ने नहीं, विप्राता ने बनाया है, वास्तविक मेज जिसे कारीगर बनाता है और मेज की अनुकृति जिस कलाकार अंकित करता है—तीनों का यह भेद हम अपने ज्ञान की तुलना का अवसर देता है। वस्तु की कुशल अनुकृति के योग्य कलाकार को और उसी वस्तु के विषय में अन्वय्य व्यक्तियाँ की बराबर जान होना चाहिए। जिस मनुष्य के निमित्त शिल्पी किसी वस्तु का निर्माण करता है और जो उसका उपयोग जानता है, वही मनुष्य उस वस्तु के मूलरूप और उसकी आकृति का ठीक जानता है। पुढसवार जानता है कि घोड़े का साज या अरव सज्जा बँगी होना चाहिए। अरव सज्जा, मज, पलंग अथवा अन्य किसी वस्तु का अनुकरण करने के लिए कलाकार को जो ज्ञान आवश्यक है उससे पुढसवार का ज्ञान भिन्न है। शिल्पी को यह ज्ञान नहीं रहना क्योंकि अपनी निमित्त वस्तु का उपभोक्ता वह स्वयं नहीं है। किन्तु जो वस्तु वह बनाता है उससे विषय में उसकी एक निश्चित धारणा रहती है जिसके कारण प्रादक की परमाणा का मुनाबिक वह उस बना सकता है। जो कलाकार वस्तु का सतही समानता का निर्माण करता है उसका ज्ञान उपरोक्त ज्ञान की तुलना में लुप्त है। ऐसा ज्ञान अटकलबाजी है। प्लेटो ने इसे अध्याय में इस अथवा

ग्रीक शब्द का प्रयोग किया और वही ज्ञान के चतुर्भुजी विभाजन पर प्रकाश डाला है। इस तुलना से यह निष्कर्ष निकलता है कि कलाकार जो कुछ करता है वह पूर्वानुभव नहीं है बौरा खिलवाड़ है। यह निष्कर्ष सभी कलात्मक अथवा काव्यात्मक अनुकृतियों के लिए प्रयुक्त किया गया है। यदि हम इस अनुकरण को गम्भीर कृतित्व मानें तो हम भ्रान्ति की चपेट में आ जाते हैं।

कलाकारों और कवियों की कृति सम्बन्धी ऐसे चर्चन की साधकता दो बातों पर निर्भर रहती है। पहली, किस विनिष्ट कलाकार या कवि का विचार किया जा रहा है अपने काल के विषय में स्वयं उसकी कल्पना कसी है और किस प्रकार वह अपनी कृति को स्वरूप देता है? दूसरी बात उसके दर्शकों अथवा पाठकों की मतवृत्ति पर निर्भर है। प्लेटो का ध्यान महान् चित्रकार और कवियों की ओर है। महान्तम कवि के सम्बन्ध में भी यह इसी धारणा पर डटा रहना चाहता है कि उसकी कृति भी सर्वोच्च श्रेणी में नहीं मानी जा सकती क्योंकि यदि उसने अपनी रचना में चित्रित आचरण के समान स्वयं जीवन बिताया होता तो वह अपेक्षाकृत महान् हो सकता था। काव्यात्मक अथवा कलात्मक कृति और दूसरे प्रकार की कृतियों का तुलनात्मक विवेचन करना 'यथ' है। इतना पक्का है कि कवि तथा कलाकार विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं और महान् कवियों तथा कलाकारों में मानव जाति की बड़ी सेवा की है। किन्तु यह भी सत्य है कि उनके प्रशंसकों ने सदैव उन्हें गलत समझा। यह भी हमें याद दिला देता है कि काव्य तथा कला को जो उनका यथार्थ गुण धर्म है उससे भिन्न किसी अन्य वस्तु का आरोप उनमें किया गया है। उनकी प्रभावता के विषय में भी कुछ ऐसी मायता का प्रचार हुआ कि उनके सम्बन्ध में प्रतिकूल प्रतिक्रिया को प्रश्रय मिला जा प्लेटो की इस धारणा से प्रमाणित है कि काव्य तथा कला खिलवाड़ भर है। प्लेटो के ऐसे कथन से विदित होता है कि उन लोगों की बातें उनके मन में थी जो साहित्य के अध्ययन और उससे जीवन परिपाटी के नियम सूत्र ग्रहण करने से उसे जीवन बोध के लिए पर्याप्त मानते हैं। ऐसी धारणावाले लोग प्राकृतिक दृश्य के सुन्दर चित्राकन को देखकर प्रभावित होनेवाले लोगों के समान भ्रान्ति में हैं। केवल अबोध बालक व तुल्य अथवा अशिक्षित मस्तिष्क ही इस प्रकार प्रभावित हो सकता है। परन्तु रंग और रूप की अपेक्षा माया कहीं अधिक गूढ़ होता है। इसी कारण जब किसी रचना का गहरा प्रभाव हम अनुभव करते हैं तो इस प्रभाव के फलस्वरूप हमें भ्रम हो सकता है कि विषयवस्तु को हमने ग्रहण कर लिया है जबकि हम केवल उसके प्रतिपादन की शली से ही प्रभावित हुए थे। प्रश्न यह है कि कवि हम इस

समर के बोध में महामक कोई वस्तु प्रदान करता है अपना हम केवल अमि व्यजना तथा रूप विषय के आनन्द से अभिभूत करता है। यह उपलब्धि हमारी योग्यता पर निर्भर है कि हम कवि के कृतित्व की वित्ता ग्रहण कर सकत हैं। प्लेटो का तब यह है कि साहित्य में जीवन को जैसा अविन किया जाता है उसका स्वयं भाग भी लोग बठिनाई से ग्रहण कर पाते हैं क्योंकि वह उन व्यक्तियों की इस आत्मक धारणा से परिचित था जो मानत हैं कि काव्य का आनन्द सेना ही अपने आप में बहुत बड़ी बात है। कल्पनात्मक साहित्य की उसने जो भस्मना की है, वह उचित है यद्यपि इस साहित्य के उपयोगी प्रभाव की उसने समझने की कोशिश नहीं की। एक दृष्टिकोण यह है कि कल्पनात्मक साहित्य जीवन की समग्र यथाप्रता का बोध देने में सक्षम हो सकता है। दूसरा दृष्टिकोण प्लेटो के इस कथन में निहित है कि यह साहित्य जीवन के नितान्त सनही आभास देता है।

आगे के दो पण्डा में इसी एक प्रश्न के दो विभिन्न निरूपण मिलते हैं। जना अभी बनाया जा चुका है, कल्पनात्मक रचनाएँ केवल दिमागकी रूप की अविन करती हैं। तब आत्मा पर उनका क्या प्रभाव पड़ सकता है आत्मा क किस तरह की उससे प्रेरणा मिलती है और इस प्रेरणा का क्या परिणाम आत्मा पर होता है ?

पहले पण्ड के विषय में विचार करते हुए प्लेटो फिर चित्रकला से आरम्भ करना है अर्थात् उस अनुकृति से जिसका प्रभाव नेत्रों पर पड़ता है और इसी सुतना को वह काव्य पर घटित करता है। चित्रकला की सफलता एक छान नात्मक प्रभाव डालने में निहित है क्योंकि कुछ अद्भुत उपकरणों या तरीकों से वह हम किसी वस्तु को तीन आयामी मान लेने की प्रेरणा देती है जबकि वास्तव में वह दो आयामवादी है। अभिप्राय यह हुआ कि विवेक को ताक में रखकर ही चित्रकला प्रभावशाली बन सकती है। (प्लेटो का विवेक से आशय है वैज्ञानिक कृति से जो दृष्टियन्तित भ्रमत्राप का निवारण कर यथोचित अथ ग्रहण में सहायक होता है।) जिस प्रकार चित्रकला हमारे कल्पित दृष्टिगत छला का नाम उठाती है, उसी तरह कविता हमारे कल्पित भाव और मनोवेगा का महारा लेकर सपन होती है। चित्रकला कुछ देर तक हमारे विवेक को वस्तु में आभास मात्र से मगु करती है और कविता अपने रसाम्बादन के कारण तथ्यों की ओर से आँखें मूँदने की प्रेरणा देती है। उपाहरणाय, घोर दृश दुर्भाग्य की स्थिति निर्माण करके कविता हम ररुणाद् और बिह्वल बना देती है। यदि हम उस पर विचार करें तो हमें यह पना नहीं चलता कि जिस स्थिति से हम इतने

व्याकुल हो गये थे वह सचमुच उतनी अशुभ है या नहीं। यह भी विदित होना है कि उस विषय पर शोकात होने से किसी का हिन नहीं और प्लेटो कहता है कि मानव जीवन से सम्बन्धित कोई भी स्थिति वास्तव में गम्भीर रूप से चिन्तनीय नहीं है। ये तथ्य वैसे ही हैं जैसे नवशक्ति की परीक्षा करके उसकी माप और गणना से मिली सामग्री का हम विवेकसम्मत परिणाम चाहते हैं। चित्र देखने से जा आनन्द मिलता है वह इसीलिए है कि हम एक ही दृष्टिकोण से वस्तु के आभास में तल्लीन हो जाते हैं और विवेकसम्मत तथ्यों को पास में फटकने तक नहीं देते। कविता की भावराशि से समरस होने पर यही मनोदशा बनती है। कविता क्षणिक मनोवेग के प्रभाव से हम उत्तन्नात कर देती है। इतना ही नहीं यथाथ जीवन में जिन मनोवेगों की प्रतीति से मनुष्य लज्जित हो सकता है, आसदी तथा अथ विधाआ के प्रभाव से वह जाके बशीभूत हुआ करता है। इस विषय पर प्लेटो विशिष्ट चर्चा करता है। कविता के भाव और मनोवेग विवेकहीन विविधता में व्यक्त होने हैं और इसी प्रकार की सामग्री बहुत सरलतापूर्वक कविता का विषय हुआ करती है। इस सारी चर्चा का तात्पर्य यह हुआ कि अनुकरणारम्भ काव्य आत्मा के छत स्रोत का पोषण कर उसे सशक्त करता है उसका विवेकयुक्त भाग को नहीं।

इस परिचर्चा के अगले टाण्ड में वही मुख्य विषय है जिस पर अभी अभी प्लेटो दृष्टिपात कर चुका है अर्थात् भावनात्मक काव्य के पठन तथा श्रवण से असोभनीय मनोविकारों की प्रोत्साहन मिलता है। केवल आसदी से ही नहीं सुखा तथा दृश्य काव्य तथा सामान्यतः अथ कलात्मक विधाआ से यही प्रभाव उत्पन्न होता है। हमारे स्वभाव के बुभुक्षात्मक पक्ष को इससे प्रेरणा मिली करती है जिससे हमारा मनोवेग तत्त्व उन्मूलित होता है और विवेक को निष्क्रिय बना देता है जो इस बुभुक्षा पर अकुश रह सकता था। यदि हम अपने नगर में केवल माधुर्य का प्रभुत्व फैलाना चाहते हैं तो सुख और दुःख अथवा आनन्द और पीडा की सत्ताधिकार में हमें रखना पड़ेगा, तब सिद्धांतानुकूल शासन और सबजन हितार्थ के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। अतः आत्मसमवाय (जनमण्डल) में कविता का क्षेत्र अत्यंत सीमित रखना चाहिए। उसमें परम वध विषय—घम तथा देशभक्ति ही हो सकते हैं। इस समीक्षा में ईश्वर-ब्रह्मना तथा कौरपुरणों की यशसाया सम्बन्धी दो विषय निन्दा से अछूते रखे गये हैं।

यद्यपि प्लेटो ने नाटकीय प्रभाव को ही ध्यान में रखकर यह सारी चर्चा की है। तथापि आज के युग में उस समय के प्रभाव से मिलता जुलता रगमच नहीं

रह गया है। कल्पनात्मक साहित्य-सम्प्रदायी नये प्रश्न पर विचार करने समय हमें उपस्थापित की प्रभाव की चर्चा ही स्वाभाविक और समयानुकूल जान पड़ती है। इनमें सन्देह नहीं कि कल्पनात्मक साहित्य का प्रभाव हम पर इसीलिए पड़ता है क्योंकि हम मनोवेगा के बगैरे सहज ही रह जाते हैं। वह हमारे स्वभाव का एक ही पक्ष को प्रयत्न मढ़ता है। यह भी मन है कि जब हम कल्पनात्मक साहित्य की चर्चा में पड़ जाते हैं तो हमारे अन्तःकरण का कुछ भाग अपनी देर तक खड़ाई में पड़ जाता है। या कहिये कि उसके बगैरे होकर हम अपना दान देते हैं। अब सवाल यह है कि यह जाया हमारे अन्तःकरण का कौन-सा तत्त्व है जो कल्पनात्मक साहित्य के प्रभाव में खो जाता है। क्या वह हमारे साधारण, प्रतिक्षण के संचालित भावनात्मक अन्तःकरण से हमें बचाने का देता है? जिन मना वेगा को वह छकाता है क्या वह ऐसा है जो साधारण जीवन में प्रकट होकर हमें सज्जित कर देता है अथवा साधारण जीवन-व्यवहार में हमें उनका भान तक नहीं होता? अस्तु के रूप पर इसी प्रश्न का प्रस्तुत करें तो क्या वह हमारी कर्णा और भीति की कर्ण और भयभीत करने योग्य कोई वस्तु देता है? अथवा प्लेटो के मतानुसार क्या उससे ऐसी सम्भावनाएँ उभार पाती हैं जिन्हें यदि साधारण दिनचर्या में या किसी भी क्षण, हमारे लोभ जान ल तो हम आत्मरक्षा किए बिना न रहेगी? क्या उसके कारण हमारा केवल गुण अन्तःकरण में जाता है या यथापत उपयोगी अन्तःकरण भी ग्राह्य जाता है? ये प्रश्न वास्तविक विचारणीय विषय की ओर ध्यान खींचते हैं। कल्पनात्मक साहित्य के इन प्रमाणों में से प्रत्येक के उदाहरण आसानी से दिये जा सकते हैं। बहुतेरे लोगों को इनसे भी अधिक घातक और बुरा बहुतेरे प्रभाव के व्यक्तिगत अनुभव हुए होंगे। बहुतेरे लोगों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उपस्थापित के बगैरे सहज एक प्रकार की उत्तेजना का अनुभव होता है परन्तु जिन क्षण बातों पर हम अभिमान होता है उनके विकास में यह उत्तेजना सहायक नहीं हुआ करती फिर भी उन उपस्थानों की मनोहरता और प्रभावशीलता के विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इन प्रश्नों में प्लेटो किसी सामान्य दृष्टि से यह मत नहीं कहता। वह कल्पनात्मक साहित्य के बदल संचालित प्रभाव की समता का उल्लेख करना चाहता है। विद्वत् इतिहास में निश्चिन्त ऐसी समय आता है जब निम्नकोटि की कला लोकप्रिय हो जाती है जब कल्पनात्मक साहित्य कल्पन मरती लोकप्रियता के लिए ही लिखा जाता है जब उसका एक मिला मनुष्य-स्वभाव की कुत्सित यथार्थ प्रबलतम दुर्बलताओं को प्रेरित करना होता है क्योंकि उत्तेजना ही उसका मुख्य विषय है। प्लेटो का

यह बचन उचित है कि प्रेरणा विषय जितना विवेकगूय होगा, कलात्मक रचना उतनी ही सरल सुलभ होगी है। अगर इस बात की सावधानी नहीं रखना है कि किस तत्त्व को उत्तेजित किया जाये और किस ढंग से तो फिर यह सबसे आसान काम हो जाता है। तीसरे अध्याय में भी प्लेटो अनुकरण के परिणामों की चर्चा करता है। प्रस्तुत सादृश्य से वहाँ इस तरह अधिक सखीय अथ म प्रयुक्त करता है। वहाँ भी उसने इस आधार पर नाटक का हेय माना है कि बोरी अनुकरण वृत्ति चारित्रिक दीनता और ध्यस्तित्व के अभाव की छोटक है और इन दुबलताओं को उत्तेजित करती है। हम इसे भी निःसंग स्विकार करना चाहिए कि यदि हम उपन्यास या नाटक व विभिन्न पात्रों के चरित्र में अपनी व्यक्तिगत विवेकशीलता को होम देते हैं तो उक्त दुष्प्रभावों की रोक नहीं जा सकता। किन्तु इसी के साथ यह भी महत्वपूर्ण है कि चरित्र विवादात्मक सबसे बड़ा सहायता भी इसी साहित्य से मिलती है यहाँ हम अपने साधारण स्तर से ऊपर उठकर सभी पात्रों के चरित्रों की झंझी देखने का उस्ताह रखें। महान् कला या कृति का यही धरदान है। परन्तु सही हो या गलत किसी बजह से प्लेटो की यह निश्चित धारणा थी कि तत्कालीन अनुकृति कला साधारणजन की उत्तज्जनप्रियता को बढ़ाती थी और इस विवेकगूयता के कारण ही यह अपने गौरव को खो चुकी थी। यह कला को केवल इसी दृष्टि से निरूपित करता है। फलतः समूचे परिच्छेद में कला के विकास की कुछ प्रवृत्तियों पर आरोप मात्र ही उसकी विषयवस्तु है और सद्भाषित विवेचन का अंग स्वल्प हो गया है।

प्लेटो अपने अन्तर्से ढंग से यह बात हमारे मन में बढाना चाहता है कि प्रस्तुत विवाद को साहित्य में इतनी अवयव नैतिक तथा अन्तर्लोल या अनतिक विषयवस्तु का विवाद नहीं समझना चाहिए। उसकी दृष्टि में असली विवाद काव्य और दर्शन के सामंजस्य-स्वरूप से सम्बन्धित है। उसने कतिपय कवियों की रचनाओं से उद्धरण चुनकर और यह बतलाने का यत्न किया कि उन कवियों की दान तथा विज्ञान के विषय में क्या मायता थी। उद्घृत लगता था कि दान तथा विज्ञान मकड़ी के जाल के समान निरर्थक विचार-तन्तुओं के बुनने में लगे रहते हैं। हमारे यथाय जीवन के द्वार में जितनी बातें इन विषयों में मिलती हैं वे अशोभनीय और पाखण्ड से भरी हैं। आधुनिक युग में भी इसी तरह के विरोधी विचार काव्य तथा दर्शन के सम्बन्ध में व्यक्त किये जाने लगे हैं दर्शन तथा विज्ञान जीवन की सरसता और रहस्य से हमें वंचित कर देते हैं। इसके विपरीत प्लेटो की निगाह में इस बलह का मूलधार यह जान पड़ता है कि काव्य बहिर्जगत के सिर्फ ऊपरी

अप को ग्रहण कर पाता है और इस तरह मनुष्य की निम्नत हल्की मनोवस्तियों को हमें उद्घातता है, दान वषाव नियमा और विश्व के वास्तविक तथ्या का उद्घाटन करता है। इसलिए कोई कारण नहीं है कि कवि अपनी निराली गैली में दशननिष्ठ भावना या अनुशीलन करने में, दशनन के समान समय न तो मके। यह वषन विचारणीय है। वहमवष ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किय हैं। दशन तथा काव्य कल्पना और विज्ञान का एक साम बिन्दु अवश्य हैं। सामायत जब काव्य तथा दशन अपने प्रतिष्ठित पद से उतरकर हल्की वस्तियों की अभि व्यक्ति करने हैं, तभी उनमें परस्पर प्रहार का प्रदान होता है। समार के महान् से महान् दशनन तथा थ्येष्ठ स थ्येष्ठ कवि साधारणत आपस में वभी शत्रुभाव नहीं रखा करते। स्वय प्पटो भी महान् कवि के समान मनीषा से सम्पन्न था।

आत्मा का भावी जीवन

ऐसा जान पड़ता है कि पहले अध्याय के समान दशम अध्याय भी अधूरा छोड़ दिया गया है। अमरता विषयक आरम्भिक शब्द है 'फिर भी सद्गुण के उत्कृष्ट पुरस्कार और पारितोषिक की चर्चा तक नहीं की गयी है। परन्तु इन शब्दों से यह स्पष्ट नहीं होता कि अभी तक जो विवेचन हो चुका है उससे आने वाले विषय में प्रवेश हो रहा है। इन शब्दों से ऐसी ध्वनि निकलती है कि प्लेटो इसी पृथ्वी पर 'याय' के पारितोषिकों की बात कर रहा है परन्तु उसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है। इसके पहले भी प्लेटो ने पारितोषिकों की बात दो बार उठायी थी लेकिन यहाँ 'सका उल्लेख उचित तारतम्य में किया गया है। इस प्रकार अमरता विषयक तक से पूर्व चर्चा अथवा परवर्ती चर्चा का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं दिखायी देता। ऐसा लगता है कि 'रिपब्लिक' की समाप्ति के बारे में प्लेटो के मन में दो योजनाएँ थी।

पहले खण्ड के प्रारम्भिक भाग में प्लेटो अपनी इस मायता को व्यक्त करता है कि आत्मा अमर है और वह इस विश्वास के समर्थन में कुछ तक भी रखता है। वह आस्थापूर्वक कहता है कि आत्मा की क्षमताओं और उसके यथायुक्त भूल भाव का ज्ञान उसकी पार्थिव अवस्था में सम्भव नहीं है। इसके बाद वह इस प्रश्न का संकेत करता है कि क्या 'याय' भी प्रत्यक्ष पारितोषिक का अवसर पाता है अथवा नहीं। 'याय' विषयक चर्चा में वह बहुत पहले ही बतला चुका है कि 'याय' स्वयं सत् या ध्येय है चाहे उसके परिणाम कुछ भी हो। उसने यह भी बताया है कि वर्तमान जीवन में सभी शुभाशुभ को ध्यान में रखने के बाद भी 'याय' अपने आप पारितोषिक का अधिकारी होता है। तत्पश्चात् इस चर्चा के उपसंहार में 'ईर' की आस्थापूर्वकता के द्वारा यह आत्मा की मरणोत्तर नियति का विवेचन करता है।

यहाँ प्लेटो आत्मा की अमरता पर समाधानकारक विचार नहीं करता । 'फिथो' (Phaedo) में इस समूचे प्रश्न का प्रतिपादन किया गया है । आत्मा की अमरता का विषय केवल इस प्रयोजन के लिए है कि उसका नैतिकता पर कुछ प्रभाव पड़ता है । इसी के साथ पृथ्वी पर आत्मा की नियति को पूरी तरह चित्रित करने के लिए भी उसने आवश्यक विस्तार से अमरता-सम्बन्धी चर्चा की है । 'रिपब्लिक' की समूची चर्चा के हित में आत्मा की अमरता सम्बन्धी विषय जिस तरह उपयोगी है, उसी दृष्टि से प्लेटो इसका निरूपण करता है । आरम्भ से एक ही प्रश्न 'रिपब्लिक' में उपस्थित रहा है । आत्मा का यथाय शुभाशुभ क्या है ? पूर्ववर्ती चर्चा को ध्यान में रखकर प्लेटो का यह अनुरोध है कि आत्मा शुभाशुभ के जिस स्वरूप से प्रभावित होनी है वह नैतिक अथवा आध्यात्मिक ही होता है । उसका विश्वास है कि नैतिक अथवा आध्यात्मिक अशुभ के कारण साधारण अथ म आत्मा का निचन नहीं होता । इसीलिए उसका तर्क है कि मृत्यु के साधारण अथ म आत्मा अमर है क्योंकि मृत्यु स्वयं अशुभ का स्वरूप है जो केवल शरीर का प्रभावित करती है ।

किंतु यह कह चुकने के बाद कि आत्मा तत्त्वतः शरीरात् के साथ मरती नहीं है, प्लेटो अपने इस वक्तव्य को सशोधित कर देता है । आत्मा की अमरता उसकी यथाय प्रकृति का गुण है और इस पृथ्वी पर हम आत्मा की यह वास्तविक प्रकृति कभी अपने नहीं मिल सकती । शरीर के संयोग से ही आत्मा का अस्तित्व पृथ्वी पर है । इसलिए वह संयुक्त वस्तु बन जाती है और संयोग हान के कारण ही वह पूर्ण नहीं रहती । परिणाम यह है कि नाना प्रकार की आंतरिक व्यग्रताएँ और विघ्नगतियाँ आत्मा के भौतिक आभास को प्रभावित करती हैं । आत्मा की परमावस्था सामंजस्य और पूर्ण समन्वय की दशा है जो पार्थिव जीवन की परिस्थितियों में अलभ्य है । इस प्रकार आत्मा का जो स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है वह उसके मूलभाव को सचचा धूमिल कर देता है । यह लगभग यथा ही होता है जैसा पुराणकथा के समुद्रदेह ग्लान्त के मनुष्यदेह धारण करने पर अम्बाभाविक वृद्धि के कारण उसका स्वरूप दुर्नय हो गया था । यदि हम सचमुच आत्मा के अमर अथवा भाव को देखना चाहते हैं तो हम उसके दशनतत्त्व पर ध्यान लगाना होगा । अगर आत्मा दशनवृत्ति का पूरी तरह अनुशीलन कर सके जिससे वह भवसागर के पार जाने में समर्थ होगी और जिससे उसका यथाय स्वभाव अपने आप आविर्भूत हो जायगा तो हम उसके सदृश भी कल्पना करने में सफल हो सकते हैं । अस्तु की धारणा भी यही है कि आत्मा

की अमरता सत्त्वत्व में निवास करती है और मानवी प्रजा की कल्पनात्मक सामर्थ्य उसका आभास पाने में सक्षम है। अरस्तू तथा प्लेटो का विश्वास है कि आत्मा की अथवा विवकशक्ति की मूलवृत्ति ही उसका वास्तविक मानवी तत्त्व है और यही विश्वात्मा के साथ समरस होती है। आत्मा की पार्थिव अवस्था का वर्णन आलंकारिक ढंग से किया गया है जिसमें कहा है कि वह विश्व—समुद्र में डूबा है वह नाना घात प्रतिघातों से आक्रांत है उसके चारों ओर अप्राकृतिक वस्तुसंसार का असाधारण बाहुल्य है। किंतु इस वर्णन को अथहीन आलंकारिक शक्ती नहीं समझना चाहिए। फिडो (Phaedo) में इसी विचार का विस्तार मिलता है। उसके अनुसार पृथ्वी पर हमारी दशा वास्तव में घनघोर दलदली भूमि के गर्भ में या अतल गर्भ में पड़े व्यक्तियों के समान है। यदि हम उनमें निक्ल कर ऊंचाई की ओर बढ़ने का यत्न करें तो हम ऐसे प्रदेश में पहुँचेंगे जहाँ प्रत्येक वस्तु धुँधिल होगी और जहाँ हमारी दृष्टि अधिन विमल हो जायेगी। प्लेटो तथा अरस्तू की मान्यता है कि पृथ्वी पर आत्मा का जीवन नाना प्रकार के बाधन और बाधाओं से आक्रांत हो जाता है। दोनों समझते हैं कि नक्षत्रादि अधिक सुंदर सामग्री से बने हुए हैं और वहाँ जिस आत्मा का निवास है वह अपेक्षाकृत सूक्ष्म है। आत्मा के सम्बन्ध में उनकी धारणा विश्व की भौतिक रचना का सिद्धांत से मेल खाती है।

आत्मा के देहधारी होने पर उसमें चाहे जितने रूपविकार हो जायें परन्तु तत्त्वतः वह अमर है। 'रिपब्लिक' में आत्मा के मानव जीवन धारण करने के पलस्वरूप जो रागात्मक उपाधियाँ तथा रूप उसे विकारी बनाते हैं, उसका विणव विवेचन किया गया है। उसमें आत्मा की उत्कृष्टशील आकांक्षाएँ, उसकी निम्नतम दुर्वासनाएँ और इन दो छोरों के बीच जीवन के अनगिनती रूपों का विवरण दिया गया है। आत्मा की इस पार्थिव यात्रा के पश्चात् उचित ही है कि प्लेटो 'रिपब्लिक' के उपसंहार में आत्मा की मरणोपरांत प्रत्याधा का उल्लेख करना चाहे। परन्तु इससे पहले प्लेटो द्वितीय अध्याय के प्रारम्भिक तब में छोड़े गये प्रश्न को फिर उठाता है जो न्याय के पारितोषिक से सम्बद्ध है। सुकरात से यह प्रमाणित करने का अनुरोध किया गया है कि आत्मा की मूलवृत्ति 'यायभावना' है चाहे इस लोक या परलोक में इस 'यायनिष्ठा' से कोई पार्थिव लाभ मिले अथवा न मिले। विवाद के इस छोर तक पहुँचने पर यह स्वीकार कर लिया गया है कि सुकरात इस धारणा को सप्रमाण सिद्ध कर चुका है। अब उसे 'यायभावना' के कारण जो पार्थिव लाभ हो सकते हैं उनकी चर्चा करना शेष रह गया है। प्लेटो

ने समूचे सम्वाद में इसी विचार का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य का 'गुमा' गुम हो आत्मा का शुभा'गुम है अपनी इस दृढ़निष्ठा से वह विमुख नहीं होता जसा कुछ लोग कभी-कभी समझते हैं। यही कारण है कि अपनी विवेचना में वह 'याय' निष्ठ मनुष्य को ससार के भरपूर लाभ देने की चेष्टा करता है। सबसे पहले वह बतलाता है कि यदि हम ईश्वरीय स्वभाव के नैतिकतत्त्व को स्वीकार करते हैं तो हम यह विश्वास करना चाहिये कि 'याय'निष्ठ मनुष्य ईश्वर का कृपापात्र होगा। फिर चाहे जितने ब्रष्ट बलेश आते रहें, परमात्मा ऐसे सदाचारी के योग्य क्षेम की ओर सदैव जागृत रहता है। सदाचारी के जीवन में समस्त वस्तुजगत् अनुकूल और शुभ फलदायी होता है। यह ठीक है कि उसे सचित कम के कुछ अ'गुम परिणाम अनिवार्यतः भोगना पड़ेंगे। जहाँ तक 'याय'निष्ठ पुरुषों के साथ आया में व्यक्तियाँ का सम्बन्ध है, उसे हम प्रेमीमेवम की धारणा के विपरीत पाते हैं। अनुभव साक्षी है कि सात्त्विकता या ईमानदारी ही समुचित नीति है। प्रेमीमेवम कतिपय साधारण जात मान तथ्या की दृष्टि देता है, मुकराते कुछ दूसरे ऐसे ही तथ्यों का आश्रय लेता है। किन्तु प्लेटो का निष्पक्ष है कि मनुष्य का यथार्थ हित 'याय'भावना है जिसे उसने पाश्चिमात्यों के विवरण पर आधृत नहीं माना। उसका अटल विश्वास है कि 'याय' स्वयं शुभ है और भौतिक परिणामों से वह अछूता है। इसीलिए 'याय' आत्मा का स्वस्थ जीवन के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है।

इसके पश्चात् मरणोत्तर काल में आत्मा की गति का वर्णन पुराणकथा के रूप में किया गया है। इसका ध्येय इस बात पर ध्यान देना है कि पृथ्वी पर आत्मा जितने कम करती है, उससे भविष्य पर उनका प्रभाव पड़ता है। आत्मा का अतीत तथा भविष्य के विषय में जितनी बातें प्लेटो कहता है, उन्हें उसने पौराणिक और काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। परन्तु इन सब में अन्तर्निहित एक ही विचारमूख है कि आत्मा, अस्तित्व की नित्यता के अर्थ में अमर है और इसी कारण मनुष्य मात्र का नैतिक दायित्व बहुत बढ़ जाता है। इस समूच परिच्छेद की कुंजी रिपब्लिक के अन्तिम वाक्या में है। पृथ्वी पर जीवनधारण करने का एकमात्र प्रयोजन यह है कि कबल इहलौकिक जीवन के लिए ही नहीं अपितु पारलौकिक जीवन की दृष्टि से भी प्रत्येक मनुष्य को शुभतर, सुचितर और त्रिपुणतर आचरण का अभ्यास निरन्तर करना चाहिए। हमें इतना प्रवीण होना चाहिए कि जब जीवन का कोई अन्य रूप धारण करने की पड़ी आये तब

हम चूम न जाय । ज्ञानाजन और अनुभूति की उपरान्ति की महान् प्रक्रिया ही पार्थिव जीवन का प्रयोजन है ।

इस प्रसंग में ईर की कान्ती का उपयोग किया गया है । आर्मेनियावासी ईर किसी लड़ाई में मारा गया था । बारह दिना बाद उस फिर जीवन-दान मिला । नया ईर ने देखा कि मृत्यु के अनन्तर आत्मा उस स्थान की ओर चल पड़ी जहाँ उसका भाग्य निणय होनेवाला है । वहाँ ईर ने देखा कि आकाश की दाहिनी ओर एक द्वार खुला और वायनिष्ठ आत्माएँ उसमें प्रवेश करके सहस्रवर्षीय सुखी जीवन बिताते लगीं । अयायी आत्माओं का उमन वायी ओर भूमि में प्रवेश करते दगा जहाँ उन्हें एक हजार वर्ष तक दण्ड भागना पड़ेगा । उसी स्थान पर ईर ने आत्माओं के झुण्ड पर झुण्ड आने जाते दये । कुछ आत्माएँ आकाश के दूसरे द्वार से स्वर्ग में कुछ कालपापन के पश्चात् वापस आ रही थीं और कुछ पृथ्वी के तलभाग में थोड़ा समय बिताकर ऊपर की ओर प्रयाण कर रही थीं । स्वर्ग का आनन्द अथवा पीडा भोगकर प्रत्येक आत्मा जब लौटती है तो उस एक सुन्दर उपवन में सप्ताहभर विश्राम करने लिया जाता है । अनन्तर उसे अवसर दिया जाता है कि पृथ्वी पर अपने आगामी जीवन रूप का चरण करे । अयायी आत्मा का मृत्यु के समय जो साधारण दण्ड लिया जाता है वह पृथ्वी पर उसके दुष्टम का दसगुना होता है । इसी प्रकार वायनिष्ठ आत्माएँ अपने सत्कर्म के दसगुने फल का सुख भोगती हैं । इनके अलावा दण्ड के दूसरे प्रकार भी हैं । अत्यायु आत्माओं के साथ जलग प्रकार का व्यवहार किया जाता है । जिन आत्माओं के दुराचरण चरम कोटि के होते हैं उन्हें हजार वर्ष की सजा काफी न होने के कारण फिर दण्ड श्रेष्ठ में भेज दिया जाता है । कुछ असाध्य पापात्माएँ चिरकाल तक दण्डभोग के लिए टारटरम नामक दारुण यानना के नरक में रखी जाती हैं । गार्जियस (Gorgias) में बताया गया है कि इन पापात्माओं का नमून के तौर पर रखा जाता है ताकि दूसरी आत्माएँ भीषण दुष्टम में प्रवृत्त न हो । असाध्य पापात्माओं को छोड़कर शेष सभी को पाप मोचन किया का दण्ड दिया जाता है ताकि वे दण्डावधि के उपरांत अधिक ज्ञानी होकर पृथ्वी पर फिर लौट सकें । कभी कभी स्वर्गिक आनन्द का उनका परिणाम हाता है क्योंकि कतिपय आत्माएँ इस सुख भोग के बाद पुनः म की जो कामना करती हैं वह साधारण ढंग में उन्हें मिलनेवाले जीवन रूप से घटिया हुआ करती है । यदि सत्कर्म के पुरस्कार का उपभोग करने के बाद आत्मा बुद्धिमानी से नये जीवनरूप की कामना करता है, तो प्रत्येक आगामी जीवन में वह उत्तरोत्तर सदा चारी बनती जाती है और इस प्रकार स्वर्ग में प्रत्येक बार आनन्दोपभोग करती

इस कल्पनाप्रभूत चित्र में प्लेटो पाइथागोरस के उस अभिप्राय का समावेश कर देता है जिसके अनुसार ग्रह नक्षत्रों के परिभ्रमण से एक प्रकार का संगीत प्रसृष्टित हुआ करता है। पृथ्वी से इन आकाश पिण्डों की विभिन्न दूरियाँ की मर्यादा बाधनेवाले नियम या सिद्धांत साजनों के तिलसिल में पाइथागोरस को यह बात सूची थी। उसका कुछ अनुयायियों की कल्पना थी कि इन दूरियों को क्रमबद्ध किया जा सकता है और दूरियों के मध्यान्तर में गूँजनेवाली ध्वनियों को स्वरलय में बाँधा जा सकता है। नैसर्गिक संगीत की कल्पना का मूलस्रोत यही है। प्लेटो के काल्पनिक चित्र में 'न्यूयमण्डला' के प्रत्येक तट पर एक सुमधुर गायिका बठी रहती है (सायरिन एक अप्सरा मानी जाती थी जो समुद्री यात्रियों के भटकने पर अपने संगीत से उन्हें किनारे का बोध कराती थी) और उसकी परिभ्रमा के वेग में घूमा करती है। प्रत्येक गायिका एक विशेष गान—स्वर अलापती है और उनके आठ स्वरों से स्वरपाम अथवा सरगम बनता है। तीनों भाग्यदेवियाँ इस नैसर्गिक संगीत में आलाप भरती हैं लेकेसिस अतीत की बनायी वस्तुमान को और एटोपोज भविष्य की तान छेड़ती है।

आत्माओं के इतिहास में नवीन जीवन की कामना का रूप निश्चित करना उनके लिए घोर संकट की घड़ी होती है। प्लेटो ने उनके वरण विषयक वणन में स्वतंत्र कामना और आवश्यकता पर अपनी सम्मति व्यक्त की है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन में आवश्यकता का तत्त्व सक्रिय रहता है जबवा उसे अवसर भी कहा जा सकता है। इसी तरह वरणेच्छा भी रहा करती है। इस विचार का प्रयोग करके उन कारणों का पता लगाया जा सकता है जो मनुष्य के जन्म की स्थितियों को निश्चित करते हैं। पहली बात यह है कि आत्माओं के वरणक्रम को साटरी ढंग पर तय किया जाता है। दूसरी बात यह है कि कोई आत्मा चाहे कितनी देर बाद अपना वरण निगम करे उसे वरण का अवसर मिलता है और भाग्यदेवियों की आर से उसका वरण की स्वीकृति घोषित की जाती है। सबसे अंत में धुनने वाली आत्मा को भी सुविधापूर्ण जीवनयापन का अवसर दिया जाता है लेकिन तब यह है कि वह बुद्धिमानी से वरण कर और उसके बाद जन्म पाकर मनोयोगपूर्वक सदाचरण का ध्यान रखे। तीसरी बात यह है कि जीवन रूप का वरण कर लेने पर आत्मा अपनी नियति को भी निश्चित करती है। व्यवहार की दृष्टि से मनुष्य की स्वेच्छा ही उसकी नियति है जिसका आशय यह होता है कि वह अपने निगम को कभी पलट नहीं सकता। एक बार जो कुछ उसने चाहा और उसके जो परिणाम हैं वे उसे अनिवार्यतः भाग्य हैं। जीवन में परिस्थितियाँ वरण-तथ्य और वरण की अटलता तीन महत्वपूर्ण तत्त्व हैं।

जीवन की वरण क्रिया में अनेक आत्माएँ पशु से मनुष्य बन जाती हैं और कितने मनुष्य पशु यानि में चले जाते हैं। जमा पूँव चर्चा में कहा जा चुका है, प्लेटो पशु तथा मनुष्य जीवन में एक सारतम्य की कल्पना में विश्वास करता है। निमोदह प्लेटो का अत्यन्त विश्वास इसमें भी था कि अस्तित्व के एक स्वरूप में मनुष्य का आचरण उसके भावी जीवन की नियति पर प्रभाव डालता है। यही विचार ईर की पुराणकथा में और आत्मा के नवीन जीवनरूप की वरण में व्यक्त हुआ है जहाँ पूर्ववर्ती जीवन का आचरण भविष्य जीवन के स्वरूप का निर्णायक बनाया गया है।